श्री रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रंथमाला—५

विश्व-साहित्य में

रामचरितमानस

पहला भाग

श्री राजबहादुर लमगोड़ा, एम० ए०, एल-एल० बी०

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

प्रथम संस्करण }
१००० }

२००० वि०

{ मूल्य १॥)

प्रकाशक

प्रधान-मंत्री

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

मुद्रक

विश्वनाथप्रसाद

ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी

समर्पण

जो न होत जग जनम भरत को। सकल धर्म धुर धरनि धरत को ॥

...

परिजन पुरजन प्रजा बुलाए। समाधान करि सुबस बसाए ॥

...

अवधराज सुरराज सिहाहीं। दसरथ धन लखि धनद लजाहीं ॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥
विश्व-भरन-पोषन कर जोई। नाम भरत अस काहे न होई ॥

श्री राजा राम जानकी रानी के दरबार के युवराज, विश्व-भरण-पोषण कर्त्ता,
धर्म्मधुर धर्त्ता, त्यागमूर्ति श्री भरतजी के चरण-कमलों में
श्री गुरुदेव श्री अंजनिनंदनशरणजी महाराज,
'मानस-पीयूष' और 'विनय-पीयूष' धारा के
प्रवाहकर्त्ता के हस्त-कमलों द्वारा
सादर समर्पित ।

श्री अयोध्याजी
कार्तिक पूर्णिमा,
सं० २०००

राजारामशरण
(राजबहादुर लमगोड़ा, ऐडवोकेट,
फाटक महासुखराय, फतेहपुर ।)

परिचय

कुँवर रामविलास जी पोदार नवलगढ़ तथा बंबई के लब्ध-प्रतिष्ठ व्यापारी सेठ आनंदीलालजी पोदार के कनिष्ठतम पुत्र थे। उनका जन्म ३ सितंबर सन् १९१३ को बंबई नगर में हुआ था। 'प्रसाद चिह्नानि पुरः फलानि' के अनुसार उनकी गुण-गरिमा बाल्यकाल से ही प्रगट होने लग गई थी।

मैट्रिक्युलेशन पास करने के बाद से ही रामविलासजी ने व्यापार की ओर ध्यान देना आरंभ कर दिया था और बी० ए० पास करने के बाद तो आनंदीलाल पोदार एण्ड कं० की सँभाल और देख-रेख का अधिकांश कार्य-भार उनपर आ पड़ा। अपने अल्पकालीन व्यापारिक जीवन में ही उन्होंने बहुत अधिक सफलता प्राप्त कर दिखाई और न केवल कोठी के प्रत्येक विभाग की ही उन्नति की अपितु अनेक नवीन विभाग भी स्थापित किए।

व्यापारोन्नति से अधिक महत्त्वपूर्ण उनकी समाज-सेवा तथा देश-भक्ति थी। अध्ययन-काल में भी वे असहाय छात्रों की प्रत्येक प्रकार से सहायता किया करते थे। मारवाड़ी युवकों की उन्नति के लिये उन्होंने 'मारवाड़ी स्पोर्टिंग क्लब' की स्थापना की। बंबई के प्रसिद्ध 'मेरी मेकर्स क्लब' के भी वे संरक्षक तथा संस्थापकों में से थे।

शिक्षा-संस्थाओं से रामविलासजी को विशेष प्रेम था। 'सेंट जेवियर्स कालेज' के गुजराती इंस्टिट्यूट की स्थापना में उनका प्रमुख हाथ था। 'मारवाड़ी विद्यालय' तथा 'सीताराम पोदार बालिका विद्यालय' के

प्रत्येक समारोह में वे बड़े उत्साह से भाग लेते थे। अपने पिता द्वारा स्थापित और संरक्षित संस्थाओं की सुव्यवस्था का उन्हें सदैव ध्यान रहता था। विशेषतः नवलगढ़ के 'सेठ जी० बी० पोद्दार हाई स्कूल' और सांताक्रूज स्थित 'सेठ आनंदीलाल पोद्दार हाई स्कूल' का तो प्रबंध भार बहुत कुछ उन्हीं पर था और उनकी देख रेख में इन संस्थाओं ने उल्लेखनीय उन्नति की। अल्पवयस्क होते हुए भी रामविलासजी आधुनिक युग के उन्नत विचारों से भली-भाँति परिचित हो गये थे। उनके विचार पूर्णतया राष्ट्रीय थे; कांग्रेस के प्रति उनकी श्रद्धा असीम थी और देश के महान् आंदोलनों में उन्होंने बड़े नाज़ुक मौकों पर सहायता दी थी।

सबसे बड़ी बात उनमें यह थी कि वे कभी अर्थ-मदांध नहीं हुए। उनके संपर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को उनकी सहानुभूति, उदारता और स्वार्थत्याग का सदैव स्मरण रहेगा। उनका सादा गार्हस्थ्य जीवन, कर्त्तव्यशीलता और निष्कपट व्यवहार अनुकरणीय था। यदि वे जीवित रहते तो निःसंदेह समाज और देश की उनके द्वारा बहुत सेवा होती। पर शोक है कि ६ जुलाई सन् १९३६ को कराल काल ने अकस्मात् मोटर दुर्घटना के बहाने इस युवक-रत्न को केवल २३ वर्ष की अवस्था में अपना ग्रास बना लिया।

ऐसे होनहार युवक के अकाल देहावसान से उसके कुटुंबी-वर्ग, मित्रों तथा उसके संपर्क में आनेवाले अन्य व्यक्तियों को कितना शोक हुआ, यह शब्दों द्वारा प्रगट नहीं किया जा सकता। सब ने मिलकर उसके स्मृति-रक्षार्थ 'श्री रामविलास पोद्दार स्मारक समिति' की स्थापना की। इस समिति ने मित्रों तथा प्रेमियों के विशेष आग्रह के कारण रामविलासजी की जीवनी तथा स्मृतियों का संग्रह प्रकाशित करने का निश्चय किया और देश तथा विदेश के उच्च कोटि के साहित्य को हिंदी भाषा में प्रकाशित करने के उद्देश्य से 'श्री रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रंथ-

माला' की व्यवस्था की। इस माला में चार सौरभपूर्ण पुष्प गुंफित करने के अनंतर संवत् १९९८ से समिति ने यह कार्य काशी नागरी-प्रचारिणी सभा को सौंप दिया। समिति की इच्छा के अनुसार राष्ट्र-भारती की अर्चना के लिये सुंदर सुरभित सुमनों के संचय का जो दायित्व सभा ने लिया है उसकी पूर्ति में आशा है उसे विद्वद्वर्ग का सहयोग सुलभ होगा और यह मालिका दिवंगतात्मा की गौरव-गरिमा के अनुरूप प्रस्तुत करने में उसे सफलता मिलेगी।

विषय-सूची

आचार्य वर श्री पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का आशीर्वाद

दौलतपुर (रायबरेली)
१३-४-३७

श्रीमत्सु सादरं निवेदनमिदम्

'कल्याण' में आपका लेख---रामायण में करुण रस---पढ़कर मेरा हृदय द्रवित हो उठा। मैं कई जगह रोया। आप रामायण के परमोत्कृष्ट पारखी हैं, अतः धन्य हैं। तुलसीकृत रामायण और श्रीमद्भागवत ही मेरे जीवनाधार ग्रंथ हैं। आप संस्कृत समझते हों तो भागवत में प्रह्लाद-स्तुति और गोपी-गीत पढ़िए। गोपियाँ कहती हैं—

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृत-पूरकेण
हासावलोक-कलगीत-हृदिच्छयाग्निम्
नोचेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्त-देहाः
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते

आप का प्रेमी
(ह०) म० प्र० द्विवेदी

[उपर्युक्त पोस्टकार्ड उदार हृदय आचार्यजी ने 'हैमलेट' की तुलनावाली व्याख्या के प्रकाशन पर भेजा था। उनके विशाल एवं प्रेमपूर्ण हृदय के उद्गार ने ही आशीर्वाद-रूप धारण किया है। यदि भगवान् उसके किसी अंश का भी अधिकारी मुझे बनाएँ तो मैं अपने को धन्य मानूँगा। उसी प्रेमोद्गार का एक नमूना उपर्युक्त संस्कृत पद है। मैं तो संस्कृत

बिलकुल नहीं जानता परंतु जब अभी हाल में मेरे एक मित्र ने उसका अर्थ बताया तो मेरी कृतज्ञता की सीमा न रही। मैं अपना सौभग्य समझता हूँ कि अप्रेल १९३८ ई० की ईस्टर की छुट्टी में मैं अपने सहकारी मित्र श्री इकबाल वर्मा 'सेहर' के साथ वह साहित्यिक तीर्थ-यात्रा कर सका था जिसके द्वारा हम आचार्य देव के मंदिर में पहुँच उनकी पूजा कर सके। इस तीर्थ-यात्रा का वर्णन मैंने अपने 'सरस्वती' में प्रकाशित लेख में किया। मुझे हर्ष है कि वह लेख आचार्यजी के जीवन-काल में छप सका जिसे पढ़कर उन्होंने अपने ७ जुलाई '३८ वाले पोस्टकार्ड में लिखा—"तीर्थ यात्रा आप ने खूब लिखी। इस उजड्ड मौजे को आप ने तीर्थ और मुझ नाचीज को देवता बना दिया। उदारता और सज्जनता हो तो ऐसी हो……"]

निम्नलिखित अर्थ को समझने पर मुझे तो प्रेमौदार्य की असीमता का ही अनुभव हुआ। उस कृतज्ञता के प्रकटीकरण के हेतु मेरे नेत्रों में केवल दो अश्रु-विंदु हैं और आचार्यजी की मानसिक मूर्ति के चरणों पर मेरा मस्तक। अर्थः—

"आप अपने अधरामृत प्रवाह तथा अपनी मंद मुस्कान और मनोहारिणी अवलोकनि एवं कोमल गान से हमारी हार्दिक इच्छावाली अग्नि को सींचिए। यदि आप ऐसा न करेंगे तो हे प्रियतम! हम सब विरहाग्नि से अपने शरीरों को भस्म करते और आपके ध्यान द्वारा आपके चरणों को स्मरण करते हुए उन्हीं चरण कमलों में आ मिलेंगी।"

प्रस्तावना में और शेष ही क्या रहा, सिवा इसके कि मैं अपने सहकारी मित्र सेहरजी को धन्यवाद दूँ। कारण, भाषा के गुणों का श्रेय उन्हें है और विचारों की त्रुटियों का दोष मेरा।

फतेहपुर रविवार ११ बजे रात ता० १९-१-४१	राजबहादुर लमगोड़ा (उपनाम—राजाराम शरण)

विश्व-साहित्य में रामचरितमानस

महात्मा गांधी का कहना है कि उन्हें किसी अन्य वस्तु से उतना उत्साह नहीं होता जितना गीता तथा रामचरितमानस के गान से। मिस मेयो ने जब अपनी 'मदर इंडिया' नामक पुस्तक में भारतीय जनता पर यह आक्षेप किया कि वह साहित्यिक एवं नाटकीय कलाओं से अनभिज्ञ है तो इगलैंड की एक यूनीवर्सिटी के एक अँगरेज प्रोफेसर ने इस अनुचित कटाक्ष का उत्तर देते हुए बड़े जोर के साथ लिखा कि रामचरितमानस एक अनुपम नैतिक पुस्तक है जिसके नाटकीय दृश्य उत्तरी भारत के गाँव गाँव में जाड़ों के समय इस उत्साह से अभिनीत होते हैं जिसकी कोई हद नहीं। स्व० लाला लाजपतराय ने भी अपनी 'अनहैपी इंडिया' नामक पुस्तक में उन प्रोफेसर महोदय के उपर्युक्त लेख का पूरा अवतरण दिया है। अर्नेस्ट उड महोदय ने भी मिस मेयो को उत्तर देते हुए अपनी 'इंग्लिशमैन डिफेंड्स मदर इंडिया' नामक पुस्तक में रामचरितमानस की बड़ी प्रशंसा की है और साफ लिख दिया है कि तुलना में यह पुस्तक लैटिन और यूनानी भाषा के सर्वमान्य ग्रंथों से भी बढ़कर ठहरती है। स्व० सर ज्यॉर्ज ग्रिअर्सन महोदय की गणना तो तुलसीदासजी के उपासकों में की ही जाती है। उन्होंने एक जगह लिखा है कि मेरे लिये तो तुलसीदास पूर्वी प्रदेशों में एक विशेष कवि हैं और दूसरी जगह उन्होंने तुलसीदास को एशिया के आधे दर्जन बड़े लेखकों में माना है। विंसेंट स्मिथ जैसा ऐतिहासिक तुलसीदास को अपने समय का सबसे बड़ा आदमी मानते हुए साफ लिखता है कि उनकी महानता सम्राट अकबर से भी अधिक है। लाला हरदयाल

जैसे राष्ट्रीय लेखक ने भी 'प्रभा' (कानपुर) में प्रकाशित अपने एक लेख में लिखा था कि यदि मुझसे पूछा जाय कि प्राचीन हिंदी साहित्य में कौनसी पुस्तक 'राष्ट्रीय' बनाए जाने योग्य है तो मैं बेधड़क कहूँगा कि वह पुस्तक रामचरितमानस है, जिसमें राष्ट्र एवं देश-संगठन के सारे मूलमंत्र मौजूद हैं। बंगाल के सुप्रसिद्ध कलाकार श्री अवनींद्रनाथ ठाकुर का कथन है कि इसी पुस्तक ने समूचे भारत को स्वरदान दिया है। इसलामी लेखकों ने भी तुलसीदासजी की कम प्रशंसा नहीं की। खानखाना का यह दोहा तो प्रसिद्ध ही है—

सुरतिय नरतिय नागतिय सब चाहत अस होइ।
गोद लिएँ हुलसी फिरैं तुलसी-सो सुत होइ॥

'मामुकीमाँ' नामक फारसी पुस्तक का रचयिता कवि 'विसाली' तो रामचरितमानस की कथा सुनकर 'शाहजादये अवध' की सुंदरता का उपासक ही बन गया था। 'मामुकीमाँ' अयोध्या में ही गाई गई थी, जिसका यह पद कवि के समस्त भावों को प्रकट करता है—

मामुकीमाने-कूए-दिलदारेम, रुख ब दुनिया व दीन मी आरेम।

'हम अपने प्रेमिक की गली में रहते हैं और संसार एवं धर्म से विमुख हैं।'

मैं अपनी विचारपरिधि को केवल साहित्यिक सीमा तक परिमित रक्खूँगा और यह दिखाने की चेष्टा करूँगा कि तुलसीदासजी का ऋण समूचे साहित्य-संसार पर है, जिसमें पूर्व-पश्चिम संबंधी संकुचित विभाग की गुंजाइश ही नहीं है।

अब मैं लेख का मुख्य भाग आरंभ करने जा रहा हूँ, अतः अपना कर्तव्य समझता हूँ कि अपने श्रद्धेय आचार्य मौलवी नयाजमुहम्मद को

मन ही मन प्रणाम करूँ। उन्हें रामचरितमानस को कुरान के साथ ही पढ़ते देखकर और उनका उपदेश सुनकर ही (१८९९–१९०० ई० में मँडियाहूँ, जि० जौनपुर के तहसीली स्कूल में) मुझमें मानस के महत्व की भावनाएँ जागृत हुई थीं।

बीसवीं शताब्दी का साहित्यिक प्रश्न

वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ से विश्व-साहित्य-मंडल के मस्तिष्क में यह प्रश्न बड़े जोरों से घूम रहा है कि साहित्य संसार में मानवी विचारों के प्रकटीकरण का मुख्य साधन क्या होना चाहिए। नाटक का ढाँचा इतना संकुचित समझा जाता है कि उसमें चरित्रविकास के प्रत्येक अंग का निर्वाह असंभव है। कथा का भी बहुत-सा अंश किसी न किसी चरित्र द्वारा कृत्रिमतया कहलाना पड़ता है। 'स्वगत' वार्ता आदि की योजनाएँ भी कृत्रिम ही हैं, पर उनके बिना सूक्ष्म आध्यात्मिक एवं नैतिक समस्याओं पर प्रकाश भी कैसे पड़े? कविवर शेक्सपियर ने कवि के व्यक्तित्व को नाटक से बिल्कुल हटाकर उसे भूलभुलैया ही बना दिया, यहाँ तक कि ब्रैडले और मिलर को भी कहीं कहीं यह लिखना पड़ा है कि उसके दुःखांत नाटकों के अंधकार में बहुधा हमें राह नहीं सूझती। बेचारी महाकाव्य-कला तो भौतिक विज्ञान की ठोकर से उन्नीसवीं शताब्दी में ही चकनाचूर हो चुकी थी। इसीलिये टेनीसन की उड़ान 'आइडिल्स आव दी किंग' पुस्तक में उस समय के गुब्बारों की उड़ान से ऊँची न जा सकी। आर्थर जैसे आधिदैविक व्यक्ति के लिये वह इससे अधिक न लिख सका कि 'वह एक बड़ी गहराई से दूसरी बड़ी गहराईमें जाता है'।

इन्हीं सब कठिनाइयों के कारण तथा सार्वजनिक शक्ति बढ़ने के कारण उपन्यास की परंपरा चल पड़ी, परंतु यह कला सहज थी और कहानी कहने-सुनने का चाव इतना बढ़ा कि उपन्यासों की बाढ़-सी

आ गई अतः बहुतायत के कारण भले और बुरे में जाँच करना कठिन हो गया। ऋषियों ने मन का स्वभाव चंचलता बताया था और सारी शिक्षा का आदर्श यह रक्खा था कि उस चंचलता को दूर किया जाय, पर उपन्यासों ने तो मन को और भी चकरगिन्नी खिला दिया। हाँ, मेरी कोरेली, विक्टर ह्यूगो, काउंट टालसटाय और हमारे प्रेमचंद जैसे सामाजिक मनस्तत्व में दक्ष औपन्यासिकों ने सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रश्नों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है और कहीं कहीं उनकी उड़ान आधिदैविक एवं आध्यात्मिक प्रश्नों तक भी पहुँच गई है। परंतु है यह सब समुद्र में मात्र दो चार छोटी नौकाओं का सहारा सा ही। बर्नार्ड शा ने अपने नाटकों में कुछ आधिदैविक तथा आध्यात्मिक दृश्य भी रक्खे हैं और कवि की आलोचनाएँ भी; परंतु उसके वैसे दृश्य मस्तिष्कीय हैं एवं आलोचनाएँ गद्यात्मक और रूक्ष। कहीं कहीं तो यदि कोई पात्र एक दो पद कहता है, तो आलोचक पृष्ठ के पृष्ठ रँग डालता है। यही हाल बहुधा सभी सामाजिक मनस्तत्वविद् उपन्यासकारों का है। पंडित अमरनाथ झा ने अपने एक अँगरेजी लेख में ठीक ही लिखा है कि कहीं कहीं एक बटलोही के उफान पर पृष्ठ के पृष्ठ रँग दिए-जाते हैं।

अब विचारणीय यह है कि जो आदर्श तुलसीदासजी ने अपने 'रामचरितमानस' के लिये रक्खा है वह इन जटिल समस्याओं का कहाँ तक समाधान कर सकता है। यदि आप बालकांड के प्रारंभिक अंश को प्रस्तावना और उत्तरकांड के अंतिम अंश को उपसंहार समझ लें तो बीच का बृहद् अंश एक ऐसे रूप में दिखाई पड़ेगा जिसमें उपर्युक्त कलाओं के सभी गुण तो हैं, पर उनका दोष एक भी नहीं। महाकाव्य और नाटक की कलाओं को इस सुंदरता से मिलाया गया है कि विश्वसाहित्य में वैसा कहीं बन नहीं पड़ा। इस विषय पर आगे चलकर विस्तार से लिखने का विचार है, अतः यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है। नाटकीय कला का

तो कहना ही क्या है। दशहरे के समय रामलीलाओं की धूम-धाम से कौन परिचित नहीं है ?

परंतु कवि हमारे साथ बराबर रहता है—रंगमंच के ऐसे स्थल पर जहाँ पात्र उसे देख न सकें; पर हमारे लिये तो वह पथप्रदर्शक बनकर घटनाओं, वार्ताओं और पात्रों पर आलोचनाएँ करता जाता है। परिणाम यह होता है कि हम कभी धोखा नहीं खाते। अन्यथा उधर परिणाम यह हुआ है कि शक्सपियर ने 'हैमलेट' लिखा तो इस हेतु से कि वह भौतिक-वाद की स्वार्थपूर्ण भयानकता दिखाकर हमारे हृदय में आदर्शवादी हैमलेट के लिये करुणा का प्रवाह उत्पन्न करे, जिसका कोमल हृदय भौतिकवाद की ठोकर से चूर-चूर हो गया था; पर आज 'हैमलेट' के पढ़नेवाले बहुधा यही दो वाक्य याद रखते हैं—

(१) आत्मा हम सब को कायर बना देती है। और—

(२) कोई चीज भली या बुरी नहीं, अपितु हमारा विचार ही उसे वैसा बनाता है।

इसी दोष को बचाने के लिये यवन कलाकारों ने गायकसमूह की प्रथा रक्खी थी, जो समय समय पर गाकर आलोचनाएँ करता जाता था। सामाजिक मनस्तत्वविद् औपन्यासिकों तथा बर्नार्ड शा जैसे नाटकीय कलाकारों का आदर्श भी यही है, परंतु अंतर यह है कि यूनानी कलाकारों का साधन कृत्रिम है और आधुनिक उपन्यासकारों तथा नाटक-कारों की कला गद्यात्मक और रूखी-सूखी। तुलसीदासजी का साधन और कवि रूप में सदा विद्यमान रहना स्वाभाविक है और उनकी आलोचनाएँ जहाँ आध्यात्मिक या आधिदैविक हैं भी वहाँ पद्यात्मक और सरस हैं। रामचरितमानस में ऐसे सहस्रों उदाहरण मिल सकेंगे। यहाँ नमूने के लिये केवल दो दिए जाते हैं। अयोध्या के उदार वातावरण में स्वार्थवाद का विष मंथरा और कैकेयी द्वारा प्रविष्ट हुआ और ऐसा नैतिक संवर्ष उत्पन्न हुआ कि सारी अयोध्या भय से काँप उठी। भयानक और

करुण-रसों की कविता अयोध्याकांड से अधिक उत्तमरूप में अन्यत्र कदाचित् ही मिल सके। कवि ने लिखा है—

घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥

यह वही अयोध्या है जिसका सुंदर चित्र अयोध्याकांड के आरंभ में ही खींचा गया है। संकेतार्थ एक चौपाई दी जाती है—

सब बिधि सब पुर लोग सुखारी। रामचंद मुख चंदु निहारी॥

कैकेयी और मंथरा की दुष्टता के परिणाम को देखकर मानो विश्वास अयोध्या से उठ गया है। दशा यह है कि—

........................। डरपहिं एकहि एक निहारी॥

दूसरा उदाहरण देखिए। राजतिलक होनेवाला है। अयोध्या में चारों ओर धूम मच रही है। गुरु वशिष्ठ भी अपना अंतिम उपदेश देकर अभी गए हैं। भगवान् राम एक विचित्र ही विचार-प्रवाह में पड़ गए। कवि लिखता है—

........................। राम हृदयँ अस बिसमउ भयऊ॥
जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

क्या कोई कृत्रिम 'स्वगत' वार्ता इस मूक विचार-प्रवाह की तुलना में टिक सकती है? इसीलिये संस्कृत में कवि की व्याख्या करते हुए उसे क्रांतिदर्शी कहा गया है। अब स्वयं कवि की आलोचना देखिए—

प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत मन कै कुटिलाई॥

भक्त-पक्ष को इस समय जाने दीजिए, तो भी भगवान् राम की यह पछतान कितनी सुंदर है। भ्रातृ-प्रेम ने राजनीति को भी परास्त कर दिया है और विमल वंश का सुंदर राजनीतिक सिद्धांत उनको इस समय अनुचित प्रतीत होता है। यही वह विचार-प्रवाह है जिसने भरत की सहायता से डूबती हुई अयोध्या को एक बार फिर उबार लिया। इस विचार-प्रवाह का प्रकटीकरण कितना आवश्यक है, यह आप समझ गए होंगे। पर ऐसा प्रवाह सदा मूक ही होगा। यदि जरा जबान खुल जाती तो राजनीतिक गड़बड़ होने का भय था। सच है, मंत्री, पदाधिकारी, राजसभा के सदस्य चाहे जितने हों; परंतु दो राजा एक देश में नहीं हो सकते।

दो शाह दर अकलीमे न गंजंद।

कैकेयी का राम-वनवासवाला वरदान माँगना इसी सिद्धांत पर निर्भर था। आपने देखा, कविवर शेक्सपियर का प्रकृति-दर्पण-वाला सिद्धांत भी निभ गया और कवि की आलोचना से भावों का रहस्य भी खुल गया तथा वाद-विवाद भी इतना लंबा-चौड़ा न हुआ कि जी ऊब जाय।

अब थोड़ा तुलसीदासजी की सामाजिक उपन्यास-कला का आनंद भी लीजिए। राम, सीता और लक्ष्मण के कोमल व्यवहार का प्रभाव चित्रकूट के जंगली निवासियों पर जैसा और जिस शीघ्रता से पड़ा है, उसे हम नीचे कवि के शब्दों में उन्हीं कोल-किरातों के मुख से प्रकट कराते हैं। असभ्य जातियों को सभ्य बनाने में उपर्युक्त व्यवहार मूल-मंत्र रूप में प्रयुक्त होना चाहिए। अँगरेजी साहित्य के जानकारों को बड़ा आनंद आएगा यदि वे टेम्पेस्ट नामक नाटक में प्रास्पेरो द्वारा कैलिबन के प्रति किए गए व्यवहार की तुलना एवं समानता तथा अंतर की परख इस व्यवहार से करेंगे। अभी रामजी को चित्रकूट में आए कुछ बहुत दिन नहीं

हुए थे जब कि अयोध्या और जनकपुर के राजसमाज वहाँ पहुँच गए कवि लिखता है—

कोल किरात भिल्ल बनबासी । मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधा सी ।।
भरि भरि परनपुटीं रचि रुरीं । कंद मूल फल अंकुर जूरीं ।।
सबहिं देहिं करि बिनय प्रनामा । कहि कहि स्वाद भेद गुन नामा ।।
देहिं लोग बहु मोल न लेहीं । फेरत राम दोहाई देहीं ।।
कहहिं सनेहँ मगन मृदु बानी । मानत साधु प्रेम पहिचानी ।।
तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा । पावा दरसनु रामप्रसादा ।।
हमहिं अगम अति दरसु तुम्हारा । जस मरुधरनि देवधुनि धारा ।।
राम कृपाल निषाद नेवाजा । परिजन प्रजउ चहिअ जस राजा ।।

यह जियँ जानि सँकोचु तजि करिअ छोहु लखि नेहु ।
हमहिं कृतारथ करन लगि फल तृन अंकुर लेहु ।।

तुम्ह प्रिय पाहुन बन पगु धारे । सेवा जोगु न भाग हमारे ।।
देब काह हम तुम्हहिं गोसाईं । ईंधनु पात किरात मिताई ।।
यह हमारि अति बड़ि सेवकाई । लेहिं न बासन बसन चोराई ।।
हम जड़ जीव जीवगन घाती । कुटिल कुचाली कुमति कुजाती ।।
पाप करत निसि बासर जाहीं । नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं ।।
सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ । यह रघुनंदन दरस प्रभाऊ ।।
जब तें प्रभु पद पदुम निहारे । मिटे दुसह दुख दोष हमारे ।।
बचन सुनत पुरजन अनुरागे । तिन्हके भाग सराहन लागे ।।

लागे सराहन भाग सब अनुराग बचन सुनावहीं ।
बोलनि मिलनि सिय राम चरन सनेहु लखि सुखु पावहीं ।।
नर नारि निदरहिं नेहु निज सुनि कोल भिल्लनि की गिरा ।
तुलसी कृपा रघुबंसमनि की लोह लै लौका तिरा ।।

यह है असभ्य को सभ्य बनाने का चमत्कार। मैंने जान बूझकर ही यह लंबा अवतरण दिया है, क्योंकि इसमें सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक उपन्यास कलाओं का पूर्ण विकास हुआ है। अभी हालही में जब मैं स्व० प्रेमचंदजी की अंतिम कृति 'गोदान' पढ़ रहा था और उसमें प्रो० मेहता और मिस मालती की वन्य एवं ग्रामीण लोगों द्वारा की गई पहुनाई का आनंद लेता था तथा नागरिक एवं ग्रामीण जीवन के पारस्परिक संघर्ष का प्रभाव देखता था तो मुझे इस अवतरणवाला प्रसंग बार-बार याद आता था। सच तो यह है कि नवीन मस्तिष्कीय वातावरण के कारण वैसी अनुरागमयी दशा का चित्रण हमारा स्वर्गीय उपन्यास-सम्राट् भी नहीं कर सका।

क्या हमारा यह कहना उचित नहीं कि कविता का भविष्य तभी ठीक हो सकता है जब रामचरितमानस में ऊपर व्यवहृत सिद्धांतों को आदर्श बनाया जाय? अन्यथा आज हम देख क्या रहे हैं कि भावों और विचारों के छोटे-छोटे टुकड़े—वे हीरा और लाल भले ही हों—थोड़ी-थोड़ी पँक्तियों की कविताओं में इधर-उधर बिखरे दिखाई पड़ रहे हैं। पर उनमें नौलखा हार का सुंदर ग्रंथन कहाँ? सच पूछिए तो मुझे 'गजल' की प्रथा इतनी सुंदर और प्रचलित होती हुई भी कभी अच्छी न लगी क्योंकि उसका एक पद दूसरे से कोई लगाव नहीं रखता। हाँ, यह अवश्य है कि रामचरितमानस की सी कविता केवल मस्तिष्कीय उद्योग से नहीं लिखी जा सकती। यहाँ तो मिल्टन के कथनानुसार पहले अपने ही जीवन को काव्यमय बनाना पड़ेगा।

महाकाव्य और नाटकों की कलाओं का एकीकरण

सच पूछिए तो महाकाव्य और नाटकों की कलाओं के एकीकरण में हमारे कवि के सिवा और किसी को दुनिया भर में सफलता ही नहीं मिली। हाँ, बीसवीं शताब्दी में इतना अवश्य हुआ है कि आध्यात्मिक

जीव-विज्ञान के विकास के कारण अब आधिदैविक व्यक्तियाँ अवैज्ञानिक नहीं मानी जातीं। इसलिये लोगों का ध्यान महाकाव्य की ओर फिर लौट रहा है। बर्नार्ड शा का 'बैक टु मैथ्यूसेला' नामक नाटक एक प्रकार का महाकाव्य ही है।

फारसी साहित्य में तो यह कहावत है कि रज्म (वीररस का महाकाव्य) और बज्म (शृंगाररस का काव्य) एक ही कवि नहीं लिख सकता। अँगरेज आलोचक मिल्टन जैसे महाकवि की उड़ान को खड़ी और शेक्सपियर की काव्यकला को पड़ी रेखा सी मानते हैं। इसीलिये वहाँ भी उपर्युक्त एकीकरण नहीं हुआ। उर्दू में गालिब जैसा सिद्धहस्त कवि मर्सिया (जो महाकाव्य से मिलती-जुलती है) के दो बंद से अधिक न लिख सका और कह दिया कि भाई, इसके लिये अब दूसरा जीवन चाहिए।

परंतु कवि होता है काठिन्यप्रिय। पहले पहल महाकवि स्पेंसर ने यह उद्योग करने का विचार किया कि उभय कलाओं का एकीकरण किया जाय। 'फेयरी-क्वीन' नामक पुस्तक के कुछ अंश इसी विचार से लिखे गए; पर काम था कठिन, अतः संकल्प पूरा न हो सका। मिल्टन ने भी 'पैराडाइज लास्ट' लिखते समय पहले सारी कथा को नाटक की भाँति अंकों और दृश्यों में विभाजित किया था और कहा जाता है कि सूर्य देवता के प्रति जो प्रार्थना है वह नाटक के प्रारंभिक दृश्य की है। परंतु सच है कि आधार और लंब का एकीकरण आसमान और जमीन के कुलाबे मिलाने का सा कठिन काम है। महाकवि मिल्टन ने भी उसका विचार छोड़ दिया। बेचारे टेनीसन की छोटी उड़ान का उल्लेख तो हम पहले ही कर चुके हैं।

तुलसी की दक्षता यह है कि उन्होंने रामचरितमानस में नाटक के भी सभी गुण निभा दिए हैं। उदाहरणार्थ यदि केवल धनुषयज्ञ को ही ले लिया जाय तो पता लग जायगा कि वह दृश्य नाटक-कला की कसौटी

पर भी कितना पूरा उतरता है। भावों, घटनाओं और चरित्रों के संघर्ष का चमत्कार विश्व-साहित्य में इससे सुंदर मिलना कठिन है। अँगरेज आलोचकगण कविवर शेक्सपियर के उस दृश्य की बड़ी प्रशंसा करते हैं जिसमें 'जूलियस सीजर' नामक नाटक में फिलिप्पाई की लड़ाई के निकट केसियस और ब्रूटस आदि में वार्तालाप हुआ है। प्रशंसा तो इतनी की जाती है कि उस दृश्य की नकल करने का प्रयत्न बहुतों ने किया, पर बराबरी कोई भी न कर सका। परंतु यदि आप उस दृश्य को धनुषयज्ञ के साथ पढ़ें तो पता लगेगा कि हमारे कुशल कवि की रचना के आगे वह केवल बच्चों का खेल है। मैंने इसकी विस्तृत विवेचना अपनी 'रामायणमें हास्यरस' पुस्तक में की है, अतः यहाँ संकेत मात्र अलम् है। अब हम संक्षिप्ततः उन युक्तियों पर विचार करेंगे जिनके प्रयोग द्वारा महाकवि ने उपर्युक्त एकीकरण को सफल बनाया है।

(१) नाटक-कला के आदर्श को सामने रखते हुए तुलसीदास जी प्रत्येक रस को उसके पूरे जोर में लिखते हैं, परंतु महाकाव्यकला का आदर्श आगे रखते हुए प्रत्येक रस को शांत रस के शिखर पर पहुँचा देते हैं।

शृंगार-रस पुष्पवाटिका, धनुषयज्ञ और विवाहवाले दृश्यों में सराहनीय है और हास्य-रस की पुट तो आरंभ से अंत तक मौजूद है। धनुषयज्ञ में वीर और रौद्र रसों का प्रयोग भी अच्छा हुआ है, परंतु कवि अपनी कला में इतना सिद्ध है कि फुलवारी-लीला के भीतर भी—

प्रीति पुरातन लखइ न कोई।

—आदि छोटे छोटे पदों द्वारा महाकाव्य का संकेत मौजूद है और धनुषयज्ञ के समाप्त होते होते तो शृंगार-रस शांत-रस के उस ऊँचे शिखर पर पहुँच गया है जिसे कवि ने सीता द्वारा यों प्रकट कराया है—

जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥

वीर-रस भी 'राम रमापति कर धनु लेहू' की प्रार्थना तक पहुँचते-पहुँचते शांत-रस में लीन हो जाता है। परशुराम, जो भूतकाल के विश्व-नेता कहे जाते थे और जिनमें पशुबल प्रधान था, अपना कार्य-भार रामरूपी भावी नेता को दे देते हैं, जिनका आदर्श है—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका॥

मानो राम में धीर और शील रूपी गुण ही अधिक हैं।

यदि आप अयोध्याकांड को कविवर शेक्सपियर के चारों दुःखांत नाटकों के साथ पढ़ें तो ज्ञात होगा कि इस एक कांड में ही उन चारों की मुख्य सामग्री मौजूद है। हाँ शेक्सपियर में केवल रोग की विवेचना है और तुलसी में उस विवेचना के साथ चिकित्सा का उद्योग भी है। उनकी काव्यकला में भरत, कैकेयी, मंथरा, सभी-के आत्माओं की शांतिप्राप्ति का प्रयत्न है। इतना ही नहीं, विश्वामित्र और वशिष्ठ के उत्तम प्रबंध तथा भरत और कौशल्या के त्याग और रामजी के प्रेम के कारण वनवास से लौटने की दशा का तो कहना ही क्या, चित्रकूट से लौटने पर भी अयोध्या में शांति का राज्य स्थापित हो गया है।

भयानक, वीर, रौद्र तथा वीभत्स रसों का प्रवाह अरण्य से शुरू होकर लंकाकांड तक चला गया है; परंतु अंत में रावण के आत्मा के हेतु भी तुलसी के महाकाव्य में शांति ही है। कवि लिखता है कि रावण की मृत्यु होते ही उसका तेज राम के मुख में समा गया। सच है, जिस अग्नि से चिनगारी निकली थी वहीं लौट गई। जिस समुद्र से लहर उठी थी उसी में फिर समा गई। हाँ, बीच की अवस्था में हमें अनेकानेक रसों के आनंद भले ही आ गए। इसीलिये तो मैं कहता हूँ कि राम-चरितमानस ही एक ऐसी विचित्र पुस्तक है जिसमें नवों रसों को बड़ी सुंदरता से निभाया गया है और फिर उन्हें शांत रस के शिखर पर पहुँचा दिया गया है।

(२) नाटकीय दृश्यों के बीच में तुलसीदास जी बड़ी सुंदरता के साथ छोटे छोटे आधिदैविक दृश्यों को प्रविष्ट कर देते हैं, जिससे नाटकीय और महाकाव्य-कलाओं का एकीकरण हो जाता है। उदाहरणार्थ अयोध्या-कांडमें सरस्वती जी और देवताओं की पारस्परिक वार्ता का दृश्य बड़ा ही उत्तम है। एक ओर तो सारे आधिदैविक प्रश्न सुलझ जाते हैं; परंतु दूसरी ओर दृश्य भी इतना बड़ा नहीं होने पाता कि उस कांड के करुण रस में कोई अंतर पड़े। कवि का चमत्कार यह है कि करुण-रस के प्रवाह में पड़कर हम सभी उस दृश्य को मानो भूल जाते हैं और अयोध्या-वासियों के साथ कैकेयी और मंथरा को कोसते हैं। कवि भी उस दृश्य को तनिक देर के लिये सामने लाकर फिर हमारे ही साथ हो जाता है और कैकेयी तथा मंथरा के प्रति कुछ वैसा ही व्यवहार करता हुआ जान पड़ता है। ऋषि-आश्रमों में पहुँचकर ही रहस्यों का कुछ प्रकटीकरण शुरू किया जाता है, इससे पूर्व नहीं। इस दृश्य का आनंद यह है कि वह स्वयं भी रसमय है। शा महोदय ने भी इस युक्ति का प्रयोग किया है, पर वहाँ मस्तिष्कीय वातावरण अधिक और भावुकता एवं आध्यात्मिकता कम है।

(३) चित्रकूट से चल पड़ने पर महाकाव्य-कला का विकास बहुत अधिक स्पष्ट होना प्रारंभ होता है। ऋषिगण भगवान् राम को हड्डियों के उस ढेर के पास से ले जाते हैं जो विशेष प्रबंध से जमा किया हुआ प्रतीत होता है। कौन होगा जो वैसे बड़े ढेर को देखकर प्रभावित न हो? राम जी ने भी प्रश्न किया कि ये हड्डियाँ किनकी हैं। जब उत्तर मिला कि ये उन ऋषि मुनियों की हैं जिन्हें राक्षसों ने खा डाला है, तो राम का आधिदैविक व्यक्तित्व पूर्णतः जाग्रत हो गया। उन्होंने संकल्प किया——

निशिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।

तदुपरांत न हम साधारण संसार में हैं और न घटनायें ही साधारण हैं। वानरगण वे देवता हैं जो ब्रह्मा के आदेश से वानररूप धारणकर

रामागमन की राह देख रहे थे। राक्षस भी कामरूप, मायावी दानव थे ; कवि एक जगह लिखता है--

जानि न जाय निशाचर माया। कामरूप..................॥

पर वहाँ भी नाटक-कला को हाथ से नहीं जाने दिया गया। राम-वियोग, सीता-विलाप लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम-विलाप आदि आदि अनेक घटनाएँ हमें याद दिलाती रहती हैं कि इन असाधारण व्यक्तियों में भी मानवता विद्यमान है--हाँ वह मानवता देवत्वयुक्त अवश्य है।

इस कला के उलट-फेर को ध्यान में न रखने के कारण ग्राउस जैसे उदार आलोचक ने एक बड़ी भूल की है। उनका कहना है कि अयोध्याकांड के बाद तुलसी की काव्यकला में पतन हुआ है, यद्यपि वस्तुतः अब नाटक-कला का प्रयोग कम करके हमारा कवि अपनी महाकाव्य कला का पूर्ण विकास दिखाना चाहता है। यहाँ से शेक्सपियर जैसे नाटककार तुलना में ठहर ही नहीं सकते। अब तो यदि तुलना हो सकती है तो मिल्टन या होमर से। सच पूछिए तो राम-रावण-संग्राम ब्राह्मण-ग्रंथों के देवासुर-संग्राम से भी अधिक भयानक लगता है। मुझे तो मिल्टन द्वारा वर्णित शैतान और ईश्वर-पुत्रवाली लड़ाई भी उस घोर संग्राम के आगे बच्चों का खेल मालूम होती है। जब रावण के लाखों कटे हुए सिर राम-बाणों में बिधे और उड़ते हुए दिखाई देते हैं तो मानवी मस्तिष्क चकरा जाता है। मैं तो इससे अधिक भयावने दृश्य की आजतक कोई कल्पना भी न कर सका। साथ ही प्रत्येक लड़ाई में कुछ ऐसी विचित्रता है कि जी नहीं ऊबता। तुलसीदासजी की लड़ाइयों के वर्णन में वह उबा देनेवाली समानता नहीं जो होमर द्वारा वर्णित तथा महाभारत की लड़ाइयों में पाई जाती है। हमें तो अर्नेस्ट उड महोदय का यह कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है कि यवन और लातीनी भाषाओं के सर्वमान्य ग्रंथ रामचरित-मानस के मुकाबले में नहीं टिक सकते।

(४) स्मरण रहे कि महाकवि मिल्टन ने भी 'पैराडाइज लास्ट' में लिख दिया है कि रूहों में घटने और बढ़ने की शक्ति होती है और उनमें लिंगभेद नहीं होता। वे जो रूप चाहें धारण कर सकती हैं। हमारे देश के भी १९ वीं शताब्दी के सुधारक श्री स्वामी दयानंद सरस्वती ने इतना माना है कि जीवन्मुक्त अभ्यागत होता है और इच्छामात्र ही उसका शरीर होता है। महाकाव्य-कला के समझने के लिये इस सिद्धांत को कम से कम इतना मानना आवश्यक है कि काव्यकला में ये बातें असंभव नहीं हैं। हमारे विश्वविद्यालयों के नवयुवक यह प्रश्न तो कभी नहीं करते कि मिल्टन के शैतान का अस्तित्व संभव है या नहीं और न कोई अँगरेज ही 'पैराडाइज लास्ट' को काव्यकला का ग्रंथ समझकर पढ़ते हुए ऐसा प्रश्न करता है, परंतु शोक तो यह है कि रामचरित-मानस पढ़ते हुए रावण और कुंभकर्ण आदि पर कितनी ही असाहित्यिक आलोचनाएँ की जाती हैं। हमारा नम्र निवेदन है कि महाकाव्य पढ़ते समय कम से कम वैसे अनुचित कटाक्ष न होने चाहिएँ और यदि यह निवेदन स्वीकार हो तो हमारे पाठकगण भी अर्नेस्ट उड महोदय के साथ बड़े गर्व से कह सकेंगे कि रामचरित-मानस के टक्कर की पुस्तक महाकाव्य-संसार में कोई दूसरी नहीं है। मैं जान-बूझकर इस समय यह विवाद नहीं छेड़ना चाहता कि अब तो आध्यात्मिक जीव-विज्ञान कितनी ही असंभव समझी जानेवाली बातों को संभव सिद्ध कर रहा है।

सच है, महाकाव्य-कला के गौरव को समझने के लिये हमारी कल्पना-शक्ति में रबड़ की सी प्रसरणशीलता होनी चाहिए। यह बात पैदा करने के लिये महाकवि मिल्टन और महाकवि तुलसीदास की युक्तियों में कितनी समानता है, यह विचारणीय है। मिल्टन ने लिखा है कि जब दानवों की पंचायत उनके पंचायत-घर में लगी तो बड़े बड़े रूप धारण किए रहने के कारण बहुत सी दानव-जनता बाहर ही खड़ी रही। यह देख शैतान ने कहा कि मुख्य मुख्य दानवों के सिवा और सब छोटे आकार ग्रहण कर

लें। बस, फिर क्या था, सारी दानव-जनता के लिये जगह निकल आई, बल्कि कुछ खाली रह गई। तुलसीदास ने भी हनुमानूजी और सुरसा का मुकाबिला इसी सिद्धांत पर कराया है। कवि लिखता है--

जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा। तासु दून कपि रूप देखावा॥

यहाँ तक कि अंत में सुरसा के लिये लिखा है--

सत जोजन तेहि आनन कीन्हा।

यह देख खिलाड़ी हनुमान् पैंतरा बदल देता है। कवि लिखता है--

अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा।
बदन पइठि पुनि बाहर आवा। माँगा बिदा ताहि सिरु नावा।

सच है, 'पवनसुत' में यह घटने-बढ़ने की शक्ति न हो तो किसमें हो?

हमारी विचारशक्ति बहुत संकुचित हो गई है, नहीं तो नसीम लखनवी जैसे सुकुमार श्रृंगारी कवि ने जहाँ 'देव' (दानव) का चित्रण किया है वहाँ यही लिखा है--

दंदान थे गोरकन कजा के, दो दो नथने रहे अदम के नाके।

'उसके दाँत मृत्यु की भी कब्र खोदनेवाले थे और नाक के नथुने क्या थे, यमलोक के रास्ते थे।'

(५) नाटककार संसार का सच्चा चित्र खींचता है, जिसमें बुराई भी हो और भलाई भी। वह बुराई पर परदा नहीं डालता। महाकाव्य-कलाकार हमें वे रहस्य दिखाता है जो सांसारिक आवरण की ओट में हैं, इसलिये वह बहुधा उपदेशक रूप में हमारे सामने आता है। तुलसीदासजी ने उभय कलाओं का अत्यंत सुंदर समन्वय किया है। उन्होंने किसी

बुराई को छिपाया नहीं, पर उसे सीमा से बाहर भी नहीं जाने दिया। उनके शृंगार एवं हास्य-रस में सारा आनंद है, परंतु कालिदास या उर्दू कवियों की तरह तुलसीदासजी ने नैतिक सीमाओं का उल्लंघन नहीं होने दिया। उनके हास्य-रस में आदर्शवाद का घृणायुक्त मखौल नहीं है और न उनकी करुण नाटकीय कला में आदर्शवाद को काँच की तरह चकनाचूर किया गया है। इन सब बातों के लिये हमारे कवि की युक्तियाँ बड़ी सुंदर हैं।

साधारण रहस्यों के प्रकटीकरण के लिये तो कवि हमारे साथ सर्वदा रहता है। गूढ़ आध्यात्मिक तथा आधिदैविक रहस्यों के उद्घाटन के लिये तीन आधिदैविक जोड़े बराबर रंगमंच के उस स्थान पर, जो हमारी दृष्टि की अंतिम सीमा पर है, आते और संकेत करके चले जाते हैं। प्रभाव वैसा ही उत्तम होता है जैसा नए नाटकों और फिल्मों में द्रौपदी-चीरहरण के समय एक प्रकाश के चक्र में भगवान् कृष्ण की उस मूर्ति का, जो अपने गले के पटके को इस प्रकार फेरती जाती है मानो भगवान् चीर को बढ़ा रहे हैं। ये तीनों जोड़े हैं—शिव-पार्वती, काकभुशुंडि-गरुड़ और याज्ञवल्क्य-भरद्वाज। स्व० लाला सीताराम अवधवासी ने तो अपने एक लेख में इन तीनों जोड़ों की पारस्परिक वार्ताओं के भिन्न दृष्टिकोणों की विवेचना तक कर दी थी। मेरे पास वह लेख नहीं और न मुझे याद रह गया है, परंतु उपर्युक्त दृष्टिकोणों के अंतर विचारणीय अवश्य हैं।

अब युक्तियों के संबंध में केवल इतनी सी बात बाकी है कि जब 'बैक टु मैथ्यूसेला' नामक महाकाव्यात्मक नाटक के लिये बड़ी विस्तृत (लगभग १५० पृष्ठों की) प्रस्तावना आध्यात्मिक जीव-विज्ञान के रहस्यों को खोलने के हेतु लिखी गई है तो सारे आधिदैविक एवं आध्यात्मिक रहस्यों के प्रकटीकरण के लिये रामचरितमानस की प्रस्तावना और उपसंहार को किसी प्रकार बड़ा नहीं कहा जा सकता। और फिर तुलसीदासजी के प्रसंग प्रत्येक स्थान पर सरस और काव्यमय हैं।

उदाहरणार्थ मैं श्री विजयानंद जी त्रिपाठी की कही हुई बात याद दिलाता हूँ। उन्होंने क्या अच्छा कहा है कि यदि सारे रामचरितमानस पर आध्यात्मिक आलोचना देखनी हो, नहीं-नहीं, यदि सारे मानस ही को आध्यात्मिक रूप में देखना हो तो रामनाम-प्रशंसा-प्रकरण का विचारपूर्वक अध्ययन कीजिए। एक-आध चौपाई नमूने के लिये दी जाती है—

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥

हमारी पथराई हुई मूढ़ कुमति का उद्धार करने के लिये राम नाम ही एक साधन है। देखा आपने अहल्या तारण का आध्यात्मिक रूप!

राम सकुल रन रावनु मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा॥
राजा रामु अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनिवर बानी॥
सेवक सुमिरत नामु सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती॥
फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम प्रसाद सोच नहिं सपनें॥

प्रसंग कितना स्पष्ट और साथ ही कितना रोचक और भावुकतापूर्ण है।

नाटकों का कृत्रिम विभाग और तुलसीदासजी के विचार

नाटक-कला की संपूर्ण गड़बड़ियों का कारण यह जान पड़ता है कि उनका विभाजन कृत्रिम रूप से दुःखांत और सुखांत रूपों में किया गया है। दुःखांत के अंत में दो-चार पात्रों की मृत्यु के बिना काम ही नहीं चलता और सुखांत नाटकों में तो श्रृंगार एवं हास्य रसों की भरमार ही होती है। यूनानी नाटक-कलाकारों ने गायक-समूह के साधन से हमारे पथ-प्रदर्शन का कुछ काम चला लिया था, परंतु शेक्सपियर की कला में तो यह आधार भी जाता रहा। दुःखांत नाटकों की नैराश्यमय शैली ने आदर्शवाद एवं आशावाद की मिट्टी पलीद कर दी। सुखांत नाटकों तथा

प्रहसनों के मखौल ने तो उसी को ध्येय सा बना दिया। इसमें संदेह नहीं कि कविवर शेक्सपियर ने कहीं-कहीं एक कला में दूसरे का पुट दिया है, परंतु वह है नदी में दो-चार बूँद की ही तरह।

हमारे कवि का सिद्धांत किसी कृत्रिम विभाजन को मानता हुआ प्रतीत नहीं होता। जनकपुर-भ्रमण से लेकर विवाह तक का अंश एक अत्यंत सुंदर सुखांत नाटक है, परंतु वहाँ भी करुण रस का पुट स्थान-स्थान पर दिया गया है और शांतरस का सदाचार भी हाथ से नहीं जाने पाया। शिव-विवाह और नारद-मोह से बढ़कर प्रहसन के नमूने अन्यत्र दुर्लभ हैं, परंतु वहाँ भी हास्यरस आत्मोद्धार का ही साधन है। अयोध्याकांड से बढ़कर सकरुण नाटक मिलना कठिन है, परंतु वहाँ भी कवि केवल रोगों की विवेचना नहीं करता, प्रत्युत उनकी चिकित्सा करके हमारा पथप्रदर्शक भी बनता है।

बात स्पष्ट है। तुलसीदासजी का विभाजन रसों की विभिन्नता पर निर्भर है, न कि किसी कृत्रिम अंत पर।* सच पूछिए तो अरस्तू का यह सिद्धांत कि दुःखांत-नाटक-कला का ध्येय यह है कि करुण और भयानक भावनाएँ हमारे हृदय में उत्पन्न कर उसे शुद्ध किया जाय, तुलसीदासजी की ही कला में चरितार्थ हुआ है, नहीं तो शेक्सपियर की दुःखांत नाटकीय कला में तो नैराश्य की ही प्रधानता है।*

कवि उपदेशक है या कलाकार या कलाबाज ?

'सत्यं शिवं सुंदरम्' एक ऐसा वाक्य है जो हमारे लिये सदैव आदरणीय है। वैज्ञानिक उस सत्यरूपी तत्त्व की खोज में लगा है जो स्वयं कभी नहीं बदलता और जिससे सारे तत्त्व निकल कर उसी में पुनः लीन हो जाते हैं। इस वाक्य का सिद्धांत यह है कि वह तत्त्व सुंदर भी है और कल्याणकर भी। उपदेशक किसी कल्याण-मार्ग की खोज में लगा हुआ है और प्रेम के ढाई अक्षरों की शिक्षा तथा त्याग एवं

विराग का उपदेश देता है। कलाकार उस तत्त्व की सुंदरता पर मुग्ध होता है और सुंदरता द्वारा ही सत्य एवं शिवत्व का प्रकट होना मानता है। इससे स्पष्ट हो गया कि वैज्ञानिक उपदेशक तथा कलाकार एक ही तत्त्व के भिन्न भिन्न रूपों के उपासक हैं। तुलसीदासजी की परिभाषा में उस तत्त्व का नाम 'राम' है और इसीलिये ग्रंथ के प्रारंभ में नामकरण संस्कार के अवसर पर गुरु वशिष्ठ द्वारा राम-नाम की व्याख्या यों कराई है कि--'सकल लोक दायक विश्रामा।' राम की सुंदरता तो राम-चरितमानस में जगह-जगह दिखाई देती है; यहाँ तक कि राक्षसों ने भी उस सुंदरता का सिक्का माना है।

तुलसीदासजी कवि के तीन पृथक् अस्तित्व नहीं मानते। वे सबसे पहले कलाकार एवं सौंदर्योपासक हैं। वही तत्त्व शिव तथा कल्याणकर भी है, अतः उपदेशक-रूप आप-ही-आप आ जाता है। सच है, कवि हृदय द्वारा ही अपना काम करता है और उसके वाक्यों में रस की प्रधानता होती है, जिनमें सत्य होता है; परंतु वे हमें सत्य मार्ग पर भी रस के द्वारा ही ले जाते हैं।

यदि ऐसा न होता तो मिल्टन की तरह शृंगार एवं हास्य से प्रायः शून्य महाकाव्य-कला तुलसीदासजी में भी पाई जाती। अँगरेज कहते हैं कि हम मिल्टन को केवल कर्तव्य समझकर पढ़ते हैं। हाँ, शेक्सपियर को अवश्य अपने आनंद के लिये पढ़ते हैं। क्या हमारे लिये यह बात गर्व की नहीं कि रामचरितमानस कर्तव्य समझ कर भी पढ़ा जाता है और आनंद के लिये भी? कवि ने गरुड़ के मुख से स्वयं कहलाया है--

अब श्रीराम कथा अति पावनि। सदा सुखद दुखपुंज नसावनि॥
सादर तात सुनावहु मोहीं। बार बार बिनवउँ प्रभु तोहीं॥

उनके उपदेश ऐसे रूखे नहीं होते कि कोई यह कटाक्ष कर सके कि--

यह कहाँ की दोस्ती है कि बने हैं दोस्त नासेह,
कोई चारासाज होता कोई गमगुसार.होता। (गालिब)

(यह कैसी मित्रता है कि मित्रगण सहायता देने और सहानुभूति दिखाने के बजाय उपदेशक बने हुए हैं।)

तुलसीदास के श्रृंगारी नायक-नायिका--राम-सीता--मानो कविवर जौक के शब्दों में यह कहते हुए प्रतीत होते हैं कि--

इस तरह जाते हैं देखा पाकदामन आब में।

कलाकारी और कलाबाजी संसार में दो पृथक् वस्तुएँ समझी जाती हैं। पहली में स्वाभाविकता और दूसरी में कृत्रिमता होती है। कविता के कारणों की व्याख्या करते हुए तुलसीदासजी भी मानते हैं कि वही भगवान्--

कविमति अजिर नचावहिं वानी।

और यही सिद्धांत टैगोरजी का भी है कि कवि केवल • एक वंशी है जिससे वही आदि शब्द भाँति-भाँति से निकलता है। पर यह याद रहे कि बाँसुरी के रूप-गुण का प्रभाव भी शब्द पर पड़ता है; नहीं तो फटी हुई बाँसुरी क्या बजेगी। मिल्टन ने भी लिखा है कि कवि को पहले अपना जीवन ही काव्यमय बनाना चाहिए, तभी वह ऐसी कविता लिख सकेगा जो भावी संसार के लिये कल्याणकर हो। तुलसीदास ने भी कहा है--

श्रीगुरु-चरन-सरोज-रज निज मनु-मुकुरु सुधारि।
वरनउँ रघुबर बिमल जसु जो दायकु फल चारि॥

सच है, यदि मनरूपी मुकुर के मल, विक्षेप तथा आवरण को पहले दूर न कर दिया जाय तो चित्र भी टेढ़ा होगा, और जब कवि के हृदय में ही चित्र टेढ़ा हो तो फिर उसकी कविता के टेढ़ेपन का क्या कहना ?

सारांश यह कि तुलसीदासजी ऐसे कवि हैं जिनमें कलाकारी और कलाबाजी एक हो जाती है। रामचरितमानस के पद रस्किन की उस कसौटी पर कैसे खरे उतरते हैं जिसमें उसने कहा है कि आदर्श काव्य-ग्रंथ शब्दशः, नहीं-नहीं, अक्षरशः पढ़ने योग्य होते हैं। रस्किन की बात साहित्यिक अध्ययन की है। मुंशी शीतलासहायजी ने रामचरितमानसकी जो बृहत् शाब्दिक व्याख्या की है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि एक एक शब्द में आध्यात्मिक एवं आधिदैविक रहस्य छिपा हुआ है। श्री शुक्लजी ने भी एक पुस्तिका लिखी है जिसमें पिंगल की सारी सूक्ष्मताओं, अलंकारों, गुणों, रीतियों और भावों के नमूने मानस में से निकालकर लिख दिए हैं। हाँ, यदि इसमें न मिलेगी तो पिंगल-शास्त्र की कृत्रिमता। उदाहरणार्थ मोरपंख के रूप का एक छंद भी न मिलेगा। बात यह है कि तुलसीदास की कविता का प्रवाह स्वाभाविक है। वह किसी चीज को व्यर्थ तोड़-मरोड़कर नहीं लाते।

मुगल शिल्पियों के लिये कहा जाता है कि वे ऊपरी ढाँचा तो दानवों की तरह बड़ा बनाते थे परंतु उसकी सजावट रत्नकारों की भाँति करते थे। ठीक यही बात तुलसीदास की काव्यकला पर लागू होती है। उनके महाकाव्य की उड़ान इतनी ऊँची है जिसमें सारा विश्व आ जाता है। ब्रह्मलोक और इंद्रलोक तथा देव-असुरों का तो कहना ही क्या है, वे हमें ऐसी जगह पहुँचा देते हैं जिसके लिये उन्होंने स्वयं लिखा है--

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे ॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा ॥

यह है तुलसीदासजी का रामतत्त्व। अब सजावट की बात रही, सो फुलवारी-लीला, धनुषयज्ञ और विवाह देखिए और मुग्ध होइए। मुझे तो फुलवारी-दृश्य और सीता-विवाह-मंडप की रचना का वर्णन पढ़ने के बाद यही प्रतीत होता है कि तुलसीदास की कला का प्रभाव उन मुगल शिल्पियों की कला पर पड़ा था जिन्होंने ताज का निर्माण किया। इतना ही नहीं, बल्कि विवाह-मंडप में वायु-स्पर्श से बोलनेवाली चिड़ियों और भौरों का पता तो मुगल पच्चीकारी में भी नहीं है।

जो कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि महाकाव्य-कला, नाटक-कला, तथा गान-कला का प्रयोग रामचरितमानस में इस सुंदरता एवं उत्तमता से हुआ है कि संसार में उसका जोड़ मिलना कठिन है। फिर उपदेशों का तो कहना ही क्या? तुलसीदासजी ने स्वयं पुस्तक की आरती में लिखा है--

चारिउ बेद पुरान अष्टदस, छओ सास्त्र सब ग्रंथन को रस।

रामचरितमानस में करुण-रस

१—प्रस्तावना

(१)

बर्नार्ड शा की पुस्तकों के अध्ययन से मुझे यह ज्ञात हुआ कि पाश्चात्य साहित्य-जगत् दुःखांत कविता को सर्वोत्तम समझता है और जैसा शा महोदय लिखते हैं ; विश्व-काव्य ने अपनी साहित्यिक शक्ति को 'हैमलेट' और 'डोन जुआँ' अथवा आदर्शवादी तथा स्वेच्छाचारी, दो प्रकार के व्यक्तियों के निर्माण में व्यय किया है। हमें यहाँ यह देखना है कि हमारे कवि तुलसीदास करुण-रस की कविता लिखने में कहाँ तक सफल हुए हैं और उनके भरत और शेक्सपियर के हैमलेट में क्या समानता और क्या अंतर है।

मुझे वनवास-प्रकरण अथवा अयोध्याकांड में तुलसीदास की जिन अपूर्व शक्तियों का विकास दिखाई पड़ता है वह अन्यत्र नहीं मिलता। ग्राउस महोदय का कथन है कि तुलसीदासजी की कविता अपने उच्चतम शिखर पर इसी कांड में पहुँची है; तत्पश्चात् उसमें बहुत उतार है। अस्तु, इस बात पर आगे विचार किया जायगा। परंतु इस लेख-माला के अंतर्गत मुझे यह दिखलाना है कि संसार की करुण-रस की कविता में तुलसी का क्या स्थान है। इस विषय के छेड़ने की आवश्यकता इस कारण हुई है कि अलोचना कहीं एकांगी न रह जाय। मैं अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार दागबेल लगाए देता हूँ। 'कारे दुनिया कसे तमाम न कर्द' (दुनियाका काम किसीने खतम नहीं

किया) के अनुसार अगर काम अपूर्ण रह गया तो अन्य साहित्य-मर्मज्ञ उसे पूरा कर ही लेंगे।

(२)

श्रीगुरु-चरण-सरोज-रज निज मन-मुकुर सुधार।
बरनौं रघुवर विमल यश जो दायक फल चार॥

(क) उपर्युक्त दोहे से अयोध्या-कांड का आरंभ होता है। यह विदित ही है कि तुलसीदास संसार के उन महाकवियों में से हैं जिनका आदर्श संसार का उद्धार करना था। वह संसार के भले-बुरे दृश्यों और चरित्रों का केवल यथातथ्य चित्रण करके ही हमें भूल-भुलैया में नहीं छोड़ जाना चाहते, किंतु अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष, चारों की प्राप्ति का निश्चित मार्ग बताना चाहते हैं। और वहाँ कोरा उपदेश नहीं है प्रत्युत काव्य-रस और काव्य-कला का भी पर्याप्त प्रदर्शन है।

"सत्य तो यह है कि शेक्सपियर की दृष्टि में यह संसार मूर्खों का एक विशाल रंगमंच था जिसमें वह सर्वथा भ्रांत हो गया। उसे जीवन में कोई सार्थकता नहीं दिखाई देती और डिकेंस ने 'द चाइम्स' में अपने को इस निराशाजनक स्वप्न से इस प्रकार बचा लिया है कि वह संसार को जैसे का तैसा मानकर उसकी व्याख्या में संलग्न हो जाता है। उनमें से कोई भी गंभीर व्यक्तित्वपूर्ण चरित्र का निर्माण नहीं कर सका। वे किसी मानवी आकृति को आपके सामने बिलकुल ज्यों की त्यों रख देते हैं, पर जब उस आकृति को जीवन प्रदान करने और उसे संचालित करने का समय आता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो या तो वे उस आकृति पर हँसते हैं या उसे अपने हाथ का खिलौना समझते हैं जिसे वे किसी बाह्य कृत्रिम साधन द्वारा उत्तेजित करके काम में लगा देते हैं..............आप अगत्या देखेंगे कि शेक्सपियर आध्यात्मिक छटाएँ रखकर भी सदाचार और साहस को

नहीं समझ सका और न उसे इस बात की परवाह हुई कि कोई मनुष्य, जो मूर्ख-विदूषक न हो, किस प्रकार बनयन के नायक की भाँति अपने जीवन के संघर्ष एवं परिश्रम पर सिंहावलोकन करते हुए यह कह सकता है कि 'अब भी मुझे पश्चात्ताप नहीं है'; और एक करोड़पति की भाँति गर्व से यह वसीयत कैसे कर सकता है कि 'मेरी तलवार उसको मिले जो जीवन-यात्रा में मेरा अनुयायी हो और मेरा साहस एवं चातुर्य उसे मिले जो उन्हें पाने का प्रयत्न करे।' वस्तुतः जीवन का सच्चा आनंद यही है कि मनुष्य को यह ज्ञात हो कि उसका जीवन ऐसे उद्देश्य की पूर्ति में लगा रहा है जिसे वह स्वयं अत्यंत महत्वपूर्ण समझता है...........और वह इस बात की शिकायत करता हुआ कि संसार उसे सुखी नहीं बना रहा है, अपने को व्यथाओं और भर्त्सनाओं का ज्वराक्रांत और स्वार्थपूर्ण ढला न समझकर संसार की एक संचालक शक्ति समझे। और वस्तुतः सबसे अधिक करुणाजनक वह अवस्था है जिसमें मनुष्य को यह ज्ञात हो कि वह स्वार्थी मनुष्यों द्वारा ऐसे कामों में लगाया जा रहा है जिन्हें वह स्वयं नीच समझता है।''

बर्नार्ड शा कृत 'मैन ऐंड सुपरमैन' की पत्ररूपी प्रस्तावना से उद्धृत इस विवेचना को मैं कविवर शेक्सपियर की कुछ कड़ी आलोचना समझता हूँ। पर इसे यहाँ उद्धृत करने का प्रयोजन यह है कि शा प्रभृति अर्वाचीन विद्वान् जिस आदर्श-कवि वा आदर्श दुःखांत रचना की कल्पना मात्र करते हैं वह अधिकांश में तुलसीदास और उनके रामचरितमानस के अयोध्याकांड में विद्यमान है।

मेरे पूज्य पितामह कहा करते थे कि दीवाने-हाफिज और मानस को चाहे जहाँ से पढ़ो आनंद ही आनंद है। उनका यह कथन अधिकांश में सत्य ही है, विशेषतः मानस के संबंध में, जिसमें संसार का सच्चा चित्र भी है और भले और बुरे अंगों का यथार्थ स्पष्टीकरण भी वस्तुतः

नाटकीय और महाकाव्य-संबंधी शक्तियों का ऐसा एकीकरण विश्व-साहित्य में बहुत ही कम है। मिल्टन और स्पेंसर प्रभृति कवियों ने इस एकीकरण के लिये अपने में पर्याप्त शक्ति न पाकर केवल एक-आध दृश्य ही लिखकर अपना प्रयास छोड़ दिया। सच तो यह है कि जमीन और आसमान के कुलाबे मिलाना बड़ा कठिन काम है।

(ख) दूसरी बात जो उपर्युक्त दोहे से विदित होती है वह यह है कि मिल्टन की तरह तुलसीदासजी भी यही समझते थे कि जो मनुष्य आदर्श कविता लिखने का विचार करे उसे अपने जीवन को स्वयं काव्य बना देना चाहिए। 'बादाख्वारी' (मदिरापान) और 'मसायले-तसव्वुफ' (वेदांत के गूढ़ प्रश्न) साथ साथ नहीं निभ सकते; और यदि निभाने की चेष्टा होगी तो परिणाम यह होगा कि 'उमरखैयाम' और 'गालिब' जैसे महाकवि भी वह न कर सकें जो 'सादी' वा तुलसीदासजी ने कर दिखाया। सच है, उपनिषद् से लेकर वेदांत या तसव्वुफ तक सब में यही सिद्धांत व्यवहृत है। 'दिल के आइने में है तस्वीरे-यार, जब जरा गर्दन झुकाई देख ली'। हृदय छोटा सा दर्पण है, जिसमें भगवान् के सगुण स्वरूप के दर्शन होते हैं, फिर चाहे 'सगुण' शब्द को गुणवाचक कहिए वा व्यक्तिवाचक। तुलसीदासजी यों ही किसी नाटक कंपनी के लिये या चार पैसे कमाने के लिये जवानी के अल्हड़पन की उमंग में रामायण लिखने नहीं बैठ गए थे, बल्कि ४२ वर्ष की परिपक्व आयु में संवत् १८३१ में उसे लिखना आरंभ किया था, जब वह गुरुदेव की सेवा में अपना अध्ययन समाप्त कर चुके थे। तुलसीदास ने मिल्टन की तरह पूरी तैयारी के बाद कलम उठाई। अयोध्याकांड तक पहुँचते पहुँचते तो उनकी बुद्धि एवं काव्य-शक्ति और भी प्रौढ़ हो गई होगी। यही तो बात है कि जहाँ शेक्सपियर की अंतिम कविता में प्रौढ़ता पाई जाती है, वहाँ वह रामचरितमानस में आदि से ही दिखाई देती है। कविवर शेक्सपियर ने केवल ५२ वर्ष की ही

आयु पाई और उसमें भी अंत के कई वर्षों में कुछ नहीं लिखा। हम कभी कभी यह बात भूल जाते हैं और शेक्सपियर में आद्योपांत एक सी प्रौढ़ता न पाकर आँग्ल भाषा के उस सर्वश्रेष्ठ कवि की कुछ कड़ी आलोचना करने लगते हैं, जो न्याय-विरुद्ध है।

(ग) मैं भी इस बात को मानता रहा हूँ कि सिद्धांतों और विचारों को दृढ़ किए बिना झट-पट लिख मारना और संसार को भ्रम में डाल देना नितांत अनुचित है। इसीलिये अब से पूर्व अयोध्याकांड की आलोचना प्रकाशित करने का साहस मैंने नहीं किया; यद्यपि जब मैं बी०ए० में पढ़ता था, तभी 'अथेलो' नामक शेक्सपियर का दुःखांत नाटक पाठ्य ग्रंथ होने के कारण उसकी और 'वनवास' की पारस्परिक तुलना का मुझे अवसर मिलता था। सर्व प्रथम मंथरा और यागो की विवेचना ने ही तुलसीदास की महत्ता का कुछ कुछ अनुभव मुझे कराया था। मुझे तो चीन का वह प्राचीन सिद्धांत बहुत पसंद है कि वहाँ ४० वर्ष से कम अवस्था वाले व्यक्ति को नेता नहीं मानते। इसके विपरीत मानने से वही हाल होता है, जैसा स्टीवेंसन महोदय ने कहा है कि प्रत्येक नवदीक्षित यह कोशिश करता है कि वह उन्हीं को दीक्षा दे जो उस मत में बूढ़े हो चुके हैं। कभी कभी अपवाद होते हैं, यह दूसरी बात है। अब वैसे साहस के होने के कारण हैं। एक तो मेरी आयु का ४२ वाँ वर्ष शुरू है। दूसरे जो कुछ हिचक थी, साहित्याचार्य पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी के आशीर्वादपूर्ण पत्रों से दूर हो गई——यानी भगवान् की कृपा से मुझे 'श्रीगुरु-चरण-सरोज-रज' मिल गई। अस्तु। आचार्य महोदय से मेरा कोई साक्षात् परिचय नहीं, फिर भी उन्होंने कृपा कर मेरी साहित्य-सेवा की अभिलाषा को आंदोलित कर दिया था। मुझे उनके पत्र अपनी डिग्रियों से अधिक प्रिय हैं और उन्हें पढ़कर मेरा हृदय आनंदोल्लास से भर जाता है। पर मुझको उन पत्रों के प्रशंसापूर्ण शब्द इतने प्रिय नहीं हैं, जितनी वे बातें, जिनके

द्वारा उन्होंने मेरी शैली की त्रुटियों की संभावनाओं की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया है। उनके शब्द प्रेम से ओत-प्रोत हैं। कदाचित् इस कांड की आलोचना करने से पूर्व मेरे साहित्यिक 'मन-मुकुर' के लिये उस 'सरोज रज' के प्रेम की रगड़ की जरूरत थी। पाठकों के सामने मैं केवल कुछ बातें अपने शब्दों में रख दूँगा।

(१) पांडित्यपूर्वक शब्दों की व्याख्या करने में रस तथा भाव से ध्यान न हटाना चाहिए।

(२) किसी कविता के पूरे ढाँचे और एक अंश के दूसरे अंश से पारस्परिक संबंध को भूल न जाना चाहिए।

(३) कविता का वह प्रभाव सब से अधिक लाभदायक है कि हृदय से कही हुई बात हृदय में बैठ जाय। आचार्यवर लिखते हैं कि 'मैं तो जब रामायण पढ़ता हूँ तो इतना मुग्ध हो जाता हूँ कि विचार-शक्ति ही स्तंभित हो जाती है'।

एक बार जब मुझे श्री पद्मसिंह शर्मा के सभापतित्व में, आगरा-नागरीप्रचारिणी सभा में भाषण देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उस समय मैंने अपने को उस हिंदी-साहित्य-साम्राज्य का केवल एक दूत कहा था, जिसके शासक श्री पद्मसिंहजी शर्मा या पूज्यवर श्री द्विवेदीजी प्रभृति महानुभाव हैं। वस्तुतः मैं उससे अधिक कुछ नहीं हूँ। मैं तो विशेषतः तुलनात्मक अध्ययन से उन महानुभावों की सेवा में कुछ कहने का साहस करता हूँ, जो मिल्टन, शेक्सपियर, बाइरन, शेली, टेनीसन अथवा गालिब, नसीम, हाली, सादी अथवा उमरखैयाम इत्यादि अन्य भाषा के महाकवियों की रचनाओं पर रीझ रहे हैं। या यों समझिए कि मैं तो एक प्रदर्शक की तरह आपको इस साहित्य के 'ताज' में ले जाकर अपनी बुद्धि के अनुसार उसकी प्रशंसा करता हूँ। आह, मुझ सेवक को उस साहित्य की आनंदजनित समाधि में निमग्न होने का अवसर बहुत कम मिलता है। भई, इस निमग्नता को आलोचनात्मक

शक्ति का त्याग हरगिज न समझना, यह तो उसका उत्थान है; मगर प्रत्येक साहित्य-प्रेमी से मेरी यह प्रार्थना अवश्य है कि कुछ देर के लिये सब व्याख्या इत्यादि को छोड़कर भी किसी बड़े कवि वा लेखक की रचना अवश्य पढ़नी चाहिए, जिसमें हृदय की बात हृदय तक पहुँचे।

यद्यपि इस लेखमाला में शब्द-व्याख्या को परित्यक्त नहीं किया जायगा, पर दूसरे अंगोंपर विशेष ध्यान रहेगा। मुगलकाल के गृहनिर्माताओं के लिये किसी ने बहुत ठीक कहा है कि वे दानवों की सी कल्पना करते थे और रत्नकारों की तरह समाप्त करते थे। तुलसीदास की कविता के लिये भी ठीक यही बात लागू होती है। रामचरितमानस प्रत्येक बार समाप्त करते समय मुझे तुलसीदास ऐसे महान् व्यक्ति के रूप में दिखाई देते हैं, जिनके रचित काव्य जगत् में न केवल भूलोक प्रत्युत देवलोक इत्यादि भी आ गए हैं[१]। फिर उन्होंने एक एक शब्द को उसी प्रकार चुन-चुनकर रक्खा है जैसे कोई जौहरी रत्नों को जड़ाई करे। यह बात तुलसीदास में शेक्सपियर से अधिक है। ब्रेडले क्या, शेक्सपियर के किसी भी आलोचक की रचना पढ़िए तो आपको अनेक स्थानों पर शब्द-रचना की त्रुटियों की शिकायत मिलेगी—कहीं शीघ्रता के कारण, कहीं दर्शकों की बुद्धि वा रुचि के कारण; पर हमारा कवि तुलसीदास अपने आदर्श का पक्का है और यद्यपि उसने ऐसी पुस्तक लिखी है जो 'ताज' की तरह साधारणतः प्रत्येक मनुष्य को आनंद विभोर बना दे, पर क्या मजाल कि सूक्ष्मदर्शी भी वही आनंद न प्राप्त करे जो 'ताज' की पच्चीकारी में मिलता है।

(घ) दोहे की बहुत-सी बातें तो ऊपर प्रकट हो गईं; पर यह साहित्य का एक अच्छा प्रश्न है कि यह दोहा इसी कांड के आरंभ में

---

१ उन्होंने कहीं कहीं तो काव्य-कल्पना द्वारा ब्रह्मा की निपुणता को भी शिक्षा दी है, जैसे सीता की उपमा के लिये नई लक्ष्मी बनाने में।

क्यों लिखा गया ? मेरी सम्मति में यह कारण है कि वस्तुतः भगवान् राम के 'विमल यश' का स्पष्टीकरण इसी कांड में हुआ है। धनुष को तोड़ना और रावण को जीतना इस अपनी जीत के पासँग भर भी नहीं हैं। मर्यादा-पुरुषोत्तम की सीमा का पता यहीं लगता है। अगर आप हैमलेट और अयोध्याकांड को साथ साथ पढ़ें और सोचें कि डेन्मार्क के राजकुमार की असफलता या रक्तरंजित सफलता और अयोध्या के राजकुमार की सफलता में अंतर के कारण क्या हैं, तो दोनों राजकुमारों के चरित्र के अतिरिक्त आपको मानना पड़ेगा कि डेन्मार्क की घटनाओं में शांत तथा सुव्यवस्थित नेतृत्व की कमी थी। चित्रकूट में भी अंतिम गुत्थी राम ने ही सुलझाई और सचमुच करुण-रस के प्रवाह को शांत-रस के सागर तक पहुँचा दिया जो उन्हीं का काम था। जिस समय में शेक्सपियर ने अपनी दुःखांत-रचनाएँ लिखी हैं उसे बहुधा साहित्य-मर्मज्ञ जन 'हार्दिक गहनता' की अवस्था मानते हैं और कहते हैं कि मानों इस समय शेक्सपियर मानवी हृदय की वेदनाओं में गोते लगा रहा था। कहीं-कहीं थाह भी मिली है पर वस्तुतः यदि थाह मिली है तो उसके बाद की अवस्था में, जब 'टैंपेस्ट', 'मर्चेंट आव वेनिस' इत्यादि लिखे गए और जिस अवस्था को 'उच्चता' का नाम दिया जाता है। हमारे कवि ने इन दोनों अवस्थाओं का इस कांड में ऐसा एकीकरण किया है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। तुलसीदास का यही तो विशेष गुण है कि वे नवों रसों को नव धाराओं की तरह लाकर अंत में उसी शांति और आनंद के समुद्र में मिला देते हैं जहाँ सच्चिदानंद रूपी अमृत भरा हुआ है। सत्य है, भगवान् के चरित्र का चित्र उतारने के लिये 'मन-मुकुर' स्वच्छ होना ही चाहिए। उसकी अस्वच्छता से चित्र का धुँधला हो जाना अवश्यंभावी है।

मैंने पहले ही फुलवारी-लीला संबंधी लेखमाला में लिखा है कि रामजी पर संसार के नेतृत्व का भार उनके हाथों में परशुरामजी के

धनुष देने के समय से पड़ा है; और फुलवारी तथा धनुषयज्ञ मानो उनकी अर्ध-अधिकारयुक्त उपस्थिति हैं। वस्तुतः उनकी पूर्ण-अधिकारयुक्त उपस्थिति अयोध्याकांड से ही समझिए और उन गुणों का विकास देखिए जिनके अयोध्या-राज्य में होने की जरूरत थी और जिनके बिना डेन्मार्क-राज्य में त्रुटि का अनुभव होता है; इसीलिये इस दोहे रूपी संकल्प की यहीं आवश्यकता है।

(१) 'सरोज-रज' की शाब्दिक योजना और दोहे के आधे से अधिक भाग में 'र' की आवृत्ति मानो 'मनमुकुर' पर रगड़ का शाब्दिक चित्र पेश करती है और फिर 'विमल-यश, जो दायक फल चार' की सचिक्कणता भी दर्शनीय है।

(२) कुल दोहा रूपक का एक अमूल्य उदाहरण है जिसकी जितनी ही व्याख्या की जाय उतनी ही आनंदप्रद हो सकती है। तुलसीदासजी ने स्वयं लिखा है—

एक घड़ी आधी घड़ी आधी की पुनि आध।
तुलसी संगत साधु की कटहिं कोटि अपराध॥

क्यों? इन्हीं अवसरों पर तो उपदेश रूपी 'सरोज-रज' मिलती है जो 'मन-मुकुर' को रगड़कर साफ कर देती है। महाभारत में भी एक जगह लिखा है कि एक क्या, आधे मंत्र के वास्तविक बोध से भी उद्धार हो जाता है, नहीं तो 'चारपाये बरू किता चंद' अर्थात् चतुष्पद पर कुछ पुस्तकों की अवस्था चारों ओर दिखाई देती है।

(३) दुःखांत कविता—इस प्रारंभिक लेख को समाप्त करने से पहले मैं इसके विषय को तनिक और सुस्पष्ट कर देना चाहता हूँ। पश्चिमीय साहित्य में सुखांत और दुःखांत कविता के दो बड़े भाग हैं। क्योंकि पाश्चात्य विद्या का श्रीगणेश अथवा यूनान-देश की कविता की आलोचना करते समय अरस्तू ने दुःखांत कविता की परिभाषा निश्चित की थी और

दुःखांत कविता का हेतु यह बतलाया था कि वह करुणा तथा भय द्वारा हृदयस्थ भावों को शुद्ध तथा निर्मल बना देती है। वर्तमान शताब्दी के साहित्य-मर्मज्ञ भी थोड़े ही हेर-फेर से वहीं स्थित हैं। कहा यह जाता है कि लोहा लोहे को काटता है, अतः सकरुण और भयानक अंतवाली कविताओं से इन दोनों दोषों का कुछ निवारण होता है, परंतु इस प्रकार हृदय में निराशा का जो राज्य स्थापित हो जाता है उसका फल भी तो देखना चाहिए। श्री अवध उपाध्याय ने हाल में अपने एक लेख में पांडित्य के साथ विचार किया है कि इस निराशाजनक दुःखांत कविता और उसकी प्रतिष्ठा का परिणाम, विशेषतः दुःखांत उपन्यासों का प्रभाव पाश्चात्य देशों पर उपर्युक्त धारणा के विपरीत हुआ है और आए दिन वहाँ छोटी छोटी बातों पर आत्महत्या होती है। आश्चर्य तो यह है कि पाश्चात्य जगत् अपने को आशावादी कहता है और पूर्वीय देशों को निराशावादी, पर वस्तुतः संस्कृत क्या प्राचीन हिंदी कविता तक में दुःखांत बातों का पता नहीं है। इस अंतर के कारणों को समझ लेना अयोध्याकांड के महत्व को समझने के लिये अत्यावश्यक है; अतः यहाँ कुछ व्याख्या की जाती है—

यह सच है कि लोहा लोहे से कटता है, करुण रस से करुणा के और भयानक रस से भय के भाव शुद्ध होते हैं; पर ऐसी दवा इतनी कड़ी न होनी चाहिए कि जीवन-शक्ति को ही नष्ट कर दे। बर्नार्ड शा महोदय भी शिक्षा-प्रणाली में उपर्युक्त सिद्धांत प्रयुक्त करते हैं और कहते हैं कि विद्यार्थी में होमियोपैथिक दवाओं के सदृश वह संशोधक शक्ति उत्पन्न कर देनी चाहिए कि वह जरा सी बाहर की आई हुई औषधरूपी खराबी के साथ अंदर की खराबी को भी साफ कर दे। उदाहरण में वह कहते हैं कि अगर तुम किसी बिल्ली को बलात् नहलाओ तो कभी कभी वह लेट जाती है और बहुत गंदी हो जाती है, पर यदि तुम उसपर थोड़ी सी धूल छिड़क दो तो वह स्वयं जिह्वा से चाटकर केवल छिड़की हुई

मैल को ही नहीं बल्कि अपने समूचे शरीरको भी साफ कर देगी[१]। मेरी समझ में ठीक यही अंतर पाश्चात्य देश की दुःखांत कविता और संस्कृत या तुलसी की करुण-रसवाली कविता में है। दुखांत कविता में आशा की झलक मिट सी जाती है पर यहाँ कुहू-निशा में भी चंद्र या तारागण की ज्योति बनी ही रहती है। हमको भगवान् पर अविश्वास कर 'मनुष्यों के प्रति अपने व्यवहारों द्वारा तो ईश्वर अपना अस्तित्व प्रमाणित नहीं कर सकता' जैसी पाश्चात्य वाणी में कभी रोना नहीं पड़ता।

पश्चिम की दुःखांत कविता का सिद्धांत तभी ठीक उतरता है, जब भौतिक सत्ता से पृथक् कुछ न माना जाय और मरण के पश्चात् किसी अन्य लोक की कोई बात ही न हो। मैं तो यह समझता हूँ कि जिसने दुःखांत कविता लिखी, उसने जीवन के रहस्य को एकांगी कर दिया। इसीलिये तो 'हरिश्चंद्र' और 'शकुंतला' जैसे सकरुण नाटकों के अंत में ईश्वरीय-शक्तियों के विकास के कारण, उधर ईश्वर का विमान पर स्वयं स्वागत के लिये आना और इधर इंद्र के यहाँ दुष्यंत और शकुंतला के मिलन से यह दिखा दिया गया है कि ईश्वरीय प्रबंध में सब के लिये आशा है। आह! पाश्चात्य देश भगवान् ईसा के इन बहुमूल्य सिद्धांतों को अब तक अपना नहीं सका——

'भाग्यवान् हैं वे जो दुःखालाप करते हैं क्योंकि वे ही सांत्वना के पात्र होंगे।'

'भाग्यवान् हैं वे, जो सत्य के लिये सताए जाते हैं क्योंकि उन्हीं का स्वर्ग में साम्राज्य है।'

इन आशापूर्ण वचनों और दुःखांत कविता के आदर्श में कितना अंतर है? दुःखांत कविता के अंत में मुझे तो यही ज्ञात होता है कि बीच से हठात् भगवान् के रहस्य को लुप्त कर दिया गया है, या यह

१—'बैक टु मैथ्यूसेला', १९२६, भूमिका, पृष्ठ १२

कहिए कि जीवन का नकार-पक्ष (निगेटिव साइड) ही दिखलाया गया है और सकार पक्ष (पाजिटिव साइड) का तो लेखक को पता ही नहीं है ।

कविवर शेक्सपियर की दुःखांत कविताओं की आलोचना करते समय ब्रैडले महोदय ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि उक्त कविवर ने इस निराशा के अंधकार में 'ईश्वर है जो हमारे अंत का निर्माण करता है' की झलक कायम रक्खी है, परंतु वह निशावसान के टिमटिमाते तारों के प्रकाश की भाँति है, तुलसीदास के आनंदमय प्रभात की भाँति नहीं । तुलसीदास के संसार में न केवल भरत, सीता और दशरथ को आशा का प्रसाद मिला है, अपितु मंथरा और कैकेयी भी सरस्वती द्वारा भगवान् के ही रहस्य के साधन के रूप में रक्खी गई हैं । अनंतकालीन दंड के निराशावाद का तो वहाँ पता भी नहीं है । बुराई चाहे रावण के रूप में ही क्यों न हो, सांत है, और अंततोगत्वा एक वही अगाध आनंदमयी शक्ति रह जाती है जिसमें रावण का आत्मा भी लीन हो गया था । अथाह गहराई से अथाह गहराई में गमन करने वाली पाश्चात्य उक्ति यदि आत्मा पर घटित की जाय तो तुलसी की विश्व-व्याख्या के अनुसार वह आत्मा का भगवान् की आनंदमयी शक्ति के अगाध समुद्र से निकलकर, दुनिया में अपना काम पूरा करके (फिर चाहे कितना ही घूम फिरकर सही), उसी समुद्र में विलीन हो जाने का भाव व्यक्त करती है। कबीर का भी यही सिद्धांत है कि 'दरियाव की लहर फिर उसी में समा जाती है ।' श्री रवींद्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'साधन' नामक पुस्तक में लिखा है कि बुराई क्यों है, यह प्रश्न रूपांतर से वही प्रश्न है कि अपूर्णता क्यों है या उत्पत्ति क्यों है ? वह कहते हैं कि बुराई स्थायी वस्तु नहीं है । सत्य है, और इसीलिये तो चाहे मनुष्य को दिखाई देनेवाले जीवन का भाग दुःखांत दिखाई पड़े, वास्तव में कोई जीवन आध्यात्मिक दृष्टि से दुःखांत नहीं हो सकता ।

उपर्युक्त विवेचना के बाद यह प्रश्न रह जाता है कि फिर अयोध्याकांड को दुःखांत कहा जाय या नहीं? यदि हम पाश्चात्य सिद्धांत को अक्षरशः मान लें तो फिर इसे दुःखांत नहीं कह सकते, क्योंकि यद्यपि अभी अयोध्या में भगवान् का पुनरागमन बहुत दूर की बात है और इसी कारण अभी वह आनंद की हिलोर कहाँ जो उत्तरकांड के आरंभ में उमड़ेगी, फिर भी करुण रस शांत रस से मिलकर आशाजनक अंत के रूप में परिवर्तित हो गया है। हमें प्रत्येक अवस्था में अरस्तू के जीवन-सुधार संबंधी उपदेश की दृष्टि से तो इसे पाश्चात्य जगत् की दुःखांत कविता से अधिक लाभदायक मानना ही पड़ेगा। पौर्वात्य नाटकों का विभाजन करने में तो रसों की प्रधानता के विचार से ही दुःखांत तथा सुखांत कविताओं के नाम लिए जा सकते हैं।

मुझे शेक्सपियर के चार दुःखांत नाटक—हैमलेट, अथेलो, मैकबेथ और किंग लियर इतने प्रिय रहे हैं कि मैंने इनकी न जाने कितनी ही आलोचनाएँ पढ़ीं और ब्रैडेल की 'शेक्सपेरियन ट्रैजेडी' तो इस समय भी मेरे पास है; अतः इस लेख की तुलनात्मक आलोचना में विशेषतः इन्हीं सबका हवाला मिलेगा। कालेजों के हिंदी-साहित्य के विद्यार्थियों को इस तुलनात्मक आलोचना से विशेष लाभ होने की संभावना है। मुझे स्वयं इस तुलनात्मक विचार से यह अनुभव हुआ है कि शेक्सपियर मुझे कम प्रिय नहीं, परंतु तुलसी शेक्सपियर की अपेक्षा अधिक प्रिय हैं और इसी भावको बराबर सामने रखने की प्रार्थना मैं अपने पाठकों से भी करता हूँ।

२—करुणरस संबंधी चरित्र तथा घटनाएँ

हम यह देख चुके हैं कि पाश्चात्य नाट्यकला-संबंधी करुणरस का सिद्धांत तुलसीदासजी के अयोध्याकांड में कहाँ तक लागू होता है, परंतु हमारा वह अवलोकन यवन—पंडित अरस्तू के सिद्धांत पर

निर्भर था; अतः बहुत साधारण था। अब प्रस्तुत लेख में विस्तृत विवेचना की जा रही है। ब्रैडले महोदय का कथन है कि दुःखांत नाटक एक ऐसी असाधारण विपत्ति की कहानी होती है जिसमें किसी उच्च पदवाले मनुष्य की मृत्यु का समावेश हुआ करता है। इससे महाराज दशरथ की मृत्यु अयोध्याराज्य में एक ऐसी बड़ी हलचल उत्पन्न कर देती है जिसे दुःखांत नाटक की परा-काष्ठा ही कहनी चाहिए। परंतु तुलसीदासजी की कल्पना इसके विरुद्ध है। एक तो तुलसीदासजी हमारा ध्यान केवल एक ही व्यक्ति में केंद्रित नहीं करते, दूसरे वह केवल मृत्यु को ही जीवन की महत्तम करुणाजनक घटना नहीं मानते। दुःखांत नाटक का रचयिता जिन भावों को व्यक्त करता है वे विशेषतः (१) करुणा (२) भय एवं सशंकता (३) रहस्यपूर्णता और (४) मानवी विवशता के परि-चायक होते हैं। परंतु दुःखांत-नाटक का कोई उत्तम रचयिता करुणा को घृणा की अवस्था में नहीं आने देता। वह सदैव इस बात का प्रयत्न करता है कि हम यह कभी भूलने न पाएँ कि संसार में 'कर्मप्रधान' रूपी नीति का राज्य है, जिसमें यद्यपि बुराई रोग के कीटाणु के समान प्रविष्ट होकर भयानक उथल-पुथल उत्पन्न करने की चेष्टा करती है, फिर भी विश्व की विराट् रोग-नाशक शक्ति इस बात का भरसक प्रयत्न करती है कि विष को दूर कर स्वास्थ्य की पुनः स्थापना करे। तुलसीदासजी का विचार ठीक ऐसा ही है। उनकी धारणा नवीन चिकित्सा-सिद्धांत के समान यह थी कि नैतिक क्षोभ प्रकृति की वह चेष्टा है, जिसके द्वारा वह मानसिक अथवा सामाजिक शरीर को रोगों से मुक्त कर सर्वथा शुद्ध कर देती है। केवल उपर्युक्त सिद्धांतों को अपनी दृष्टि में रखते हुए, तुलसीदासजी अपनी कला में स्वतंत्र हैं; अर्थात् वह दुखांत-कविता के उन कृत्रिम सिद्धांतों को नहीं मानते जो पाश्चात्य जगत् में प्रचलित हैं। हमें अयोध्याकांड में एक चरितनायक के स्थान पर अनेक चरितनायक

मिलते हैं। प्रारंभ में महाराज दशरथ हमें दुःखांत कविता के चरितनायक रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, जिनकी बाह्य एवं आंतरिक परिस्थितियों के चित्रण में पाश्चात्य जगत् के दुःखांत कविता संबंधी सभी सिद्धांतों का समावेश हो जाता है। वह एक साम्राज्य के सम्राट् हैं और उनकी मृत्यु के संबंध में तुलसीदासजी ठीक ही लिखते हैं कि यदि दिनेश अपने समय से पहले 'अथवैं' तो संसार क्लेश क्यों न पाए। उनके अपने उत्तराधिकारी को नियत किए बिना तथा कैकेयी को दो वरदान देकर मर जाने में अनेक भयानक संभावनाएँ बीजरूप में विद्यमान थीं। अयोध्या के वायुमंडल में जो अंधकारपूर्ण भय एवं सशंकता विद्यमान थी, उसे कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

> घोर जंतु सम सब नरनारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी॥
> घर मसान परिजन जनु भूता। ....यमदूता॥

दशरथजी की मृत्यु दुःखांत-कविता के बाह्य एवं आंतरिक सिद्धांतों की पूर्ति करती है।

उपर्युक्त बाह्य सिद्धांतों की दृष्टि से दुःखांत-कविता के चरितनायक की पीड़ाओं का कारण ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं, जिनपर उसका कोई अधिकार नहीं, फिर चाहे वे आधिदैविक हों, आधिभौतिक हों अथवा अन्य जनों द्वारा उत्पन्न हुई हों। इससे हममें करुणा का संचार होता है। इस दृष्टि से दशरथजी की मृत्यु से अधिक और कौन सी करुणाजनक दुखांत घटना हो सकती है जब कि उन जैसे सम्राट् की मृत्यु का कारण वह षड्यंत्र हो जिसे कैकेयी और मंथरा ने देवताओं द्वारा प्रेरित सरस्वती के प्रभाव से रचा था ? अब रही आधिभौतिक आकस्मिक घटनाओं की बात, सो वैसी छोटी छोटी घटनाएँ भी बड़े बड़े विप्लवों का कारण बन जाती हैं। क्या हम इस बात को भूल सकते हैं कि केवल एक रूमाल के अकस्मात् गिर जाने से 'अथेलो' नामक नाटक

की घटनाओं पर कितना बड़ा प्रभाव पड़ा ? रामचरितमानस में भी महाराज दशरथ का करुणाजनक अंत कुछ ऐसी ही आकस्मिक घटना पर निर्भर है। आह, वह घटना भी कितनी साधारण है कि राजा 'सुभाय मुकर कर लीन्हा' के कथनानुसार एक दिन दर्पण उठा लेते हैं। जब अपने कानों के समीप पके बाल देखकर उनके हृदय में राम को राज-पाट सौंपने का ध्यान उत्पन्न होता है, वह धर्म एवं प्रेम के आवेश में, जिसे वशिष्ठजी ने और भी उत्तेजित कर दिया था, इतने आत्मविस्मृत हो जाते हैं कि उन्हें महारानी कैकेयी से सम्मति लेने अथवा भरतजी को बुला लेने का ध्यान ही नहीं रहता। परंतु राजा की इन्हीं दो भूलों पर मंथरा के कुटिल एवं ईर्ष्यापूर्ण मस्तिष्क ने सारा बखेड़ा खड़ा कर दिया और कैकेयी को कौशल्या के षड्यंत्र से सूचित कर उपर्युक्त भूलों का चित्रण ऐसे कालिमापूर्ण शब्दों में किया कि कैकेयी भी काँप उठी। परंतु इस बहिरंग दुःखांत-कविता के सिद्धांत-निरूपण से हमारे हृदय में भय, दुःख अथवा करुणा भले ही उत्पन्न हो, पर हमें कोई विशेष शिक्षा नहीं मिलती। हम महाकवि शेक्सपियर के कथनानुसार[१] यह अनुभव करते हैं कि मानो मानवी जीवन करुणा और विवशता का जीवन है अथवा महाकवि रवींद्र के शब्दों में[२] "यह अनुभव करते हैं कि विश्व की रचना हमारे प्रतिकूल है और हम बिल्कुल लाचार हैं।

इसी कारण प्रायः सभी दुःखांत कविताओं के रचयिता उन कविताओं के आंतरिक सिद्धांत की ओर हमारा ध्यान विशेषतया आकर्षित करते हैं और अपने चरितनायक के दुःखांत जीवन को उसी की किसी न किसी चारित्रिक त्रुटि पर अवलंबित करते हैं। उदाहरणार्थ

१—'द पिटी अव इट ऑल, यागो।'

२—'इन ऐन एलियन अरेंजमेंट अव थिंग्ज।'

महाकवि शेक्सपियर के चरितनायकों में मैकबेथ के दुःखांत जीवनका कारण उसके चरित्र में राजैषणा का बीजरूप से होना ही था। इसी प्रकार अथेलो के पतन का कारण भी उसकी ईर्ष्या का अविकसित रूप ही कहा जा सकता है। दशरथ में भी केवल यही त्रुटि थी कि वह हृदय के शासक न होकर स्वयं हृदय के शासन में रहते थे। वह कैकेयी पर आसक्त थे और राम को भी बहुत चाहते थे। राम को युवराज बनाकर अपनी हार्दिक इच्छा की पूर्ति इतनी शीघ्रता के साथ करना चाहते थे कि वह आवेगवश कैकेयी से सम्मति लेना अथवा भरत को बुलाना ही भूल गए। कौशल्या को भी लग्न के ठीक समय का पता न था जिससे विदित होता है कि उससे भी दशरथ ने कोई परामर्श नहीं किया था। परंतु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कुशल कवि दुःखांत कविता के इस अंग को इतना कटु नहीं बनाता कि हम चरितनायक से ही घृणा करने लगें। एक करुणा ही दुःखांत कविता के सौंदर्य की मूल है; उसी को प्रत्येक दशा में स्थिर रहना चाहिए। कौन ऐसा होगा जो दशरथ की उस तनिक सी त्रुटि को क्षमा की दृष्टि से न देखेगा? मैं तो यह कहूँगा कि यहाँ तुलसीदासजी शेक्सपियर से बढ़ गए हैं; क्योंकि हमारे हृदय में दशरथ की अपेक्षा मैकबेथ और अथेलो के प्रति घृणा का भाव अधिक उत्पन्न हो जाता है—केवल हैमलेट तुलसीदासजी के आदर्श के निकट पहुँचता, यदि वह अपनी कोमल एवं निरपराध प्रेमिका के प्रति अकारण ही कटु व्यवहार का प्रदर्शन न करता। यद्यपि तुलसीदासजी दशरथ की उपर्युक्त त्रुटि की ओर हमारा ध्यान उस संभाषण में भी दिखाने से नहीं चूकते, जो भरत ने कैकेयी से किया था, फिर भी वह हमारे ध्यान को अधिकतर कैकेयी की दुष्टता पर ही केंद्रीभूत करते हैं। यदि चरितनायक की त्रुटियाँ, घटनाओं और उसके दुःखांत परिणामों का शृंखलाबद्ध एवं तार्किक वर्णन हो जायँ तो दुःखांत कविता के अध्ययन से विश्व के प्रति जो 'न जानत जोग'

रहस्य का भाव हमारे हृदय में उत्पन्न होता है, वह सर्वथा विलुप्त ही हो जाय। वर्डस्वर्थ का कथन है कि वैज्ञानिक अपनी माता की समाधि का भी अन्वेषण करने से नहीं चूकता। तुलसीदासजी हमें इस बात का अवकाश ही नहीं देते कि हम इस उक्ति में निहित आक्षेप के पात्र बनें। दुःखांत कविता पढ़ने के पश्चात् हमें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जगत् रहस्यमय है और उसमें कहीं तो दुष्टता के दूरीकरण के लिये दुष्टता की ही आवश्यकता है और कहीं संसार रूपी चक्की के दोनों पाटों के बीच भले बुरे दोनों ही पिसते दिखाई देते हैं। इसी कारण जब दशरथजी अपने कर्मों द्वारा राम को राज्यच्युत देखते हैं, तो अनायास ही कह उठते हैं--

> और करै अपराध कोउ और पाव फलभोग।
> अति विचित्र भगवंत गति को जग जाने जोग॥

साधारण दुःखांत नाटक के रचयिता के लिये तो इतना ही पर्याप्त है, परंतु तुलसीदासजी महाकाव्य के रचयिता भी हैं और उन्होंने नाटक और महाकाव्य का एकीकरण करके साहित्य-संसार में वह काम किया है जो किसी अन्य कवि से नहीं बन पड़ा। महाकाव्य का उद्देश्य ही यह है कि वह विश्व के रहस्य का उद्‌घाटन करे, और 'नहिं जानन जोग' बातों को 'जानन जोग' बना दे। अब यह देखना चाहिए कि तुलसीदासजी उपर्युक्त दोनों परस्पर विरोधी सिद्धांतों को किस प्रकार निभाते हैं। वह उस करुण दृश्य में, जो दशरथजी की मृत्यु के पूर्व अथवा उसके पश्चात् अयोध्यापुरी में दृष्टिगोचर होता है, उस रहस्य को ज्यों का त्यों बना रहने देते हैं। पहले पहल उस रहस्य का किंचित् उद्घाटन वह उस समय प्रारंभ करते हैं, जब निषाद महाराज राम की दशा पर शोक प्रकट करता है और लक्ष्मणजी कहते हैं—

को काहूकर दुख सुख दाता। निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता॥

परंतु यह स्मरण रहे कि यह उत्तर भी ठीक नहीं है और यह कि वह एक नीतिज्ञ का दिया हुआ उत्तर है। वास्तविक उत्तर तो यह है कि महाकाव्य की दृष्टि से राम अलिप्त, जीवन्मुक्त, मर्यादापुरुषोत्तम एवं विष्णु के अवतार हैं और उनके काम 'लीलामय' हैं, कर्मवश नहीं। तुलसीदास जी स्वयं कहते हैं कि——

जस काछिय तस चाहिय नाचा।

इससे उपर्युक्त कथन की ही पुष्टि होती है। परंतु साथ ही वह एक कुशल कवि के समान इस दार्शनिक सिद्धांत पर आवश्यकता से अधिक जोर नहीं देते कि कहीं हमारे हृदय से करुण-भाव ही न चला जाय।

सारांश यह है कि महाराज दशरथ की मृत्यु ऐसी परिस्थितियों में हुई जिनमें बहिरंग तथा अंतरंग दोनों प्रकार की दुःखांत कविताओं का व्यक्तीकरण होता है और विश्व की रहस्यमयता का भाव भी स्थिर रहता है। शोक की बात यह है कि जब महाराज दशरथ रामजी के विजयी होने के पश्चात् दिव्य लोक से उनसे मिलने आते हैं तब भी उनके हृदय की भावपूर्णता बनी ही रहती है, यद्यपि उनका पार्थिव शरीर बहुत समय पूर्व विलुप्त हो चुका था। उस समय उनका पुत्र-स्नेह इतना अधिक जागृत हुआ था कि भगवान् राम को अपनी आवतारिक स्थिति से काम लेना पड़ा और उन्हें एक कुशल मानसिक चिकित्सक की भाँति कुछ कड़ी औषधि का प्रयोग कटु शब्दों के रूप में करना पड़ा[1], और तभी दशरथ जी के आत्मा को स्वस्थ होने का

१—तुलसीदासजी ने तो केवल कृपादृष्टि से ही वहाँ भी ज्ञान उत्पन्न करा दिया है।

अवसर प्राप्त हुआ। यही स्वास्थ्य-लाभ विश्व की संपूर्ण रचना का उद्देश्य है। दुःख का मानसिक चिकित्सा में वही स्थान है, जो किसी काँटे का दूसरे काँटे के निकालने में होता है।

यद्यपि अधिक व्याख्या यथास्थान की ही जायगी, फिर भी एक बात का उल्लेख यहाँ कर देना आवश्यक है। दुःखांत कविता के बाह्य एवं आंतरिक रूपों का विश्लेषण प्रायः दो प्रकार से होता है। एक ओर तो नायक के हृदय में ही बुरी और भली भावनाओं का संघर्ष होता है और दूसरी ओर उसी नायक तथा उसके किसी विरोधी के चरित्रों में भी रगड़ जारी रहती है। यहाँ बाह्य संघर्ष का रूप यह है कि एक ओर तो कैकेयी का दृढ़ दुराग्रह है और दूसरी ओर कोमल-हृदय प्रेमिक राजा अपने सत्य से उस समय तक नहीं डिगता जबतक उसका मानसिक स्वास्थ्य क्षीण नहीं हो जाता। मेरी समझ में निम्नलिखित चौपाइयों तक दशरथजी का मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहा है, उसके उपरांत वह मानसिक सन्निपात की दशा में पड़ गए हैं—

तोर कलंक मोर पछिताऊ। मुएहु मेटि नहिं जाइहि काऊ।
अब तोहिं नीक लागि कर सोई। लोचन ओट बैठि मुख गोई॥

क्या इसमें एक राजा की दृढ़ता नहीं है?

जौलौं जियौं कहौं कर जोरी। तौलौं जनि कछु कहसि बहोरी॥
फिर पछतैहसि अंत अभागी। मारेसि गाय नाहरू लागी॥

भविष्य का कितना सत्य एवं तार्किक निरूपण है! परंतु अंततः सन्निपात की ही विजय होती है, जिसका प्रारंभ निम्नलिखित दोहे से ही हो गया है—

धरेउ राउ कहि कोटि विधि काहे करसि निदान
कपट चतुर नहिं कहति कछु जागत मनहुँ मसान॥

बहुधा अनुदार समालोचक इस बात पर तीव्र आक्षेप करते हैं कि तुलसीदासजी ने महाराज दशरथ के मुख से उपर्युक्त दोहे के बाद ऐसे शब्द कहलाए हैं जिनसे दशरथजी पर प्रतिज्ञा-भंग का दोष लग सकता है और उस दोष से तुलसीदासजी भी बच नहीं सकते। कौन उदार पुरुष ऐसा होगा जो किसी सन्निपात-ग्रसित रोगी के प्रलापों की कड़ी समालोचना करे? महाराज दशरथ की मृत्यु तलवार या खंजर द्वारा नहीं हुई थी, प्रत्युत उनसे अधिक काट करने वाले उस असीम दुःख के कारण हुई थी जो रामजी के वनवास वाले वर-दान का परिणाम था। तुलसीदास की दुःखांत काव्य रचना की विशेषता यह है कि उन्होंने नाटकीय कौशल के साथ महाराज दशरथ के मानसिक सन्निपात का वर्णन अत्यंत मार्मिक शब्दों में किया है जिसका प्रारंभ निम्न चौपाई से होता है—

राम राम रटि विकल भुआलू। जनु बिनु पंख विहंग विहालू॥

दशरथ के आंतरिक भावों के संघर्षण का वर्णन ऐसे करुणाजनक शब्दों में हुआ है कि आँसुओं को निछावर किए विना रहा नहीं जा सकता।

अब वनवास संबंधी नाटक की प्रतिनायिका कैकेयी के चरित्र पर विचार किया जाता है। उसका चरित्र-चित्रण तथा तत्संबंधी कठिनाइयों का निराकरण जिस प्रकार तुलसीदासजी ने किया है वह सर्वथा प्रशंस-नीय है। यदि कैकेयी के चरित्र को ही उपर्युक्त सिद्धांतों का ध्यान रखते हुए दुःखांत-सूचक कहा जाय तो कवि को उसके प्रति हमारे हृदय में कुछ न कुछ करुण-भाव तो अवश्य ही उत्पन्न करना चाहिए। यह काम कितना कठिन है, क्योंकि यदि उसके प्रति अधिक करुणा-भाव उत्पन्न हो गया तो वह भाव उतने ही अंश में दशरथ के हिस्से से घट जायगा। फिर यदि हमारे हृदय में वह भाव उतनी ही मात्रा में उत्पन्न

हो, जितना दशरथ के प्रति होता है तो नाटक से चरित्र-विरोध अथवा चरित्र-संघर्षण का सौंदर्य ही जाता रहे। परंतु तुलसीदासजी, इस विचार से कि कहीं हमारे हृदय में कैकेयी के प्रति केवल घृणा ही उत्पन्न न हो, ऐसा आधिदैविक दृश्य उपस्थित करते हैं, जिसमें देवताओं ने सरस्वतीजी को आग्रहपूर्वक इस बात पर राजी किया कि वह किसी प्रकार रामजी का अभिषेक न होने दें। उसी प्रेरणावश सरस्वतीजी ने मंथरा द्वारा महारानी कैकेयी को प्रभावित भी किया। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि सरस्वतीजी को स्वयं अपनी स्थिति की निकृष्टता का अनुभव हो रहा था—यहाँ तक कि जब वह विश्वकल्याण के भविष्य को भली प्रकार हृदयंगम कर सकीं, तभी उनका अंतरात्मा संतुष्ट हो सका। यह बात निम्न चौपाइयों से प्रकट है—

> आगिल काज विचार बहोरी। करिहैं चाह कुशल-कवि मोरी॥
>
> हरषि हृदय दशरथपुर आई।......इत्यादि

निष्काम-कर्म-जनित हर्ष ऐसा ही होता है। दूसरी ओर जब हम यह देखते हैं कि मंथरा दैविक शक्तियों के हाथ में कैकेयी के हृदय परिवर्तनार्थ केवल एक नैमित्तिक कारण रूप है तो क्या हम मंथरा और कैकेयी दोनों के प्रति क्षमा का अनुभव नहीं करने लगते? परंतु इसी भाव को यदि कवि अत्यधिक मात्रा में अनुभव करने का अवकाश दे तो कैकेयी के प्रति वह घृणा हमारे हृदय में उत्पन्न ही न हो, जिसका कुछ मात्रा में होना इसलिये आवश्यक है कि दशरथ के प्रति हमारे हृदय में करुण-भाव उत्तेजित हो। देखिए, कुशल कवि ने यह कार्य किस प्रकार संपादित किया है? वह यह करता है कि दैविक दृश्य का बहुत संक्षेप में ही व न करता है और उसके बाद ही प्रेम, उत्साह एवं करुणा के आवेगों के ऐसे ऐसे दृश्य हमारी कल्पना-शक्ति के सामने रखने का प्रयत्न करता है कि हम इसे प्रायः भूल ही जाते हैं कि कैकेयी दैवी

शक्तियों के हाथों में कठपुतली की तरह काम कर रही है। हमारी दार्शनिक निष्पक्षता मानो करुणरस के समुद्र में डूब जाती है। इस निमग्नता से कोई पृथक् रहता है तो वह केवल राम का ही व्यक्तित्व है और इसीलिये तुलसीदासजी ने इस विचार को एक सुंदर रूपक द्वारा चित्रकूट-संबंधी दृश्य में प्रकट करते हुए कहा है कि मानो राम इस करुण-रस के कटक को अपने उस आश्रम में लिए जाते हैं जो शांतिरस का भांडार है। यहाँ पर तुलसीदास, शेक्सपियर और बर्नार्ड शा द्वारा रचित आधिदैविक दृश्यों पर तुलनात्मक विचार करना अत्यंत रुचिकर होगा। विस्तृत व्याख्या यथास्थान आगे होती रहेगी, यहाँ इतना ही कह देना अलम् है कि तुलसीदासजी इस मामले में शेक्सपियर क्या, बर्नार्ड शा से भी बहुत आगे बढ़ गए हैं।

उपर्युक्त कठिनाई का निर्वाह तुलसीदासजी इस प्रकार भी करते हैं कि जब तक दशरथ जी रंगमंच पर रहते हैं तब तक हमारे हृदय में कैकेयी के स्वार्थ एवं दुष्टतापूर्ण दृढ़ संकल्प के प्रति घृणा का भाव उत्तेजित रखते हैं। यथा—

भिल्लिनि जनु छोड़न चहति वचन भयंकर बाज

परंतु जब दशरथजी एक बार हमारी दृष्टि की ओट हो जाते हैं और उनके मृत्युजनित शोक एवं कैकेयी की दुराग्रहजनित घृणा का प्रचंड प्रवाह घट जाता है तब तुलसीदासजी भी अपनी कथन-शैली बदल देते हैं। कैकेयी के पुत्र भरत ने स्वयं जिन शब्दों में अपनी माता के प्रति घृणा प्रकट की है, वे कठोरता में उन शब्दों से भी बढ़कर हैं, जिन्हें हैमलेट ने अपनी माता के प्रति प्रयुक्त किया है। तुलसीदासजी का कथन है—

जबते कुमति कुमत मन ठयऊ। खंड खंड है हृदय न गयऊ॥
वर माँगत मन भइ नहिं पीरा। जरि न जीभ मुँह परेउ न कीरा॥

परंतु इसी दृश्य में जहाँ एक ओर कैकेयी ने अपने पुत्र की आरती सोत्साह और सहर्ष उतारी है, वहाँ उसने दशरथजी की मृत्यु और तज्जनित परिणामों पर चार आँसू भी बहाए हैं और स्वयं कहा है—

कछुक काज बिधि बीच बिगारयो। भूपति सुरपतिपुर पग धारयो॥

परंतु तुलसीदासजी ने तो उन आँसुओं को 'कपट नीर' ही कहा है, क्योंकि भरत की कटु आलोचना के पूर्व तो कैकेयी को अपने कुव्यवहार का तनिक भी अनुभव न था और उसका अश्रु-प्रवाह अधिकतर दिखावा ही था। देखिए न, उपर्युक्त चौपाई में भी केवल 'काज' के 'कछुक' ही बिगड़ने का वर्णन है, और उसके लिये भी विधाता ही लांछित हुआ है। यदि हम कैकेयी और हैमलेट की माता के पश्चात्तापों का तुलनात्मक निरीक्षण करें तो निस्संदेह हमें बड़ा साहित्यिक आनंद प्राप्त होगा। दोनों अपने पुत्रों की अभ्यर्थना से प्रभावित होती हैं; परंतु कैकेयी अधिक दृढ़ होने के कारण अपना पश्चात्ताप व्यक्त नहीं करती। हम इस चुप्पी को कठोर-हृदयता ही क्यों न कहें, परंतु यह बात भी नाटकीय कौशल की परिचायक है, क्योंकि यदि हमारी घृणा का भाव सहसा विलुप्त हो जाय तो इस अद्वितीय दृश्य का सारा सौंदर्य ही जाता रहे। कैकेयी भरत के कठोर शब्दों का कोई उत्तर नहीं देती, परंतु हैमलेट की माता का उत्तर करुणा से परिपूर्ण है। कैकेयी के संबंध में हमें यह स्पष्ट अनुभव होता है कि उसका कठोर हृदय भी द्रवीभूत हो रहा है और उसका मस्तिष्क आंतरिक निरीक्षण में लगा हुआ है। तभी तो वह भी चुपचाप भरत के साथ चित्रकूट चल देती है और राजतिलक की सामग्री ले जाने का भी विरोध नहीं करती। चित्रकूट पहुँचने पर जब रामजी उससे शुद्ध पुत्रवत् प्रेम से मिलते हैं तो हम यह देखते हैं कि उनके शब्द

कैकेयी के मानसिक रोग के निमित्त महौषधि का काम कर रहे हैं। तुलसीदासजी लिखते हैं—

प्रथम राम भेंटे कैकेई। सरल सुभाव भक्ति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी। काल कर्म गति सिर धर खोरी॥

पश्चात्ताप और आत्मग्लानि के उपरांत कैकेयी अपना मानसिक स्वास्थ्य पुनः प्राप्त कर लेती है। जब चित्रकूट में महाराज जनक के आगमन की सूचना होती है, उस समय के कैकेयी के हृदयस्थ भावों का चित्रण तुलसीदासजी इस प्रकार करते हैं—

गरै गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहै केहि दूषण देई।

इसी पश्चात्ताप-भाव को हैमलेट भी अपनी माता के हृदय में जागृत करना चाहता था, परंतु वह सफल नहीं हो सका। इसके लिये जिस कोमल व्यवहार की आवश्यकता थी, हैमलेट और भरत दोनों में अपनी माताओं के प्रति उसका अभाव था। अब हमें कैकेयी के प्रति भी करुणा का अनुभव होने लगता है।

अब एक अन्य दृष्टि से भी विचार कीजिए। यदि राम के ये शब्द—

संभावित कहँ अपयश लाहू। मरण कोटि सम दारुण दाहू॥

एक नैतिक सिद्धांत का प्रकटीकरण करते हैं, तो क्या कैकेयी मृतक से भी गई-बीती है? किंतु जब हम उसकी कीर्ति 'काल कर्म गति' के अनुसार सरस्वती के हाथों बिगड़ते देखते हैं तो हमारे हृदय में करुण-भाव जागृत हो जाता है। आह, यह कैकेयी कौन है जो दैवी शक्तियों द्वारा इतनी अधिक सताई जाती है? वह एक ऐसी सम्राज्ञी और वीर क्षत्राणी है जो रण-क्षेत्र में भी अपने पति की सहायता कर चुकी है।

वह राम से अत्यंत प्रेम करती है और राम भी उससे वैसा ही प्रेम करते हैं, परंतु दैवी गति देखिए कि वही कैकेयी राम के वनवास और अयोध्यावासियों की व्याकुलता का कारण बनती है। उसकी दृढ़ता ही उसके पतन का कारण बन जाती है, क्योंकि यदि उसका हृदय निर्बल होता तो वह ऐसा कठिन संकल्प कभी पूरा न कर पाती और दशरथजी के मरने तथा उसके विधवा हो जाने के अतिरिक्त और बहुत सी बुरी घटनाओं के भी घटित होने की नौबत न आती। महाराज दशरथ के तो केवल नाशवान शरीर का ही अंत हुआ, परंतु कैकेयी की कीर्ति तो सदा के लिये कालिमा-पूर्ण हो गई। अतः कैकेयी की अवस्था अधिक करुणा-जनक है। स्थूल दृष्टि से इस चरित्र-संघर्षण में विजय कैकेयी की दिखाई पड़ती है, परंतु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्नेह और सत्य की परीक्षा में दशरथ ही विजयी प्रमाणित होते हैं। अब यह एक रहस्य-पूर्ण प्रश्न है कि वस्तुतः दुःखांत किसका हुआ ?

मंथरा और कैकेयी के चरित्र-संघर्षण का एक दूसरा पक्ष भी है जो यागो और अथेलो के चरित्र-संघर्षण के समान ही रोचक है। तुलना से प्रकट होगा कि दोनों कवि काव्य-कला में पारंगत हैं और दोनों की दुःखांत नाटक-संबंधी धारणाएँ भी इस पक्ष के संबंध में समान ही हैं। कैकेयी और अथेलो के साधारण प्रेम में ईर्ष्यारूपी विष जिस प्रकार प्रविष्ट कराया गया है, वह दुःखांत-कविता के आंतरिक सिद्धांत की दृष्टि से बड़ा सुंदर बन पड़ा है। इस विषय की चर्चा हमें आगे विस्तारपूर्वक करनी है, यहाँ केवल इतना उल्लेख कर देना अलम् है कि कैकेयी के दुःखांतक चरित्र की कल्पना में भी आंतरिक और बाह्य दोनों सिद्धांतों का समावेश हुआ है। कैकेयी के चरित्र में दो मर्मभेदी वृत्तियाँ दिखाई देती हैं, एक तो उसकी सद्यः उत्पन्न विलासिता जिसपर मंथरा ने 'प्रिय सेज तुराई' कहकर कटाक्ष किया है, और दूसरी उन स्वजनों के प्रति तीव्र तर्कपूर्ण निरीक्षण-शक्ति का प्रयोग जिनके प्रति केवल पवित्र प्रेम होना चाहिए।

कवि रवींद्रनाथ ठाकुर महोदय भी कहते हैं कि प्रेम के बहीखाते में धन और ऋण साथ ही जोड़े जाते हैं। प्रेमिक उस हानि को लाभ ही समझता है जो प्रेम द्वारा आमंत्रित की जाय। 'मैं करि प्रीति परीक्षा देखी' में कैकेयी के आत्मिक पतन की समस्त दुःखांतक संभावनाएँ विद्यमान हैं।

दशरथ और कैकेयी दोनों के चरित्रों में पाश्चात्य दुःखांतक साहित्य के सिद्धांतों का ही अधिकतर समावेश है, अतः उनकी विस्तृत व्याख्या करनी उचित जान पड़ी। जीवन-सरिता के इस दुःखांतक भँवर में बहुत से कोमल और निरपराध चरित्र भी पड़ जाते हैं और इसीलिये उनके प्रति हमारे हृदय में अधिकतर करुणा उत्पन्न होती है। बेचारी कौशल्या इसी भँवर में डूबती दिखाई देती है, परंतु यदि कोई गुण उसे बिल्कुल डूब जाने से बचाए रखता है तो वह उसका मानसिक स्वास्थ्य ही है, जिसकी सहायता से वह दुःख के समय में भी किसी समस्या के प्रत्येक पक्ष पर सम्यक् रूप से विचार करने के उपरांत कोई निर्णय करती है। उदाहरणार्थ उसने राम के रोक रखने अथवा वन जाने देने के दोनों पक्षों पर विचार करते हुए किस उत्तमता से ये शब्द कहे हैं—

राखहुँ सुतहिं करहुँ अनुरोधू। धर्म जाहि अरु बंधु-विरोधू॥

उसके शोक और दुःख का कारण यह है कि उसके हृदय में ममता की ऐसी लहरें उठती हैं जो उसे 'सनेह-कातर' बना देती हैं। कौन ऐसा मनुष्य है जो इस दोहे को आँसू बहाए बिना पढ़ सके—

बहुरि वत्स कहि, लाल कहि, रघुपति, रघुबर, तात।
कबहिं बुलाइ लगाइ उर, हर्ष निरखिहौं गात॥

परंतु वह इतनी निःस्वार्थी है कि हृदय की भावनाएँ उसे कुपथ पर नहीं ले जा सकतीं। वह कहती है—

गहबर हिय कह कौसिला, मोहिं भरत कर सोच ।

इस प्रकार कौशल्या का चरित्र न केवल कैकेयी की, प्रत्युत दशरथ की तुलना में भी विरोधाभास का परिचायक है। कौशल्याजो अपने शब्दों द्वारा दशरथजी के मानसिक सन्निपात की चिकित्सा का भरसक प्रयत्न करती हैं, परंतु विधि का विधान कुछ और ही है। राम और कौशल्या दोनों निरपराध हैं ; अतः जब हम देखते हैं कि उनके सांसारिक सुख में बाधा पड़ रही है। तो हमारे हृदय में उनके प्रति करुणा का संचार होना स्वाभाविक है। उनकी दशा में दुःखांत कविता का भाव नितांत बहिरंग रीति पर ही है। संभवतः इसीलिये अयोध्याकांड में न सही, अंत में दोनों ही सांसारिक सुख की उपलब्धि करते हैं। भरतजी भी निष्पाप भोक्ता हैं और उन्हें अपनी आदर्श पूर्ति के लिये दुःख भोगना पड़ता है। यहाँ हम उनकी गणना दुःखांत-चरित्र के पात्रों में इस हेतु करते हैं कि उनके आदर्शपूर्ण विचार में यह लोकापवाद ही उनके लिये अत्यंत दुःखदायक है कि वे अपनी माता के षड्यंत्र में सम्मिलित हैं। तुलसीदासजी ने भी उनके इस दुःख का ऐसे विस्तार से वर्णन किया है कि हमारे हृदय में उनके प्रति करुणापूर्ण आदर का भाव उत्पन्न होता है। भरतजी स्वयं कहते हैं—

पितु सुरपुर, सिय-राम वन, करन कहहु मोहिं राज ।
यहि ते जानहु मोर हित, कै आपन बड़ काज ॥

परिस्थितियों के इस वर्णन में कितना सुंदर और साथ ही कितना व्यंगपूर्ण विरोधाभास है ! वह स्वयं इन परिस्थितियों को किस दृष्टि से देखते हैं, यह बात इन पदों से प्रकट होगी—

मोहिं समान को पाप-निवासी । जेहि लगि सीय राम वनवासी ॥
राव राम कहँ कानन दीन्हा । बिछुरत गमन अमरपुर कीन्हा ॥
मैं सठ सब अनरथ कर हेतू । बैठि बात सब सुनहुँ सचेतू ॥

ऐसी परिस्थितियों में पड़कर भरतजी को अपना चैतन्य रहना ही दुःखमय प्रतीत होता है। भरत और हेमलेट के चरित्र की तुलनात्मक व्याख्या आगे अधिक विस्तार से की जायगी, परंतु यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि केवल आदर्श-पूर्ण पूर्व ही ऐसे आदर्श पुरुष का निर्माण कर सकता है, जो राज्य और संपत्ति से वंचित होने पर दुःखी होने की अपेक्षा इस बात पर दुःखी हो कि उसे विना अधिकार के राज्य और संपत्ति मिल रही है। यदि भरत के आदर्शवाद को सफलता प्राप्त होती है तो उसका कारण एक तो उनका क्रियात्मक स्वभाव और दूसरे उनके चतुर्दिक् सहानुभूतिपूर्ण वातावरण की उपस्थिति है। हम अभी कौशल्याजी को 'मोहिं भरत कर सोच' कहते हुए देख चुके हैं। राम को भरत पर ऐसा दृढ़ विश्वास था कि लक्ष्मण के शंका करने पर भी उन्होंने स्वयं कहा था कि—

भरतहिं होइ न राजमद, विधि-हरि-हर गति पाय।

परंतु भरतजी को हम सदैव आदर्शपूर्ण भावों एवं कार्यों की खड़ी चट्टान के ऐसे छोर पर पाते हैं जहाँ तनिक भूल या धक्के से उनके अस्तित्व का लोप हो जा सकता है। चित्रकूट में जब महाराज जनक तथा गुरु वशिष्ठ को भी भरतजी के शोक-निवारण का कोई उपाय नहीं सूझता तो रामचंद्रजी स्वयं उस शोक के दुःखांतक परिणाम को बड़े कौशल से बचा लेते हैं। वह भरतजी के हृदय में भ्रातृ-सहयोग के भाव जागृत करते हुए कहते हैं—

रोपिय हाथ असनि के घाए।

संपूर्ण वातावरण ही बदल जाता है। राम का वियोग राम की आदर्शपूर्ति का हेतु बनकर सहनीय बन जाता है। अब राज्य का प्रबंध भी उसे रामजी की थाती समझकर किया जा सकता है। परंतु

भरत जैसे आदर्शवादी के लिये उस थाती का कोई चिह्न तो अवश्य ही चाहिए और वह चिह्न रामजी की पादुका के रूप में प्रस्तुत होता है। परंतु भरत राजसी भोग-विलास में पड़ जाने के भय से अपना समस्त जीवन ही एक त्यागी तपस्वी की भाँति नंदिग्राम में व्यतीत करते हैं। राम को इन आदर्शपूर्ण भावों एवं परिस्थियों का सम्यक् ज्ञान था और इसीलिए वह लंका-विजय पर आनंदोत्सव मनाने की जगह सीधे अयोध्या लौटने के लिये उतावले हो जाते हैं और विभीषण से कहते हैं—

> तोर कोषगृह मोर सब सत्य बचन सुनु तात।
> दशा भरत की सुमिरि मोहिं निमिष कल्प सम जात॥
>
> तापस भेस शरीर कृश जपैं निरंतर मोहिं।
> देखहुँ बेग सु जतन कर सखा निहोरौं तोहिं॥
>
> जो जैहौं बीते अवधि जियत न पाउब वीर।
> प्रीति भरत की सुमिरि प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

क्या रामजी का सामयिक पुनरागमन भरत के जीवन की एक और महान दुर्घटना को नहीं टाल देता? भरतजी निष्पाप थे और इसीलिये चौदह वर्ष की कठिन परीक्षा के बाद उन्हें धर्मजनित सुख इसी लोक में प्राप्त हो गया। साथ ही उपर्युक्त परीक्षा की कड़ी आँच से यह प्रमाणित हो गया कि भरतजी शुद्ध सुवर्ण थे। भरत से अधिक और किसके प्रति इतनी सकरुण सहानुभूति का प्रादुर्भाव हो सकता है? यही कारण है कि तुलसीदासजी पाश्चात्य साहित्य के दुःखांत कविता-विषयक इस सिद्धांत से सहमत नहीं हैं कि वैसी कविता का अंत मृत्यु में ही होना चाहिए, मानो किसी अन्य घटना से पूर्ण करुणा उत्पन्न ही नहीं हो सकती। तुलसीदासजी की दृष्टि में यह विचार बहुत ही भद्दा है।

बर्नार्ड शा के विचार से, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है, भगवान् राम के चरित्र को किसी अवस्था में भी दुःखांतक नहीं कह सकते, क्योंकि वह विश्व के शुद्धिकारक दैवी साधन में जान-बूझकर अपना सहयोग दे रहे हैं। अतः हम रामजी के चरित्र को महाकाव्य संबंधी वीर-चरित्र ही कह सकते हैं।

ब्रैडले महोदय अपने 'दुःखांत-कविता का उपादान कारण' शीर्षक द्वितीय लेख के अंत में लिखते हैं—

* 'मनुष्यों को विधि-विधान की सार्थकता समझाना तथा यह दिखलाना कि यह विश्व ईश्वरीय सुखांत रचना है, शेक्सपियर का उद्देश्य नहीं था। वह दुःखांत कविता का लेखक था और वैसी कविता की सार्थकता यह दिखलाने में है कि संसार की रचना एक दुःख-पूर्ण रहस्य है।' *

तुलसीदासजी उपर्युक्त सिद्धांत के अंतिम भाग से सहमत तथा प्रथम भाग से एकदम असहमत जान पड़ते हैं। यह विश्व फूलों की सेज न होने के कारण भले ही सुखांतक न हो, परंतु ऐसा क्यों हो कि हम दुःखांत कविता में विधि-विधान की सार्थकता न दिखला सकें तथा उसे रहस्यमय न प्रमाणित कर सकें ? तुलसीदासजी ने उपर्युक्त उभय सिद्धांतों का एकीकरण अयोध्याकांड में बड़ी सफलता से किया है। हमें अपने कवि के दोष उस प्रकार स्वीकार नहीं करने पड़ते जिस प्रकार ब्रैडले महोदय को निम्नलिखित शब्दों में करना पड़ा है—

'शेक्सपियर के विषय में हम यह भी नहीं कह सकते कि उसने दुःखांत कविता के अन्य लेखकों की भाँति हमें ठीक किसी ऐसी दिशा की ओर संकेत किया है जहाँ विश्व के रहस्य का उद्‌घाटन हो सके।'

इसीलिये जहाँ शेक्सपियर हमारे नैतिक आदर्श को उच्च बनाने में असफल होता है, वहाँ तुलसीदासजी हमारी मानसिक, नैतिक एवं

आध्यात्मिक तृष्णा की तृप्ति भली प्रकार करते हुए करोड़ों मनुष्यों का पथ-प्रदर्शन करते हैं। उनकी शैली भी शेक्सपियर से कम रोचक और काव्यमयी नहीं है। मेरा तो विचार है कि इसमें दोष शेक्स-पियर का उतना न था, जितना पाश्चात्य साहित्य के दुःखांत-कविता-संबंधी संकुचित सिद्धांतों का।

३—भरत और हैमलेट

क—हैमलेट का कथा-संक्षेप

भारत और हेमलेट के तुलनात्मक अध्ययन के लिये शेक्सपियर का 'हैमलेट' नामक नाटक अथवा कम से कम उसका कोई सुंदर अनुवाद पढ़ लेना अत्यावश्यक है। पाठकों की सुविधा के लिये यहाँ उसकी संक्षिप्त कथा दे दी जा रही है।

नाटक का दृश्य डेन्मार्क की राजधानी की गढ़ी के सामने आरंभ होता है। गढ़ी के भीतर राजमहल है। आधी रात का समय है और पहरा बदल रहा है। जो पदाधिकारी पहरा बदलाने आए हैं उनके साथ राजकुमार हैमलेट का मित्र होरेशियो भी है। होरेशियो इस बात का पता लगाने आया है कि इस उड़ती हुई खबर में कहाँ तक सचाई है कि संतरी ने दो बार एक प्रेत देखा है। होरेशियो दार्शनिक और संदिग्धचित्त पुरुष है, एवं इसी-लिये उसे इस बात पर विश्वास नहीं होता। वे लोग बातें कर ही रहे थे कि अकस्मात एक मूर्ति दिखाई पड़ी जिसकी आकृति राजकुमार हैमलेट के मृत पिता से मिलती जुलती थी। होरेशियो ने बहुत प्रश्न किए पर वह मूर्ति उत्तर दिए बिना ही चली गई। अब तो उसे विश्वास हो गया कि वह अवश्य ही प्रेत था और राष्ट्र पर कोई बड़ी विपत्ति आनेवाली है।

अब तीनों मित्रों में लड़ाई की उन तैयारियों पर बातचीत होने लगी जो डेन्मार्क भर में बड़े जोरों से हो रही थीं। इतने में सहसा वह प्रेत फिर दिखाई पड़ा। होरेशियो ने फिर प्रश्न किया पर इस बार भी कोई उत्तर न मिला और मुर्गे की ध्वनि होते ही वह प्रेत अंतर्धान हो गया। अब तो होरेशियो ने दृढ़ निश्चय कर लिया कि वह इस घटना की सूचना हैमलेट को अवश्य देगा। पहरे का समय भी बीत चुका था, अतः सब पृथक् पृथक् चले गए।

दूसरे दृश्य में राजमहल के राजसभा वाले कमरे में राजा, रानी, राजकुमार हैमलेट, राजमंत्री पोलोनियस और उसका पुत्र लेयरटीज तथा अन्य लोग उपस्थित हैं। राजा ने बड़ी गंभीरता से राजकुमार हैमलेट के पिता और अपने भ्राता की मृत्यु के कारण अपने राजसिंहासन पाने की बात कही और यह भी बतया कि उसने अपने मंत्रियों के परामर्श से राजकुमार हैमलेट की माता तथा अपने भ्राता की विधवा से विवाह कर लिया है। उसने अपने भाषण में यह घोषणा भी की कि वह नार्वे के राजा फ्रांटीब्रास की धमकी के अनुसार उसके आक्रमण का सामना करने की तैयारी बड़े जोरों से कर रहा है और इस संबंध में प्रतिरोधार्थ राजदूत भी भेज दिया है। इसी बीच लेयरटीज को किसी प्रार्थना के लिये उत्सुक देख राजा उसकी ओर मुड़ जाता है। लेयरटीज अपनी शिक्षा की समाप्ति के लिये पेरिस लौटना चाहता है। उसे आज्ञा प्रदान करने के उपरांत राजा और रानी हैमलेट से वार्तालाप करते हैं और अनेक प्रकार से उसे यह समझाने की चेष्टा करते हैं कि उसका शोक अपने पिता के निमित्त आवश्यकता से अधिक है। वे उसे इस बात से सांत्वना देना चाहते हैं कि वह दोनों का प्रेम-पात्र है और वही उत्तराधिकारी होगा। इसलिये उसे भी अपने विश्वविद्यालय को लौट जाना चाहिए। हैमलेट तैयार हो जाता है, परंतु ज्योंही वह अकेला रह जाता है त्योंही अपनी स्वगत वार्ता में अपने चाचा के प्रति घृणा और उससे विवाह कर लेने के कारण

अपनी माता के प्रति घोर आश्चर्य प्रकट करता है, क्योंकि उसका चाचा उसकी माता का प्रेम-पात्र होने के योग्य कदापि न था। इसी बीच होरेशियो आदि ने आकर प्रेत-दर्शन का वृत्तांत कहा। हैमलेट को पूरा विश्वास हो गया कि वह प्रेतात्मा उसके पिता का ही है। उसने निश्चय कर लिया कि दूसरे दिन रात को स्वयं जाकर यह रहस्य जानने का प्रयत्न करेगा।

इस दृश्य के उपरांत वह दृश्य है जिसमें लेयरटीज पेरिस जाने को तैयार है और अपनी भगिनी ओफेलिया का उपदेष्टा बनकर उसे यह कड़ी चेतावनी दे रहा है कि वह राजकुमार हैमलेट की प्रेम संबंधी बातों पर विश्वास न करे। इतने में उसका पिता पोलोनियस भी आ जाता है। अब तो मानो उपदेश की पोथी ही खुल जाती है। उसने पहले लेयरटीज को बड़े बड़े उपदेश दिए और जब वह चला गया तो अपनी पुत्री ओफेलिया से राजकुमार के संबंध में वार्ता कर शिक्षा देने लगा कि वह राजकुमार को किसी तरह का बढ़ावा न दे।

—चौथे दृश्य में पुनः गढ़ी के समीप आधी रात को राजकुमार हैमलेट, होरेशियो और उसके एक अन्य साथी प्रेत के प्रकट होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वार्ता इस संबंध में हो रही है कि राज दरबार में मांस और मदिरा के साथ उत्सव मनाए जा रहे हैं, न तो किसी को राजकुमार हैमलेट के पिता की मृत्यु का शोक है और न राष्ट्र पर होनेवाले आक्रमण की चिंता। इतने में वह प्रेत प्रकट हुआ। राजकुमार हैमलेट ने अनेकानेक विनम्र प्रार्थनाओं द्वारा प्रेत से उसकी उपस्थिति का कारण जानना चाहा। प्रेत ने कोई उत्तर तो न दिया, किंतु संकेत से राजकुमार को सबसे अलग बुलाया। राजकुमार अपने को रोक न सका और मित्रों के मना करने पर भी प्रेत के पीछे चल पड़ा। थोड़ी दूर जाने पर प्रेत ने सारा रहस्य खोल दिया और बताया कि मैं किसी आकस्मिक रोग से नहीं मरा, प्रत्युत जिस समय उद्यान में सो रहा था, मेरे भाई ने

मुझे विष देकर मार डाला, क्योंकि रानी से उसका अनुचित संबंध आरंभ हो चुका था। प्रेत ने यह भी बताया कि मृत्युलोक में उसके आने का प्रयोजन यह है कि वह राजकुमार हैमलेट को इसके प्रतिशोध के लिये, कटिबद्ध करे। ज्योंही हैमलेट ने इसकी प्रतिज्ञा की, त्योंही प्रेत अदृश्य हो गया। जब राजकुमार होरेशियो के पास लौटा तो उन्होंने उस रहस्य के संबंध में बहुत से प्रश्न किए। पहले तो वह टालता रहा, परंतु फिर उसने यह शपथ लेने को कहा कि उस रहस्य को वे किसी और से न कहेंगे। वह शपथ दे ही रहा था कि पृथ्वी के नीचे से प्रेत की आवाज सुनाई पड़ी जो राजकुमार हैमलेट की बात का समर्थन करती थी। जब शपथ हो चुकी तब उसने सब रहस्य खोल दिया और यह भी कहा कि मुझे कुछ पागल का सा विचित्र व्यवहार करना पड़ेगा और पुनः शपथ दिलाई कि चाहे उसका व्यवहार कितना ही विचित्र हो पर वे लोग इस रहस्य की ओर किसी तरह का संकेत भी न करेंगे। इसपर फिर प्रेत ने राजकुमार हैमलेट का अनुमोदन किया।

कुछ समय इसी प्रकार बीता। आगामी दृश्य में पोलोनियस अपने नौकर को लेयरटीज के पास भेज रहा है और उससे कह रहा है कि जिस प्रकार लेयरटीज अपना जीवन पेरिस में व्यतीत करता है उसका पता लगाए। अभी नौकर कठिनता से बाहर गया होगा कि ओफेलिया वहाँ आई और उसने अपने पिता से बताया कि राजकुमार हैमलेट विचित्र वेश में व्याकुलता के साथ मेरे पास आय. जिससे मुझे बड़ा भय हुआ। पोलोनियस ने इन सब बातों को प्रेमावेग समझा और दृढ़ निश्चय कर लिया कि राजा को इसकी सूचना दे देगा। इसी बीच एक दृश्य में हमारा परिचय राजकुमार हैमलेट के बाल्यावस्था के दो मित्रों से कराया जाता है, जो विशेष उद्योग द्वारा राजा की ओर से इस हेतु भेजे गए थे कि हैमलेट के आकस्मिक व्यवहार-परिवर्तन के कारण का पता लगाएँ। ज्योंही वे राजमंदिर से बाहर निकलते हैं त्योंही पोलोनियस राजा के पास

आकर नार्वे से लौटे हुए दूतों के आगमन की सूचना देता है और यह बताने का भी प्रयत्न करता है कि उसने राजकुमार हैमलेट के विचित्र व्यवहार का रहस्य जान लिया है। राजदूतों की भेंट शीघ्र समाप्त हुई और पोलोनियस ने उस रहस्य के प्रकटीकरण में मानों अपने पांडित्य की गाथा खोल दी और बताया कि हैमलेट ओफेलिया के प्रेम में पागल हुआ है। पर राजा की तो 'चोर की डाढ़ी में तिनका' वाली दशा थी। उसकी दृढ़ धारणा थी कि राजकुमार हैमलेट के इस परिवर्तन का कारण प्रेम नहीं अपितु अवश्य 'दाल में कुछ काला है'। इसीलिये वह उसे जानने का भरसक और भी प्रयत्न करता है। पोलोनियस की सलाह से वह एक परदे के पीछे छिप जाता है कि हैमलेट और ओफेलिया की बातें सुन सके। इसी हेतु उन दोनों के वहाँ लाए जाने की सलाह भी पक्की हो गई। इतने में राजकुमार हैमलेट स्वयं वहाँ उपस्थित होता है और उस वृद्ध मंत्री से इस प्रकार की बातें करता है कि उसे उसके पागलपन का निश्चय हो जाय। पोलोनियस के पीछे राजकुमार के दोनों उपर्युक्त मित्र भी आते हैं, परंतु हैमलेट का रहस्य जानने के लिए उनका उद्योग भी निष्फल ही रहता है। उलटे हैमलेट ने ऐसी चतुराई से तीव्र प्रश्न, सरल कटाक्ष और बनावटी मित्रता के भरोसे का प्रयोग किया कि उन मित्रों के आगमन का रहस्य खुल गया। बीच बीच में वह अपने पागलपन से भी ऐसा काम लेता था कि वे मित्र अपना सा मुँह लेकर लौट गए। हाँ, राजकुमार हैमलेट को एक पते की बात अवश्य मालूम हो गई कि एक नाटक-मंडली अपना खेल दिखाने के लिये नगर में आ रही है। राजकुमार हैमलैट ने दृढ़ निश्चय कर लिया कि वह इस अवसर को हाथ से जाने न देगा और उन अभिनेताओं द्वारा नाटक के बीच में अपने पिता की मृत्यु संबंधी घटनाओं को इस तरह जोड़ देगा कि राजा के हाथों उसके पिता की हत्या का भेद खुल जाय। नाटक-मंडली आई, उनके अभिनेताओं से परामर्श हुआ और उन्होंने राजकुमार हैमलेट की बात

मान ली। उनके चले जाने पर हैमलेट की स्वगत वार्ता पुनः प्रारंभ होती है जिसमें वह प्रतिशोध में विलंब होने के कारण अपने को ही भला-बुरा कहता है।

तीसरे अंक के आरंभ में ही हैमलेट के उभय मित्रों ने राजा से अपनी भेंट का वृत्तांत कहा। इसके बाद ही ओफेलिया और राजकुमार हैमलेट की वह भेंट होती है जिसका प्रबंध पहले से किया जा चुका है। राजकुमार हैमलेट पागलपन की बातें करता है, परंतु राजा, जो छिपा हुआ सब सुन रहा था, इस बनावटी पागलपन को वास्तविक नहीं समझता। उसे शंका है कि कोई भयानक षड्यंत्र रचा जा रहा है। अतः वह निश्चय कर लेता है कि किसी उपाय से राजकुमार हैमलेट को इँगलैंड भेज कर मरवा डाला जाय। नाटक-मंडली का अभिनय हुआ और उसमें हत्या की घटना इस चतुराई से दिखाई गई कि राजा भय-भीत होकर सहसा वहाँ से चला गया, क्योंकि उसे निश्चय हो गया था कि कम से कम राजकुमार हैमलेट को उसके पाप का पता चल गया है। इसके बाद ही राजकुमार हैमलेट अपनी माता से मिला और पागल-पन को छोड़ उसे अपनी वास्तविकता का परिचय दिया तथा साथही उसे इतने कटु एवं घृणित शब्दों में फटकारा कि वह पश्चात्ताप करने पर लाचार हो गई। चतुर राजकुमार ने उससे यह प्रतिज्ञा करा ली कि वह उसके पागलपन आदि का रहस्य राजा को न बताएगी। पोलो-नियस उनकी बातें छिपकर सुन रहा था और जब रानी सहायता के लिये चिल्लाई तो वृद्ध मंत्री अपने को रोक न सका। सशंक हैमलेट ने समझा कि राजा स्वयं परदे के पीछे छिपा है। उसने कटार निकाल कर परदे में भोंक दी, जिससे राजा के बदले उसका मंत्री मृत्यु की भेंट हुआ।

चौथे अंक के आरंभ में रानी ने राजा को पोलोनियस की मृत्यु की सूचना दी पर चतुराई के साथ उस हत्या का कारण राजकुमार का पागलपन ही ठहराया। राजा ने राजकुमार को बुलाया और कहा कि इस

हत्या के परिणामस्वरूप मेरे और तुम्हारे बचने का केवल एक उपाय है कि मैं तुमको डेन्मार्क से बाहर भेज दूँ। राजकुमार हैमलेट इस प्रकार एक जहाज में इँगलैंड भेज दिया गया। वह सतर्क तो था ही, उसने चुपके से वह पत्र निकाला जो इँगलैंड के राजा के नाम भेजा जा रहा था और जब उसने पत्र में यह पढ़ा कि उसमें उसकी हत्या की प्रेरणा है तो बड़ी चतुराई से उसे बदल कर एक ऐसा पत्र रख दिया कि षड्यंत्र का घातक चक्र पत्रवाहक पर ही चले। इधर ओफेलिया अपने पिता की मृत्यु से पागल हो गई थी। वह पुष्प के समान कोमल थी, इसीलिये कविवर शेक्सपियर ने उसकी मृत्यु इस प्रकार बाँधी है कि वह पैर फिसलने के कारण पुष्प-शाखा का आश्रय हाथ से छूट जाने से जल में डूबकर मर गई। लेयरटीज भी लौट आता है और अपने पिता की हत्या का बदला लेना चाहता है। पहले उसका क्रोध राजा के प्रति इतना बढ़ा हुआ था कि वह विद्रोहियों के साथ राजद्वार पर पहुँचा, पर चतुर राजा ने उसे कुछ ऐसी पट्टी पढ़ाई कि उसके क्रोध का प्रवाह हैमलेट की ओर मुड़ गया। अभी वे दोनों बातें कर ही रहे थे कि राजकुमार का पत्र मिला जिसमें लिखा था कि समुद्री डाकुओं द्वारा पकड़ा जाकर वह डेन्मार्क में उतार दिया गया। अब तो दोनों ने उसकी हत्या के षड्यंत्र की रचना शुरू की। इधर राजकुमार अकस्मात उस जगह पहुँचता है जहाँ ओफेलिया के लिये कब्र खोदी जा रही थी। यहीं पर वह दृश्य है जिसमें कब्र खोदनेवालों ने एक-एक खोपड़ी को लेकर मंत्रियों, वकीलों आदि का मखौल उड़ाया और अंत में एक खोपड़ी की दुर्गंध से घृणा कर उसे पटक दिया। राजकुमार हैमलेट ओफेलिया की अर्थी आती हुई देख तनिक हट जाता है, परंतु जब लेयरटीज अपनी बहिन के शोक में कब्र के भीतर उतरता है तो हैमलेट अपने को रोक न सकने के कारण यह कहता हुआ कब्र में कूद पड़ता है कि सहस्रों भाइयों का प्रेम भी उस प्रेम की समानता नहीं कर सकता जो उसे ओफेलिया से

था। दोनों में गुत्थमगुत्थी होने लगती है, पर राजा के आज्ञानुसार वे छुड़ा दिए जाते हैं।

लेयरटीज और हैमलेट का द्वंद्व-युद्ध होता है जिसमें वह पड्यंत्र चलता है जिसकी सलाह पहले ही हो चुकी थी। लेयरटीज ने भाले को जहर में बुझवा रखा था और राजा ने प्रतिज्ञा की थी कि वह विष भी तैयार रखेगा जो यथासमय राजकुमार को पिला दिया जायगा। गुत्थमगुत्थी में कुछ ऐसी गड़बड़ी हुई कि लेयरटीजवाला भाला राजकुमार के हाथ आ गया। द्वंद्वयुद्ध में लेयर-टीज को गहरा घाव लगा। अभी युद्ध हो ही रहा था कि प्यास के कारण धोखे से जहर वाला प्याला रानी पी गई, जिससे तत्काल उसकी मृत्यु हो गई। लेयरटीज जानता ही था कि उसका घाव घातक है, अतः उसने अंतिम समय में पश्चात्ताप के कारण सारा भेद राज-कुमार हैमलेट को बता दिया। हैमलेट ने दौड़कर राजा को भी एक ही वार में समाप्त कर दिया। लेयरटीज और राजकुमार भी अपने घावों के विष के कारण मृत्यु को प्राप्त हुए।

उसी समय फांटीब्रास वहाँ पहुँचा जिसे जनता ने डेन्मार्क का राजा बनाया।

ख—आमुख

डा० मिलर का कथन है कि "शेक्सपियर की रचनाओं में 'हैम-लेट' ही सबसे अधिक उस महाकवि के मस्तिष्क में बस रहा था, क्योंकि वह लगभग अपने रचना-काल के अंत तक बराबर उसे संशोधित करता रहा" अब यदि हम इसकी तुलना रामचरितमानस के वनवास-प्रकरण से करें, जो दुःखांत नाट्य-कविता का एक अपूर्व उदाहरण है, तो संसार के इन दोनों महाकवियों में से किसी के प्रति तनिक भी अनौचित्य न होगा। ब्रैडले महोदय के कथनानुसार 'हैमलेट की संपूर्ण कथा

नायक के चरित्र की विशेषता पर निर्भर है······यह विशेषता ऐसी है जिसने कदाचित् समस्त संसार के साहित्य में अधिकतम आकर्षण उत्पन्न किया है और निश्चय ही सबसे अधिक वाद-विवाद का विषय रही है।' जब हम यह देखते हैं कि चित्रकूट में रानी सुनयना से भेंट करते समय स्वयं महारानी कौशल्या के मुख से तुलसीदासजी यह कहलाते हैं कि महाराज दशरथ 'जानेहु सदा भरत कुल दीपा' ही कहा करते थे, तो हमें अनुभव होने लगता है कि तुलसीदासजी भी अपने 'मानस' के इस भाग का केंद्र भरत को ही समझते हैं। तुलसीदासजी परखने के लिये पहले हमें यह कसौटी देते हैं—

कनक कसे मणि पारिख पाए। पुरुष परखिए समय सुभाए॥

और फिर भरत के चरित्र का अंग-अंग इस सुंदरता से, ऐसी भावपूर्ण और हृदय-द्रावक भाषा में ढालते हैं कि देखते ही बनता है। भरत प्रत्येक अवस्था एवं घटना पर विजय पाते हैं और दुःखांत कविता को सुखांत कविता में परिवर्तित कर देते हैं। साथ ही वह अयोध्या में बहुत सी ऐसी बहुमूल्य सामग्री नष्ट होने से बचा लेते हैं जो डेन्मार्क में 'हैमलेट' की दुःखांतक घटनाओं के भँवर में पड़कर नष्ट हो गई थी। इस कसौटी पर कसने से भरतजी अवश्य ही हैमलेट से खरे उतरते हैं। दोनों के चरित्रों की प्रत्येक दृष्टिकोण से तुलनात्मक आलोचना तो आगे होगी ही, पर स्वयं तुलसीदासजी ने भरत के प्रति समष्टिरूप से जो कुछ कहा है वह ध्यान देने योग्य है—

सिय-राम-प्रेम-पियूष-पूरन होत जन्म न भरत को,
मुनि मन अगम यम नियम सम दम विषम व्रत आचरत को।
दुख दाह दारिद दंभ दूषण सुयश मिसु अपहरत को,
कलिकाल तुलसी से सठहिं हठि राम सन्मुख करत को॥

क्या अब भी यह प्रत्यक्ष नहीं होता कि तुलसीदासजी के हृदय एवं मस्तिष्क पर भरत-चरित्र का ही साम्राज्य था और उसी ने दिशासूचक यंत्र की सुई की तरह तुलसीदासजी के जीवन को रामरूपी ध्रुवतारा की ओर फेर दिया था? साहित्य-मर्मज्ञों द्वारा की गई शताब्दियों की खोज के पश्चात् भी ब्रैडले महोदय को स्वीकार करना पड़ता है कि हैमलेट के पूर्ण रहस्य को कोई समझ नहीं सका। भरत के विषय में हमारे महापुरुषों की भी कुछ ऐसी ही धारणा रही है। जब गुरु वशिष्ठ ने चित्रकूट में उपस्थित कठिन समस्या को हल करने के लिये यह प्रस्ताव किया कि—

तुम कानन गौनहु दोउ भाई। फेरिय लखन सीय रघुराई॥

तो उन्हें स्वयं यह संदेह था कि कदाचित् भरत उसे स्वीकार न करेंगे। परंतु भरत ने जब उसे इस शीघ्रता, दृढ़ता और उत्साह के साथ स्वीकार कर लिया कि 'कानन करहुँ जन्म भर बासू', तो वशिष्ठजी दंग रह गए। तुलसीदासजी ने गुरु वशिष्ठजी की तत्कालीन मानसिक अवस्था का वर्णन इन शब्दों में किया है—

भरत महा महिमा जलरासी। मुनि-मति ठाढ़ि तीर अबला सी॥

महाराज जनक ने भी, जिन्हें स्वयं भगवान् कृष्ण अपनी गीता में एक अपूर्व कर्मयोगी मानते हैं, यह स्वीकार किया है कि—

धर्म राजनै ब्रह्मविचारू। यहाँ यथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोर भरत महिमाही। कहौं काह छल छुवत न छाहीं॥

हम इस लेख में यह दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि भरत के विषय में उनके उपर्युक्त दोनों समकालीन महापुरुषों ने जो कुछ कहा है वह अक्षरशः सत्य है—विशेषतः इस कारण कि उनके कथनों की प्रति-ध्वनि शताब्दियों से उसी तरह बराबर गूँजती चली आ रही है और

भरतजी कर्मयोगियों, भक्तों तथा त्यागियों, सभी के लिये सदैव आदर्श बने रहे हैं।

हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि तुलसीदासजी के प्रति न्याय करने में हम कहीं महाकवि शेक्सपियर के प्रति अन्याय न कर बैठें। इसी विचार से मैं पहले ही अपने प्रिय पाठकों से कुछ शब्द चेतावनी के रूप में कहना चाहता हूँ। बर्नार्ड शा ने ठीक ही कहा है कि इस संसार का साहित्य 'हैमलेट' तथा 'डान जुआन' के चारों ओर चक्कर लगा रहा है, जिसका अभिप्राय यह है कि संसार के बड़े बड़े लेखकों ने या तो हैमलेट जैसे आदर्शवादी या डान जुआन जैसे इंद्रियारामी चरित्रों की ही व्याख्या की है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि मानव-जीवन के इन्हीं दोनों पक्षों की व्याख्या में संसार क सारा ज्ञान संलग्न रहा है। यदि एक समुदाय त्याग का प्रचार करता है, जो आदर्शवाद का ही दूसरा नाम है, तो दूसरा समुदाय 'खाओ, पियो और मौज उड़ाओ' के सिद्धांत का समर्थक है। संस्कृत साहित्य में इसका वर्णन एक सुंदर उपाख्यान के रूप में पाया जाता है। एक समय देव और दानव समुदाय ब्रह्माजी के पास गए। उन्होंने यह प्रार्थना की कि 'भगवन्, आप हमें एक ऐसा साधारण उपदेश दें जिसे हम सरलतापूर्वक अपने जीवन में चरितार्थ कर सकें।' ब्रह्माजी ने उत्तर दिया कि 'अपने को पहचानो।' उन्होंने फिर पूछा 'हम कौन हैं ?' तो ब्रह्माजी ने एक पात्र में जल भरकर कहा कि 'अपने को इसमें देखो।' दोनों समुदाय संतुष्ट हो गए। परंतु दोनों के दृष्टिकोण पृथक् रहे; दानव समुदाय ने केवल अपना बाल रूप देखा और अपने शरीर के पालन-पोषण में लगकर उसी को अपना सर्वस्व जाना और इस प्रकार वह केवल प्रकृतिवादी रह गया। इसके विरुद्ध देव-समुदाय मननशील था। उसने सोचा कि वह आत्मा है जो आँखों से देखता और कानों से सुनता है और जिसक

प्रकटीकरण कभी मुसकान में, कभी रोमचिह्नों में और कभी चिंताजनित ललाट-रेखाओं में होता है। वह केवल इतने ही से संतुष्ट नहीं हुआ, प्रत्युत उसने अपनी अंतरात्मा में और गहरी डुबकी लगाई और उस सर्वव्यापी आत्मा को ढूँढ़ निकाला जो असंख्य आत्माओं द्वारा प्रकट होता है। एक समुदाय कहता है कि 'आकबत की खबर खुदा जाने, अब तो आराम से गुजरती है' पर दूसरे का कथन है—

शक्ले इन्साँ में खुदा है हमें मालूम नहीं।
चाँद बदली में छुपा है हमें मालूम नहीं॥

और मानो हमसे फारसी-भाषा के प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि के शब्दों में यह कहता है—

कि बचश्माने दिलमुबीं जुज दोस्त।
हरचि बीनी विदाँ कि मजहरे ओस्त॥

'दिल की आँखों से दोस्त के सिवा और किसी को न देखो और जो कुछ देखो उसे उसका ही उदय-स्थान समझो।' एक बात का स्मरण मुझे बार बार हो आता है, अतः उसे ज्यों की त्यों, बिना किसी विस्तृत व्याख्या के लिखे देता हूँ। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के मर्मज्ञों का कथन है कि 'डेन' और 'दानव' धातुरूप से एक ही हैं। कौन जाने कि भगवान् ने ही शेक्स-पियर के अंतरात्मा को अपनी कविता में मानव-जीवन को अत्यंत भौतिक बना देने के दुःखात्मक परिणामों का निरीक्षण करने के लिये प्रेरित किया हो। हैमलेट की असफलता का कारण केवल उसकी आत्मिक दुर्बलता ही न थी, प्रत्युत वह सड़न भी थी जो डेन्मार्क देश की व्यवस्था में फैल रही थी।

बेचारे हैमलेट का एक ही सच्चा मित्र है जो केवल उसकी प्रतिध्वनि है और जिसमें अपना व्यक्तित्व बहुत कम जान पड़ता है। वशिष्ठजी

के स्थान में, जिनकी विद्वत्ता तपस्या द्वारा शुद्ध हो चुकी थी और सहृदयता से ओत-प्रोत थी, हमें 'हैमलेट' में पोलोनियस मिलता है जिसकी पुस्तकीय लोकोक्तियाँ हमारे कानों में खटकती हैं। भरत की विजय 'अयोध्या' में स्पष्ट है। अयोध्या का अर्थ ही शांति-नगर है और वह उस शांति-नगर 'अयोध्या' की प्रतीक सी जान पड़ती है जिसका उल्लेख वेदों में हुआ है। इस विजय का कारण यह था कि लगभग सब लोगों को भरत के साथ सहानुभूति थी। अब रही उनकी माता की कुटिलता, सो वह भी केवल नष्ट ही नहीं हो गई थी, प्रत्युत उसके स्थान में उसकी अंततः आत्म-शुद्धि भी हो गई थी। शेक्सपियर हमारे समीप एक ऐसे महान् आत्मा का हृदयस्पर्शी चित्र उपस्थित करता है जो स्वार्थपूर्ण भौतिक जगत् की कठिनाइयों में पड़कर पागल सा हो गया था। आह, भौतिक जगत् में आदर्शवाद का कैसा दुःखद परिणाम होता है ? तुलसीदासजी हमारे समीप उन कठिनाइयों का चित्रण अवश्य करते हैं जो आदर्शवाद को संसाररूपी अग्नि-कांड में झेलनी पड़ती हैं, परतु उनके आदर्शवाद में पर्याप्त शक्ति है और उनके जगत् में भी पर्याप्त आध्यात्मिकता और सहानुभूति है। इसी से तो भरत का आदर्शवाद जीवन की उस त्रुटि पर विजय पाता है जो उनकी माता के जीवन में निहित थी। भरत में नैराश्य की वह अंतिम दशा कभी नहीं पाई जाती जिसका प्रकटीकरण हैमलेट के इन शब्दों में होता है— 'समय अस्त-व्यस्त है। ओ निंदनीय विग्रह ! अच्छा होता कि मैं तेरे सुधार के लिये पैदा ही न होता।' जहाँ एक कवि पाश्चात्य भौतिकता का दुःखांत रोना रोता है, वहाँ दूसरा कवि पौर्वात्य आदर्शवाद के विजय का सरस गान सुनाता है। या यों कहिए कि शेक्सपियर उस निराशारूपी रुग्णता की व्याख्या करता है जो हैमलेट में दुर्जेय परिस्थितियों के बीच उद्भूत मननशील आदर्शवाद के कारण उत्पन्न हो गई थी। इसके विपरीत तुलसीदासजी निराशारूपी

परिस्थितियों के साथ साथ उनपर विजय पाने के साधन भी प्रस्तुत करते हैं। वे साधन आंतरिकरूप में भरत की इच्छा-शक्ति के प्रयोग और बाह्यरूप में वशिष्ट, कौशल्या एवं श्रीराम के सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार हैं। इस प्रकार सांसारिक समस्या को हल करने के लिये इन दोनों महाकवियों की आवश्यकता है और दोनों एक दूसरे की संपूर्ति करते हैं। परंतु यह अवश्य मानना पड़ेगा कि रोग का केवल मार्मिक निरीक्षण, चाहे वह कितना ही विद्वत्तापूर्ण हो, उतना लाभ-दायक नहीं है जितना निरीक्षण के साथ ही उसके निराकरण एवं उपचार की व्यवस्था करना। जान पड़ता है, सरस्वतीजी दोनों को एक दूसरे का पूरक बनाना चाहती थीं, क्योंकि उन्होंने दोनों के आत्माओं में अपनी स्फूर्ति का लगभग एक ही समय में संचार किया था। कालचक्र के प्रभाव से अब ये दोनों महाकवि भारत में एकत्रित हो गए हैं। परंतु हमें शीघ्रता से इस बात को ले न भागना चाहिए कि भौतिक जीवन में कोई लाभ ही नहीं है। भौतिक-विज्ञान कितना लाभदायक है, यह ध्यान देने की बात है। हाँ, साथ ही यह स्मरण रखना चाहिए कि शेक्सपियर ने स्वयं 'पाइंट्समैन' के रूप में पाश्चात्य जगत् को खतरे का 'सिगनल' इस-लिये दिया है कि वह भौतिकता के दुष्परिणामों से अपने को बचाए। इधर गत योरपीय महायुद्ध ने पाश्चात्य जगत् के आत्मा को एकबार फिर आंदो-लित कर दिया है और अब वहाँ आध्यात्मिकता की कुछ कुछ चर्चा फिर होने लगी है। अब देखना है कि उसकी वह पुरानी सड़न कब दूर होती है।

डा० मिलर का कथन है कि 'हैमलेट' में ईसा के पूर्व की पाशविकता का वर्णन है। निस्संदेह महाकवि शेक्सपियर जैसे शीघ्र प्रभावित होनेवाले ईसाई महाकवि के हृदय पर उस पाशविकता से, जिसमें हिंसा, स्वार्थ एवं सुरा सुंदरी की कोलाहलपूर्ण विलासिता का उन्माद भरा था, कड़ी ठेस लगी होगी। उसी ठेस ने उसको थोड़ी देर के लिये तो अवश्य ही बहुत

कुछ निराशावादी बना दिया था। कारण, ईसा ने उच्च कोटि का शुद्ध आध्यात्मिक भाव अवश्य व्यक्त किया था, परंतु आदर्श-पूर्ति के हेतु वे कोई मार्ग निर्धारित नहीं कर सके। इसके विपरीत योगवाशिष्ठ (जिसे मानस-तत्व कहना चाहिए) और गीता (जिसे समस्त हिंदू-धर्म का तत्व कहना चाहिए) इत्यादि हमें अपनी आत्मिक उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने के लिये कुछ निश्चित नियमों की ओर संकेत करती हैं। यही कारण था कि ईसाई-जगत् का ऐसा बड़ा कवि भी आदर्शवाद को भौतिकतावादी वातावरणवाले पाश्चात्य जगत् में सफल न बना सका। इसके विपरीत तुलसीदासजी को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

हमें शेक्सपियर का यह आदर्श भी न भूलना चाहिए कि कविता भौतिकता का दर्पण है; यद्यपि अब उसके प्रसिद्ध समालोचक जान मेसफील्ड उस आदर्श की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि 'जब हम किसी दर्पण में ध्यानपूर्वक देखते हैं, तो उसमें अधिकतर अपना ही प्रतिबिंब पाते हैं।' मैं जहाँतक समझता हूँ, इस व्याख्या का यही अर्थ है कि महाकवि के मानसिक विचारों का प्रतिबिंब उसकी कविता में पाया जाता है। तब भी समालोचक महोदय यह दावा कदापि नहीं कर सकते कि महाकवि शेक्सपियर उस गहराई तक पहुँच सका था जहाँ वह जगन्नियंता परमात्मा के मानसिक विचारों का प्रतिबिंब देख सके। कहीं कहीं केवल अस्पष्ट संकेत के रूप में यह कह देना पर्याप्त नहीं है कि 'एक ऐसी ईश्वरीय सत्ता है जो हमारे अंतिम परिणामों की व्यवस्था करती है'। इसके अतिरिक्त हम रामचरितमानस में विश्व की समस्याओं का समुचित समाधान एवं ईश्वरीय शक्तियों का बहुत ही स्पष्ट विकास पाते हैं। तब प्रश्न यह होता है कि तुलसीदासजी से तुलना करने के लिये वैसे कवि की रचनाओं को ग्रहण ही क्यों किया जाय ? कारण स्पष्ट है। मिल्टन इतना शुष्क है, उसमें नाटकीय कौशल इतना कम है और उसकी कविता शृंगारी गान-कला एवं हास्यरस से इतनी शून्य है कि वह तुलसीदास के

साथ तुलना करने के तनिक भी उपयुक्त नहीं ठहरता। महाकवि शेक्स-पियर की रचनाओं में धार्मिक आदर्शवाद का इतना अभाव नहीं है जितना सर्व-साधारण समझते हैं। ब्रेडले महोदय भी यद्यपि यह स्वीकार करते हैं कि हैमलेट किसी विशेष अर्थ में एक धार्मिक नाटक नहीं कहा जा सकता, फिर भी उन्हें मानना पड़ा है कि इस नाटक में साधारण धार्मिक सिद्धांतों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। साथ ही इस नाटक में महाकवि के अन्य दुःखांत नाटकों की अपेक्षा ऐसे काव्योपम संकेत अधिक मिलते हैं जिनसे उस ईश्वरीय सत्ता का अनुभव होता है, जो मानवी जीवन की भलाई-बुराई की व्यवस्था करती है। डा० मिलर ने कदाचित् भारतवर्ष की आध्यात्मिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर महाकवि शेक्सपियर के विषय में और भी बड़ा दावा किया है। उनका कथन है कि शेक्सपियर की रचनाओं में महान् अलौकिक शक्ति का स्पष्ट पता चलता है तथा यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि 'किस प्रकार दुर्वृत्ति तथा त्रुटि स्वभावतः लज्जा एवं अवसाद से संबद्ध है एवं सत्याचरण से वास्त-विक सुख की प्राप्ति होती है।' परंतु यह कथन शेक्सपियर की अपेक्षा तुलसीदास पर अधिक लागू होता है। शेक्सपियर की एक विवशता यह भी थी कि वह, जैसा पहले कहा जा चुका है, अरस्तू के दुःखांत नाटक की संकुचित परिभाषा के अनुसार ही सीमित रहकर काम करता था; यद्यपि हमें यह मानना पड़ेगा कि ऐसा करते हुए भी उनसे यवन-देश के आदर्श को बहुत कुछ उदार बनाया। इन्हीं सब कारणों से हमें ईश्वरीय सत्ता का वैसा उत्साहप्रद एवं स्पष्ट दर्शन नहीं मिलता, जैसा मानस के इन शब्दों में—

सीयाराममय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि युग पानी॥

पाठकों को ये बातें स्मरण रखनी चाहिएँ और आगे की तुलनात्मक व्याख्या में उनका आवश्यकतानुसार उपयोग करना चाहिए, क्योंकि

अब हम हैमलेट और भरत की प्रत्येक बात पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे और उपर्युक्त सिद्धांतों की पुनरुक्ति न करेंगे।

ग—आकृति

हैमलेट के संबंध में यह कहा गया है कि उसका रंग स्कैंडीनेविया देश के निवासियों जैसा साफ और उसका शरीर कुछ स्थूल था। (इस स्थूलता के अंतर्गत कफ तथा जलप्रधान प्रकृति और सुस्त स्वभाव का होना भी सम्मिलित है।) वह सुशील और सुंदर था। उसकी माता उसी को देखकर जीती थी और आकर्षणवश लोगों की दृष्टि भी उसपर तुरंत पड़ जाती थी। स्थूल शरीर में आदर्शवादी आत्मा का होना विरोधाभासपूर्ण है। मेरी समझ में शेक्सपियर की यह इच्छा थी कि उसके चरितनायक की देह एवं आकृति उसके स्वभाव की पूर्ण परिचायक बनें। जिस प्रकार आदर्शवादी का जीवन ठोस भौतिक परिस्थितियों में असंगत सा जान पड़ता है और उसकी दशा 'दसनन महँ जीभ बिचारी' जैसी होती है, वैसे ही आदर्शपूर्ण आत्मा का ठोस स्थूल शरीर में होना उसकी उड़ान को पृथिवी की ओर झुका देता है। महाकवि बाइरन ने ठीक ही कहा है कि एक श्रृंखला ऐसी है जो हमारे आत्मा को नीचे घसीटती है, यद्यपि उसकी झंकार सुनाई नहीं देती। पूरा 'हैमलेट' नाटक ही उस रुग्ण परिस्थिति की व्याख्या है जिसमें हमारे पार्थिव अस्तित्व और उस आत्मा के बीच संघर्ष होता है जो आकाश की ओर जाना चाहता है। शेक्सपियर ने आत्मा संबंधी उस बाह्य एवं आंतरिक संघर्ष को ऐसी सूक्ष्मता से एवं ऐसी करुणाजनक भाषा में व्यक्त किया है कि आँसुओं की श्रद्धांजलि चढ़ानी ही पड़ती है। टाल्सटाय का भी कहना है कि एक ओर त्याग की बातें करना और दूसरी ओर जीवन पर्यंत शरीर को खान-पान द्वारा स्थूल बनाने की चिंता करना पारस्परिक विरोध के ही सूचक हैं। अतः हम

उस महापुरुष के लेखों एवं पत्रों में यह देखते हैं कि उसने आत्मा के उत्थान के लिये उपवास और जितेंद्रियता, इन दो श्रेणियों का होना आवश्यक बतलाया है ।

समूचे पूर्वी साहित्य में आदर्शवादी आत्मा के लिये सदा कृश शरीर ही उचित समझा गया है । कोई मनुष्य 'मजनूँ' या 'फरहाद' जैसे आदर्श प्रेमियों की कल्पना भी बड़े पेट वाले शरीर के साथ नहीं कर सकता । इसी बात पर जोर देने के लिये हमारे यहाँ यह व्यंगपूर्ण कहावत है कि (बनावटी) प्रेमिक 'घुल घुल के हो गया हाथी' । महाकवि तुलसीदास ने भी आदर्शवादी भरत को कृश-शरीर और श्यामवर्ण कहा है ; यद्यपि उनके कर्मवीर क्षत्रिय होने के कारण वह कृश तनु भी पक्के फौलाद का बना हुआ है । वह कोई प्रेमाक्रांत 'मजनूँ' नहीं है, अपितु इतनी शक्ति रखता है कि हनूमान् जैसे योद्धा को आकाश मार्ग से जाते देख और उसे रावण-पक्ष का सैनिक समझ अपने 'बिनु फर शायक' से ही धराशायी कर देता है । इससे भरत की सावधानी का पता चलता है । यदि 'बिनु फर शायक' न होता तो हनूमान् के साथ लक्ष्मण और लक्ष्मण के साथ कितने ही और लोगों की मृत्यु होती एवं परिणामस्वरूप वैसा ही दुःखांत दृश्य उपस्थित हो जाता जैसा सहसा पहले 'हैमलेट' की कटार से पोलोनियस की और तत्पश्चात् कितने ही इतर जनों की मृत्यु का दृश्य उपस्थित हो गया था । परंतु अप्रासंगिक होने के कारण इस बात को इस समय केवल संकेतरूप में ही समझना चाहिए । हाँ, यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि आदर्श-वाद का अर्थ न तो 'सहसा करि पाछे पछिताहीं' है और न ऐसी एकांगी तन्मयता का होना ही है जिसमें परिणाम का कुछ विचार ही न हो इसमें संदेह नहीं कि आदर्शवाद, ध्येय के हेतु, ऐसी लगन के होने का नाम है जिसमें दुःख-सुखरूपी परिणामों का कोई विचार न हो; परंतु साथ ही यह सिद्धांत भरत जैसे महापुरुषों के ज्ञानमय आदर्शवाद के

विपरीत नहीं है कि ध्येय प्राप्ति के निमित्त प्रत्येक प्रकार के सुगम उपाय का शनैः शनैः प्रयोग किया जाय।

तुलसीदासजी ने तपस्वी आदर्शवादी भरत का अत्यंत सुंदर चित्र अंकित किया है। भरत का यह तपस्वी जीवन किसी वन में नहीं व्यतीत होता, जहाँ वैसा होना सर्वथा स्वभाविक है, प्रत्युत वह ऐसे नगर में व्यतीत होता है जो राम की राजधानी है और जहाँ भरत राज्य का प्रबंध एक सुपुर्ददार की भाँति करते हैं। हमें आशा है कि वे साम्राज्यवादी भी, जो बात-बात में 'सुपुर्ददारी' का उल्लेख करते हैं, तनिक इन बातों पर विचार करेंगे—

जटाजूट सिर मुनि पट धारी। महि खन कुश साथरी सँवारी॥
असन बसन आसन दृढ़ नेमा। करत कठिन व्रत धर्म सप्रेमा॥
भूषण बसन भोग सुख भूरी। मन तनु वचन तजे तृण तूरी॥
अवधराज सुरराज सिहाहीं। दशरथ धन लखि धनद लजाहीं॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥

भरत की 'सुपुर्ददारी' के जीवन का चित्र उपर्युक्त पँक्तियों में किस सुंदरता से आलिखित है। भोग की सामग्री से परिवेष्ठित विरागी भरत की उपमा चंपक बाग के चंचरीक से देना कितना भावपूर्ण है। इसका कारण भी तुलसीदासजी ने स्पष्ट कर दिया है—

राम-प्रेम-भाजन भरत बड़ी न यह करतूति।
चातक हंस सराहियत टेक विवेक विभूति॥

हाँ, भरत के आदर्शवाद में एक ओर चातक की टेक है तो दूसरी ओर हंस का विवेक। तुलसीदासजी आगे फिर कहते हैं—

देह दिनहिं दिन दूबरि होई। बढ़त तेज बल मुखछबि सोई॥

शरीर के साधारण कष्टों को देखते हुए स्वेच्छापूर्ण तपजनित कष्टों में यही विशेषता है कि तप के कष्ट से आत्मा की शुद्धि होती है और तज्जनित

आनंद का विकास 'कृश तनु' में भी 'मुख छबि' के रूप में झलकता रहता है। तुलसीदासजी एक बार फिर राम और भरत की तपस्या की तुलना करते हुए भरत को प्रधानता देते हैं और कहते हैं--

लषन-राम-सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तनु कसहीं॥
दुइ दिशि समुझि कहत सब लोगू। सब विधि भरत सराहन योगू॥

यही कारण है कि भरत की प्रशंसा करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं कि भरत वह है कि--

जग जपु राम राम जपु जेही।

घ--दुःखांत घटनाओं के पूर्व भरत और हैमलेट की अवस्था

साहित्य-समालोचकों ने दुःखांत घटना के पूर्व हैमलेट के चरित्र में शांति और मोद का आविर्भाव माना है और मेरा विचार है कि उसका हृदय भी प्रेमपूर्ण था। यही कारण है कि जब वह बाद में दुःखपूर्ण निराशा से आक्रांत होता है तो हम विरोधाभास का प्रत्यक्ष अनुभव करने लगते हैं। उसका व्यवहार अपनी प्रेमिका उफेलिया के प्रति बहुत कठोर जान पड़ता है। बात यह है कि वह दुःखांत घटना से इतना प्रभावित हो जाता है कि उसे प्रेम के सभी अंग झूठे मालूम होते हैं; परंतु फिर भी कभी-कभी मोद और प्रेम अपनी झलक दिखाए बिना नहीं रहते, चाहे वह अस्थायी ही क्यों न हो। उदाहरणार्थ होरेशियो और अभिनेताओं के आगमन पर वह बहुत प्रसन्न दिखाई देता है। इसी प्रकार कब्रस्तान के दृश्य में उफेलिया के प्रति उसका प्रेम उमड़ पड़ता है और दुःख-पूर्ण निराशा के कारण उसकी दशा उन्मत्त की सी हो जाती है। सारांश यह कि उसी निराशा के कारण उसका सारा जीवन और स्वभाव ही नष्ट हो जाता है।

भरत की शांति तो इतनी प्रसिद्ध है कि उसके वर्णन की आवश्यकता नहीं। वह भी प्रसन्न चित्तवाले थे। भरत और हैमलेट दोनों के

चरित्र-चित्रण में दोनों महाकवियों को अपनी अपनी विशेष कठिनाइयाँ थीं। शेक्सपियर के सामने नाटक का संकुचित साँचा था जिससे वह अपने चरित-नायक के जीवन की प्रारंभिक घटनाओं का विस्तृत वर्णन नहीं कर सकता था और तुलसीदासजी भरत का विस्तृत वर्णन इसलिए नहीं कर सकते थे कि वह 'रामचरितमानस' लिख रहे थे। पर दोनों कवियों की दक्षता इसमें है कि उन्होंने तनिक तनिक संकेतों द्वारा दोनों चरित्रों को पूर्ण कर दिया है। यहाँ हमें तुलसीदास की इसी दक्षता पर विशेष प्रकाश डालना है। उन्होंने राम की बाल्यावस्था का वर्णन करते हुए इसपर विशेष जोर दिया है कि चारों भाई अयोध्या की 'वीथियों' में खेलते और नगर निवासियों को आनंदित करते फिरते थे। जहाँ आखेट का वर्णन है वहाँ भी इसी बात पर जोर दिया गया है कि चारों भाई 'मृगया' करने जाया करते थे। तुलसीदास ने भरत को कहीं भी ऐसा नहीं दिखाया कि वे पुस्तक-कीट बने घर के किसी कोने में पड़े रहते थे। जब धनुष-भंग के पश्चात् महाराज दशरथ को जनक का निमंत्रण मिलता है और महाराज भरत से बारात की तैयारी के लिए कहते हैं तो भरत के हर्ष एवं उत्साह की सीमा नहीं रहती। तुलसीदासजी लिखते हैं—

> भूप भरत तब लीन्ह बुलाई। हय गज स्यंदन साजहु जाई॥
> चलहु बेगि रघुबीर बराता। सुनत पुलक पूरे दोउ भ्राता॥
> भरत सकल साहनी बुलाए। आयसु दीन्ह मुदित उठि धाए॥
> रचि रचि जीन तुरग तिन साजे। बरन बरन बर बाजि बिराजे॥
> सुभग सकल सुचि चंचल करनी। अय जिमि जरत धरत पगु धरनी॥
> तिनपर छैल भए असवारा। भरत-सरिस सब राजकुमारा॥
> सब सुंदर बहु भूषण धारी। कर सर चाप तूणि कटि भारी॥
>
> छरे छबीले छैल सब, सूर सुजान नवीन।
> जुग पदचर असवार प्रति, जे असि कलाप्रवीन॥

दृश्य में कितना पूरबी बाँकपन है। इसमें जलूस की कृत्रिमता नहीं प्रत्युत वास्तविक सजीवता है। छैल-छबीले श्रृंगारपूर्ण अवश्य हैं, परंतु शूर और सुजान भी हैं। उन्हीं में से एक भरत भी हैं और इसीलिए कवि ने 'भरत सरिस सब राजकुमारा' पर विशेष जोर दिया है।

इसी से तो जब हम ऐसे छबीले-फुरतीले राजकुँवर को, जिसमें नख से शिख तक जीवन का उत्साह भरा हुआ है, अपने संकल्पित तप द्वारा इंद्रियदमन करते हुए और नंदिग्राम में गुफा बनाकर रहते हुए देखते हैं तो हमारा हृदय द्रवित हो जाता है। महाकवि शेक्सपियर का कार्य इससे भी अधिक कठिन था, क्योंकि नाटक के संकुचित साँचे में इतने विस्तृत वर्णन का भी अवकाश न था। परंतु कवि तो सदा ही काठिन्यप्रिय होता है। वह छोटे छोटे संकेतों द्वारा हमें बहुत कुछ बता देता है। उदाहरणार्थ, होरेशियो के वार्तालाप में विद्यार्थी-जीवन के असंख्य संकेत हैं। हैमलेट का बर्छियों के खेल में निपुण होने का गुण भी उस वक्तृता से स्पष्ट हो जाता है जिसके द्वारा उसे लेयरटीज के साथ ऐसे खेल के लिये उत्तेजित किया गया था। रामचरितमानस में भी ऐसे बहुत से संकेत मिलते हैं। उदाहरणार्थ 'खेलत खुनस कबहुँ नहिं देखी' में एक ओर दोनों राजकुँवरों के खेल की ओर संकेत है और दूसरी ओर राम के भ्रातृ-प्रेम का चित्र। 'हारेहु खेल जितावत मोहीं' में तो वह प्रेम मानों उमड़ा पड़ता है। कितनी उदारता है और कितना शील ! हमारे लेख के इस प्रकरण में तो मानों ये दोनों चरण सँजीवन मूरि का काम करते हैं। यही भ्रातृ-प्रेम, जो खेल में भी छोटे भाई की हार नहीं देख सकता, भरत को दुःखांत घटनाओं से उत्पन्न हुई निराशा और दुःख से उबार लेता है। आह ! हैमलेट के साथ सहानुभूति रखनेवाला कोई ऐसा व्यक्ति न था !

दोनों राजकुँवरों में इन निराशापूर्ण घटनाओं के बीच में भी कभी-कभी हर्ष का विकास दिखाई देता है, परंतु हैमलेट की दशा में तो यह

विकास केवल उसी प्रकार का है जैसे बुझते हुए दीपक की अंतिम चमक। हमें हैमलेट की हर्षपूर्ण प्रकृति का भान होरेशियो के साथ हुए उसके वार्तालाप में और अभिनेताओं के प्रति किए गए उसके व्यवहार में अवश्य होता है, परंतु थोड़ी ही देर बाद उसकी वह प्रकृति निराशा और दुःख के गर्त में विलीन हो जाती है। मर्यादापुरुषोत्तम राम की सहानुभूति के कारण भरत के आनंद का विकास अधिक टिकाऊ होता है। जब रामजी भरत से आग्रह करते हैं कि—

बाँटि विपत सब ही मिलि भाई। तुमहिं अवधि भर अति कठिनाई॥
होहिं कुठाँय सुबंधु सुहाए। ओड़िय हाथ असिन के घाए॥

तो सारी परिस्थिति ही पलट जाती है। अब अयोध्या के राज्य का प्रबंध राम की धरोहर के रूप में होता है और इस प्रकार भरत के सेवा-धर्म की पूर्ति होती है। अब यह राज्य-प्रबंध न तो धर्मशास्त्र और न कुलाचार के प्रतिकूल है, क्योंकि राजा तो राम ही रहे। भरत पर उस आग्रह का प्रभाव विद्युद्वेग से पड़ता है और उनका मुखमंडल प्रसन्नता से दीप्त हो उठता है। वह बोल उठते हैं—

नाथ भयो सुख साथ गए को। लहेउँ लाभ जग जनम भए को॥

वस्तुतः जीवन की सफलता प्रेम की पूर्ति में ही है। भरत पर पड़नेवाले उस प्रभाव का वर्णन तुलसीदासजी ने इस प्रकार किया है—

मुख प्रसन्न मन मिटा विषादू।

अब भरत में इतना परिवर्तन हो गया है कि वह रामजी से वन के मनोहर दृश्य देखने की आज्ञा माँगते हैं; परंतु यह स्मरण रहे कि अब यह वनयात्रा भौतिक मृगया के लिये नहीं प्रत्युत आध्यात्मिक यात्रा के रूप में रामजी के चरण-चिह्नों से अंकित भूमि के दर्शन के लिये है। भरतजी कहते हैं—

एक मनोरथ बड़ मन माहीं । सभय सँकोच जात कह नाहीं ॥
कहहु तात प्रभु आयसु पाई । बोले बानि सनेह सुहाई ॥
चित्रकूट मुनि थल तीरथ बन । खग मृग सरि सर निरझर गिरिगन॥
प्रभु पद अंकित अवनि बिसेषी । आयसु होइ तो आवहुँ देखी ॥

उस वन-भ्रमण का वर्णन तुलसीदासजी आगे इस प्रकार करते हैं—

कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा । कतहुँ बिलोकत बन अभिरामा ॥
कतहुँ बैठ मुनि आयसु पाई । सुमिरत सीय सहित दोउ भाई ॥

ङ—आदर्श कलाप्रियता

जिस समय में हडसन की हैमलेट संबंधी व्याख्या का अध्ययन कर रहा था उस समय मुझे बार बार स्मरण हो रहा था कि उस महान् व्याख्याकार ने किस सुंदरता से हैमलेट के चरित्र का पर्यवेक्षण किया है और किस कौशल से हैमलेट के गुण-दोष का संबंध उसकी आदर्श कलाप्रियता के आधार पर स्थापित किया है ! इस आदर्श कलाप्रियता में मस्तिष्कीय संस्कृति, आत्मिक सूक्ष्मता, हृदय की सुंदर भावुकता, सबका आविर्भाव होता है और इनसे भी अधिक उस आदर्शप्रियता का आविर्भाव होता है जिसके कारण पाश्चात्य साहित्य में डेन्मार्क के राजकुमार को इतना उत्तम स्थान मिला है । अब हम उन्हीं गुणों में से एक एक को लेकर डेन्मार्क और अयोध्या के राजकुमारों की तुलना करेंगे ।

च—मस्तिष्कीय संस्कृति

इस संबंध में आलोचकों का यह मत है कि हैमलेट में सूक्ष्म सिद्धांतप्रियता थी और वह किसी व्यक्तिगत गुण को सब पर घटित करके वर्णन करने में अभ्यस्त था । इस विषय में बहुधा निम्नलिखित उदाहरण दिए जाते हैं—

(अ) क्रोध में भी वह इस प्रकार बोलता है जैसे कोई ऊपर से चाहे जितना हँसे, परंतु वह दुष्ट हो सकता है ।

(आ) होरेशियो से वार्तालाप करते हुए वह कहता है कि होरेशियो ! पृथिवी और आकाश में ऐसी कितनी ही बातें हैं जिन्हें तुम्हारे मानवी दर्शन स्वप्न में भी नहीं जान सकते।

(इ) 'जीवन रहे या न रहे' वाली स्वगत वार्ता तो प्रसिद्ध है ही।

यह भी प्रत्यक्ष है कि नाटककला के सिद्धांतों से हैमलेट इतना अवगत था कि उसने अभिनेताओं की केवल आलोचना ही नहीं की, प्रत्युत नाट्यकला में सुधार के सुझाव भी बतलाए। यह भी कहा जाता है कि हैमलेट वहुत दूरदर्शी था और दूसरों के हृद्गत विचारों को बहुत शीघ्र समझ लेता था। इसी से उसके चाचा ने उसी के जिन दो मित्रों को जासूसी के लिये नियत किया था उनकी चाल वह तुरंत ताड़ गया और धोखे में नहीं आया।

भरत में भी ये संपूर्ण गुण विद्यमान थे। इस लेख में भरत के सूक्ष्म विचारों और किसी व्यक्तिगत गुण को सब पर लागू करके वर्णन करने के इतने उदाहरण आ गए हैं कि पृथक् उदाहरणों की आवश्यकता नहीं। भरत की बुद्धि की कुशाग्रता इससे स्पष्ट है कि वह किसी परिस्थिति के प्रत्येक पक्ष को तुरंत ताड़ जाते हैं और अपनी विचार-सूक्ष्मता से महान् से महान् मस्तिष्कवाले व्यक्ति पर भी विजय पाते हैं। इस विषय में एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। भरत और वशिष्ठ में होनेवाली वार्ता का यहाँ विस्तृत वर्णन किया जायगा, क्योंकि उसमें केवल भरत के उपर्युक्त गुण ही नहीं लक्षित होते, प्रत्युत उससे उनके चरित्र के अन्य अंगों पर भी प्रकाश पड़ता है। राजगुरु वशिष्ठ का पद अयोध्या के साम्राज्य में ठीक वैसा ही है जैसा बृटिश-साम्राज्य में कैंटरबरी के आर्कबिशप का है।

राजगुरु वशिष्ठ भरत से अयोध्या के राज्य को स्वीकार करने का आग्रह करते हुए इस बात पर जोर देते हैं कि तुम्हारे पिता ने यह राज्य तुम्हें उस 'वर' की पूर्ति में दिया है जिसे उन्होंने तुम्हारी माता को

दिया था। वशिष्ठ की इस वक्तृता में वे सभी गुण विद्यमान हैं जो किसी आध्यात्मिक नेता में होने चाहिएँ। उसमें जोर है, आध्यात्मिक उत्साह है, और है धर्मशास्त्र के तत्वों की विवेचना। यही नहीं, उसमें पर्याप्त वाद-विवाद संबंधी और राजनीतिक कौशल भी है। वक्तृता ऐसी है कि वह किसी भी आधुनिक राजसभा में दी जा सकती है। गुरु वशिष्ठ को अपने शिष्य की मस्तिष्कीय संस्कृति और विचार-सूक्ष्मता का ज्ञान था और इसी कारण उन्होंने अपनी वक्तृता को इस प्रकार निर्मित किया कि भरत पर उसका विशेष प्रभाव पड़े और उन्हें बोध हो जाय। गुरु वशिष्ठ कहते हैं—

सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि-लाभ जीवन-मरण, जस-अपजस बिधि-हाथ॥

इस कथन में किस सुंदरता के साथ यह चेष्टा की गई है कि परि-स्थिति की देख-रेख में लगी हुई भरत की तीव्र बुद्धि आधिदैविक कारणों की ओर मुड़ जाय, क्योंकि वशिष्ठजी को आशंका थी कि कहीं भरत वास्तविक अपराधी (कैकेयी) की यथोचित ताड़ना न करें। इसीलिये उन्होंने इस बात का प्रबंध किया है कि कैकेयी को केवल निमित्त बनाते हुए भरत की प्रवृत्तियों को 'भावी' और 'विधि' की ओर फेर दें। वनवास के दृश्य में अधिकांशतः करुणरस ही प्रमुख है, परंतु महाकाव्य के कुशल रचयिता तुलसीदास ने सरस्वती और देवताओं के वार्तालाप इत्यादि के संकेतों में यह स्पष्ट कर दिया है कि वास्तव में मंथरा और कैकेयी निमित्त मात्र ही हैं। परंतु इस बात पर इतना अधिक जोर नहीं दिया गया जिससे करुणरस का आनंद ही जाता रहे। 'बिलखि' शब्द कितना सुंदर है और वही रस इस आध्यात्मिक विचार में भी ओत-प्रोत है। इस शब्द से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गुरु वशिष्ठ केवल शुष्क दार्शनिक मुनि ही नहीं, प्रत्युत एक सहृदय मनुष्य भी थे। उनकी वक्तृता डेन्मार्क के मंत्री

पोलोनियस की वक्तृता की भाँति केवल पुस्तकीय सिद्धांतों से ही लदी नहीं है, प्रत्युत उसमें हृदय के उद्गार हैं। उपर्युक्त विचारों का स्पष्टीकरण निम्न पद से हो जाता है—

अस बिचारि केहि दीजिय दोषू। ब्यर्थ काहि पर कीजिय रोषू ।।

'ब्यर्थ' शब्द कितना उपयुक्त और संकेतात्मक है ! सचमुच अब क्रोध व्यर्थ था। न क्रोध से महाराज दशरथ ही स्वर्ग से लौट सकते थे और न राम ही वन से वापस आ सकते थे।

अब वशिष्ठ जी दशरथ के सद्गुणों की प्रशंसा करने के पश्चात् भरत को संतोष देने और उनका दुःख निवारण करने के हेतु कहते हैं—

सब प्रकार भूपति बड़भागी। बादि बिषाद करिय तेहि लागी ।।
यह सुनि समुझि सोच परिहरहू। सिर धरि राज रजायसु करहू।।
राउ राजपद तुमकहँ दीन्हा। पिता-बचन फुर चाहिय कीन्हा ।।
तजेउ राम जेहि बचनहिं लागी। तनु परिहरेहु राम बिरहागी ।।

कितना प्रभावोत्पादक भाषण है ! वशिष्ठजी एक ओर राजाज्ञा पर जोर देते हैं, जिसका मानना समस्त प्रजा का कर्तव्य है, फिर चाहे वह प्रजा पुत्र रूप में ही क्यों न हो ; दूसरे यह ठहरा पिता का आदेश, (ऐसे पिता का आदेश, जिसने अपने वचन को प्रमाणित करने के लिये राम जैसे प्रिय पुत्र को त्याग दिया, यद्यपि राम-वियोग में उनका प्राणांत भी हो गया) जिसका पालन करना धर्मशास्त्र भी कर्तव्य बताता है। इतना ही नहीं, आगे वशिष्ठजी फिर कहते हैं—

नृपहिं बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना। करहु तात पितु-बचन प्रमाना ।।
परसुराम पितु-आग्या राखी। मारी मातु जगत सब साखी ।।
तनय जजातिहिं जोबन दयऊ। पितु आग्या अघ अजस न भयऊ ।।

वचन के प्रमाण पर कितना जोर है ! और 'पितु-वचन' मानने के लिये कैसे पुष्ट ऐतिहासिक दृष्टांत दिए गए हैं—

अवसि नरेस-बचन फुर करहू । पालहु प्रजा सोक परिहरहू ।
सुरपुर नृप पाइहिं परितोषू । तुमकहँ सुकृति सुजस नहिं दोषू ।
वेद-विहित संमत सबही का । जेहि पितु देहि सो पाइहि टीका ।।

भरत के निःस्वार्थ भाव के लिये प्रजा-पालन का आग्रह कितना सामयिक है ! वैकुंठवासी पिता के संतोष की ओर संकेत करके एक आर्य-पुत्र के लिए कितनी आवश्यक और उचित बात की ओर ध्यान दिलाया गया है, क्योंकि बहुधा धर्मशास्त्र में पुत्र की उत्पत्ति ही पिता के उद्धार का कारण कही गई है । अब रहा कलंक का भय, सो उसका निवारण भी गुरुजी इस प्रकार करते हैं कि जब वेद की आज्ञा और प्रजा की सम्मति यही है कि जिसे पिता दे वही राज्य पाए, तब कोई अपयश कैसे हो सकता है । आधुनिक राजनीति के पंडित भी यह जानते हैं कि किसी न किसी प्रकार का पत्र, चाहे वह राज्य-त्याग के रूप में हो, या राज्य की सुपुर्दगी के रूप में, अब भी वैसे अवसरों पर लिखा जाता है, भले ही वह नाममात्र के लिये ही हो ।

.........................। मानहु मोर बचन हित जानी ।।

क्या यह राजगुरु की हितकर अपील राज्य स्वीकृति के हेतु और भी सबल कारण नहीं है ? ऐसी अपील से प्रभावित न होना कितना कठिन था—

सुनि सुख लहब राम-बैदेही । अनुचित कहब न पंडित केही ।।
कौसल्यादि सकल महतारी । तेउ प्रजा-सुख होहिं सुखारी ।।

जब प्रजा के पालन से रामचंद्रजी और सीताजी के सुखी होने तथा माता कौशल्या के भी सुखी होने का निश्चय है तो फिर भरतजी के राज-

सिंहासन पर बैठने में अड़चन ही क्या रही ? परंतु रही-सही शंका को भी वशिष्ठजी इस प्रकार दूर कर देते हैं—

सौंपेहु राज राम के आए। सेवा करेहु सनेह सुहाए ॥

अब तो स्वार्थ का लेश भी नहीं रहता और हमें वशिष्ठ की इस बात से सहमत होना पड़ता है कि राम-राज्य समझकर उसका प्रबंध करने में कोई दोष न था। गुरुजी ने जिस प्रकार यह समस्या हल की है उसमें और रामजी के चित्रकूटवाले हल में बहुत ही थोड़ा अंतर है। गुरुजी का अनुरोध था कि चौदह वर्ष के लिये राज्य स्वीकार करो और फिर लौटा दो, जब कि राम ने भरत को अपनी ओर से वही राज्य चौदह वर्षों के लिये सुपुर्द कर दिया और भरत की उस सूक्ष्म कठिनाई को दूर कर दिया जिसके कारण वह अपने को अनधिकारी समझकर एक क्षण के लिये भी राज्य ग्रहण करने को तैयार न थे।

उपर्युक्त वशिष्ठ-भाषण संबंधी दस कारणों को पढ़कर और आगे राज-मंत्रियों की सम्मति तथा कौशल्याजी का उपदेश सुनकर हमें तो यही उचित प्रतीत होने लगता है कि भरत को अवश्य राज्य ग्रहण कर लेना चाहिए। हमारे साधारण मस्तिष्क में तो कोई ऐसी बात ही नहीं आती कि भरतजी क्यों न राज्य ग्रहण करें।

परंतु हम देखेंगे कि भरत की तीव्र बुद्धि इन दसों कारणों की तह-तक पहुँचकर सबको छिन्न-भिन्न कर डालती है। गुरु वशिष्ठ की अपील सुनकर भरतजी उस आग्रह में निहित अनौचित्य को स्पष्ट कर देते हैं। भरतजी की संक्षिप्त एवं सूक्ष्म वक्तृता को समझने के लिये दुःखांत परिस्थितियों के मूल कारण को समझना आवश्यक है। महाकवि शेक्स-पियर के सभी पाठक यह जानते हैं कि वह दुःखांत नाटकों में ऐसी परि-स्थितियाँ रखता है जिनमें किसी भाँति न्याय का विरोध तथा हनन होता है और वह इसी को दुःखांत घटनाओं का मूल कारण भी मानता है।

जब न्याय की गति का अवरोध होता है तभी परिस्थिति में उथल-पुथल उत्पन्न हो जाती है। जहाँ हमने अन्याय को तनिक देर के लिये भी प्रश्रय दिया कि वह विष का सा काम करने लगता है। देखिए न, अयोध्या और डेन्मार्क के राष्ट्रों में अन्याय ने कितनी हलचल मचा दी! अयोध्या में राष्ट्रपति दशरथ की मृत्यु हो ही चुकी है और सभी रानियाँ वैधव्य प्राप्त कर चुकी हैं। नगर में भी दुःख एवं भय का साम्राज्य है और परिस्थिति इतनी अंधकारमय एवं जटिल है कि—

घोर जंतु सम सब नर-नारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी।

इस समस्या की जड़ तक भरत की दृष्टि पहुँच जाती है और उन्हें गुरु वशिष्ठ के जोरदार मीठे उपदेश कटु ही प्रतीत होते हैं। वह समझते हैं कि जिस राज्य-शासन की तह में राम के प्रति अन्याय है वह विष के समान ही है। वह जानते हैं कि भोजन चाहे जितना सरस हो परंतु यदि उसमें घातक विष मिला है तो वह त्याज्य है। भरतजी इसी केंद्रित सिद्धांत पर अड़ जाते हैं और अपना समय बहुत से असंबद्ध कारणों के निरीक्षण में नहीं लगाते। इसीलिये उनकी वक्तृता में उतना वाद-विवाद नहीं है, परंतु जोर और संकेत बहुत काफी है। उनके शब्दों में, यदि वह राज्य ग्रहण करते हैं तो, उनकी दशा यह होगी—

ग्रह-गृहीत पुनि बात-बस, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइय बारुनी, कहहु कौन उपचार॥

क्या इस दोहे से यह स्पष्ट नहीं है कि भरतजी परिस्थिति से पूर्णतः परिचित हो गए? इसी से तो वह कहते हैं कि 'ग्रहों की गति मेरे विरुद्ध है और मुझे अहंकार-वायु-दोष से भर देनेवाली अपीलें हो रही हैं। क्या वशिष्ठ, क्या कैकेयी, क्या मंत्रिगण, सभी अपने अपने दृष्टि-कोण से राज्य-ग्रहण के निमित्त मुझसे अनुरोध कर रहे हैं। मैं पितृ-वियोग रूपी दंश से

व्यथित हूँ। परंतु ये सब बाह्य व्यथाएँ हैं। अब आप लोग राज्यमद रूपी मदिरा मुझे दे रहे हैं। फिर बताइए तो, मेरा कल्याण कैसे होगा ?'

दोहे में जो कुछ भरतजी ने कहा है उससे अधिक पते की बात, अधिक सशक्त शब्दों में, और साथ ही इतने संक्षेप में कहना प्रायः असंभव ही है।

हैमलेट के आलोचकों ने उसकी असफलता का कारण यह बतलाया है कि उसमें इतनी शक्ति ही न थी कि वह उस सामाजिक जीवन को, जो उसके चाचा की हिंसा-वृत्ति के कारण न्याय-केंद्र से हट गया था, पुनः प्रतिहिंसा द्वारा उसी केंद्र पर स्थापित कर सके। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पाश्चात्य देशों में वस्तुतः आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत का सिद्धांत ही उचित समझा जाता है, भले ही उनमें नाममात्र के लिये मसीही धर्म का प्रचार हो। मसीह का पर्वतवाला उपदेश[1] रहते हुए भी उन्हें तप और त्याग पर विश्वास नहीं। मानों वे यह जानते ही नहीं कि दंड की अपेक्षा प्रायश्चित्त अधिक उपयोगी है और प्रायश्चित्त स्व-स्वीकृत दमन का ही नाम है। उन्हें यह पता नहीं कि दंड एक प्रकार का भोग है, परंतु वही यदि तप में परिणत कर दिया जाय तो आनंद का भंडार बनाया जा सकता है। त्याग और क्षमा एक दूसरे के रूपांतर ही हैं। महाभारत में महाराज युधिष्ठिर की यह उक्ति बार बार आती है है कि दो बुराइयों से एक भलाई नहीं बनती, और इसीलिये वह कहते हैं कि दुर्योधन के कटु व्यवहार को मैं अपनी क्षमा में लीन कर लेता हूँ। यहाँ भी भरत अन्याय का नाश करते हैं ; परंतु हिंसा और रक्तपात से नहीं, प्रत्युत तप से। इसीलिये वह चित्रकूट जाकर राजमुकुट रामजी को लौटा देना चाहते हैं, क्योंकि न्यायतः राम ही उसके अधिकारी थे। फिर

१—सरमन आन द माउंट।

वह लौटकर तप और त्याग के जीवन को इसी हेतु अंगीकार करते हैं कि अन्याय का विष अयोध्या के राष्ट्र में फैलने न पाए[१]। भरतजी कहते हैं—

तुम तो देहु सरल सिख सोई। जो आचरत मोर हित होई॥
जद्यपि यह समुझत हौं नीके। तदपि होत परितोष न जीके॥

उनका हृदय कितना निर्मल है!

पितु सुरपुर सिय-राम बन, करन कहहु मोहिं राज।
यहिते जानहु मोर हित, कै आपन बड़ काज॥

राजसभा में भरत के प्रति जितनी अपीलें हुईं उनके मर्मों की यह कितनी सुंदर और संक्षिप्त व्याख्या है!

उपर्युक्त कारणों में से प्रथम कारण अर्थात् अपने हित के विषय में भरत जी कहते हैं—

हित हमार सियपति सेवकाई। सो हर लीन्ह मातु कुटिलाई॥

भ्रातृ-प्रेम और सेवा का कितना सरल भाव है! इसी कारण माता की कुटिलाता का घोरतम विरोध भरत ने किया है। भरत की

१—भारतवर्ष के इतिहास में भरत के इस त्याग से एक युग के लिये आंतरिक गृहयुद्ध हट गया, अन्यथा अयोध्या के राष्ट्र में भी महाभारत के युद्ध जैसा एक दृश्य होता। लक्ष्मण क्रोध से भरे ही थे, जैसा उनका चित्रकूट की उस वक्तृता से प्रकट होता है जिसमें उन्होंने कहा है—'प्रगट करहुँ रिस पाछिलि आजू' इत्यादि। फिर यदि यह मान भी लिया जाय कि लक्ष्मण राम के कारण चुप रहते तो उनके पश्चात् उनकी संतति में यह द्वेष-भाव प्रकट होता। 'हैमलेट' में एक क्षण के लिये उसके चाचाको पश्चात्ताप हुआ है, परंतु राज्य-त्याग की समस्या के कारण वह पश्चात्ताप शीघ्र ही विलुप्त भी हो जाता है। हैमलेट की माता का प्रकृति तो ऐसी थी कि उसे किसी बुराई का कभी अनुभव ही नहीं हुआ।

घृणा और क्रोध का पात्र माता के सिवा कदाचित् ही कोई हुआ हो। उन्होंने आवेश में माता के प्रति 'मुँह परेउ न कीरा' तक कह डाला है। अब द्वितीय कारण, अर्थात् 'आपन बड़ काज' को लीजिए। इस 'आपन' में वशिष्ठ, मंत्रिगण, माताएँ और प्रजा सभी हैं, परंतु मुख्य हेतु प्रजा-पालन ही है। यह ऐसा कारण था जिसने एक बार वशिष्ठ के मन को भी डिगा दिया और उन्होंने राज्य-स्वीकृति के साधक के रूप में वेद, शास्त्र, इतिहास इत्यादि के दृष्टांत खोज-खोजकर दे डाले। परंतु भरत के शुद्ध मस्तिष्क और प्रेमपूर्ण हृदय के लिये राज्य का स्वरूप यह था—

सोक-समाज राज केहिं लेखे। लषन राम सिय पद बिनु देखे ॥
बात बसन बिनु भूषण भारू। बाद बिरत बिनु ब्रह्मबिचारू ॥

उदाहरणों का नैतिक प्राबल्य विचारणीय है! उसमें कितनी सुंदरता एवं सूक्ष्मता है!

सरुज सरीर बाद सब भोगा। बिनु हरि-भगति बाद जप जोगा ॥

सत्य है, अन्याय ऐसा ही रोग है और निष्प्रेम व्यवहार ऐसा ही शुष्क है।

कैकेयी-सुत कुटिल-मति, राम-बिमुख गत-लाज।
तुम चाहत सुख मोह-बस, मोहिं से अधम के राज ॥

द्वितीय कारण का कितना सटीक उत्तर है! प्रजा की भलाई ऐसे व्यक्ति से कैसे हो सकती है जिसने लाज त्यागकर अन्याय से मिला हुआ राज्य स्वीकार किया हो और जिसका जन्म ही ऐसी माता से हुआ हो जो स्वयं अन्याय की मूल है! फिर यह सब राम-विमुख होकर? वास्तव में राज्य पिता दशरथ का अपनी इच्छा से दिया हुआ न था, प्रत्युत अन्याय रूपी पिशाच वरदान रूपी मंत्र द्वारा बुलाया जाकर राजा के

सिर पर नाच रहा था। उसी पिशाच का दिया हुआ यह राज्य था। सचमुच, जो ऐसे राज्य को ग्रहण करे वह अवश्य ही कुटिल-मति है। गुरु वशिष्ठ के साधक कारणों का कितना मार्मिक उत्तर है, परंतु उसका एक शब्द भी शील-रहित नहीं। भरत के वास्तविक शब्दों में उतनी भी कठोरता नहीं है जितनी हमारी व्याख्या में। भरत के शब्द संकेतात्मक और करुण-रस से ओतप्रोत हैं। महाकवि शेक्सपियर ने भी क्षण भर के लिये हैमलेट के चाचा की स्वगत-वार्ता में आत्मिकता की झलक दिखला दी है। उस क्षण वह भी अनुभव करता है कि राज्य-त्याग के बिना प्रायश्चित्त नहीं हो सकता। भरत इसे खूब जानते हैं और इसीलिये वह राज्य को विष की भाँति त्याज्य समझते हैं। वह जानते हैं कि मंत्रि-मंडल संकोच से सम्मति दे रहा है और वशिष्ठ एवं कौशल्या प्रेमजनित मोह के कारण और प्रजाहित के विचार से। जनता का झुकाव राम ही की ओर है और जब न्याय भी यही चाहता है तो वस्तुतः ऐसे राज्य को अपनाना निर्लज्जता ही है। इसीलिये अंत में भरतजी वैसे व्यक्ति को अधम ही कहते हैं; और अधम के राज्य में सुख कहाँ? भरत जी आगे फिर कहते हैं—

कहौं साँच सब सुनि पतियाहू। चाहिय धर्म-सील नरनाहू ॥

वस्तुतः राजा में असाधारण धर्म एवं शील का होना आवश्यक है।

मोहिं राज हठि दैहौ जबहीं। रसा रसातल जैहै तबहीं ॥
मोहिं समान को पाप-निवासी। जेहि लगि सीय-राम बनवासी ॥
राउ रामकहँ कानन दीन्हा। बिछुरत गमन अमरपुर कीन्हा ॥
मैं सठ सब अनरथ कर हेतू। बैठि बात सब सुनहुँ सचेतू ॥

आह! भरत के लिये इस समय सचेत रहना भी भार हो रहा है, क्योंकि उन्हें राज्य को अंगीकार कर लेने के संबंध में राम-विरुद्ध एवं

अन्यायपूर्ण बातें सुननी पड़ रही हैं। उन्हें महाराज दशरथ की मृत्यु में जीवन की सफलता इसलिये दिखाई देती है कि उसमें प्रेम-प्रण का निर्वाह है। अब तक किसी ने भी भरत के किसी वचन से सहानुभूति नहीं प्रकट की और सब मौन हैं। भरत को यह मौन 'हठ' जान पड़ता है और वे समझते हैं कि ये सब मुझे राज्य देने पर तुले हुए हैं। फिर जब वह अपनी ओर दृष्टिपात करते हैं तो उन्हें अपना 'राम-विमुख' सचेत जीवन ही 'पाप-निवास' दिखाई देता है।[१] भरत के भाषण के अंतिम भाग में राजसभा के सभासदों की हार्दिक भावनाओं का अत्यंत मार्मिक दिग्दर्शन है। वह स्पष्ट कहते हैं कि 'संशय-शील प्रेमवस अहहू'। 'संशय' से स्पष्ट है कि भरत के विचार में कोई भी सत्य का निर्णय नहीं कर पाया, प्रत्युत सभी की बातें संशयात्मक हैं। योगवाशिष्ठ में एक जगह कहा गया है कि सचाई बहुत सरल वस्तु है। इससे स्पष्ट है कि जहाँ तोड़-मरोड़कर साधक-बाधक कारण लाए जायँ वहाँ संशय अवश्य रहता है। अब रहा शील और प्रेम का प्रभाव, वह तो सभासदों के व्यवहार से ही प्रकट है। माता कौशल्या के प्रति भरत जी कहते हैं—

१—'मो सम कौन कुटिल खल कामी ?'—सूर

महात्मा गांधी से एक समय यह प्रश्न किया गया था कि क्या वास्तव में सूरदास जी ऐसे ही थे या उन्होंने इस पद को वैसे ही व्यक्तियों के लिये रचा है जो वस्तुतः 'कुटिल खल कामी' हों। महात्माजी ने उत्तर दिया था कि जिसका आदर्श जितना ही ऊँचा होता है उसे अपने में उतनी ही कमजोरी और कमी नजर आती है और अपनी तनिक सी त्रुटि भी बहुत बड़ी प्रतीत होती है। आदर्श असीम है अतः महान् से महान् परिमित मानवी जीवन में थोड़ी बहुत त्रुटि अवश्य रहेगी। भरत भी आदर्शवादी हैं और इसीलिये उनके अपने प्रति प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या महात्माजी की उपर्युक्त धारणा के अनुसार करनी और समझनी चाहिए।

राम-मातु सुठि सरल-चित, मोपर प्रेम बिसेख।
कहहिं सुभाव सनेहबस, मोर दीनता देख ॥

माता की बुद्धि स्नेह से आप्लावित हो चुकी है और फिर भरत की दीनता देखकर जो सहानुभूति उत्पन्न हुई उसने रही-सही बुद्धि को भी बिदा कर दिया। भरत की तीव्र बुद्धि कितना ठीक निरीक्षण करती है! गुरु वशिष्ठ भी भरत की आलोचना से नहीं बचे। यद्यपि भरत ने शील को एक क्षण के लिये भी हाथ से नहीं जाने दिया तथापि करुण-कटाक्ष के रूप में स्पष्ट कह दिया कि वह भी भरत को सत्य के सीधे मार्ग से हटाना चाहते हैं। शब्द ये हैं—

गुरु बिबेक-सागर जग जाना। जिनहिं बिस्व कर-बदर समाना ॥
मोकहँ तिलक साज सजि सोऊ। भा बिधि बिमुख बिमुख सब कोऊ ॥

वे अंत में कहते हैं कि अगर मैं राज्य को ग्रहण करता हूँ, तो—

परिहरि राम-सीय जग माहीं। को नहिं कहै मोर मति नाहीं ॥

आह! राम और सीता पर कितना भरोसा है और इस बात से कितना भय, कि लोग राज्य-ग्रहण में उनकी सम्मति समझेंगे! सच है, ये राजसभा के भाषण सभा के भीतर ही रह जायँगे और सर्वसाधारण यही समझेंगे कि यह सब पहले की सठी-गठी बात थी। भरत की कीर्ति को कालिमा लगेगी और लोग यही कहेंगे कि 'लोलुप भूप भोग के भूखे।'

अंत में स्वयं भरत ने ही इस जटिल समस्या को हल कर दिया, और हल होने पर समस्या ऐसी साधारण जान पड़ती है कि हमें कोलंबस की अंडा खड़ा करनेवाली समस्या की याद आ जाती है। हम योग-वाशिष्ठ के उस कथन का उल्लेख कर ही चुके हैं जो सत्य की सरलता के बारे में है।

एकहि आँक इहै मन माहीं। प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं ॥

आशय यह है कि हम सब को राम के पास चलना चाहिए और उन्हीं के आज्ञानुसार काम करना चाहिए। हल कितना सरल है और कितना पूर्ण ! प्रभु-सेवा में सेवा-धर्म की पूर्ति और दर्शन में प्रेम की पूर्ति तथा 'जिय की जरन' मिटने का निश्चय एक ओर, और दूसरी ओर राम के प्रति किए गए अन्याय का प्रतीकार, राज्य के विनाश से बचने की संभावना और भरत की कीर्ति की निर्दोषिता—ये सभी बातें उपर्युक्त हल से पूरी हो जाती हैं। अब न अन्याय का विष भरत के आत्मा को कलुषित कर सकेगा और न अयोध्या के राष्ट्र का विनाश। हल इतना सरल है पर साथ ही इतना गहन कि गुरु वशिष्ठ भी उसतक न पहुँच सके। हल की सरलता इससे स्पष्ट है कि सबने उसे तुरंत ही स्वीकार कर लिया और किसी को कोई शंका न रही। तुलसीदासजी लिखते हैं—

'भरत-बचन सबकहँ प्रिय लागे।'

अब यदि हम भरत के सुसंस्कृत मस्तिष्क और सूक्ष्म विचार के अधिक उदाहरण देंगे तो हमें यहाँ सारा का सारा अयोध्याकांड ही उद्धृत करना पड़ेगा। अतः हम इसी एक उदाहरण को पर्याप्त समझकर यह प्रसंग समाप्त करते हैं।

छ—स्वाभाविक आदर्शवादिता

जितना ही जिसका आत्मा आदर्श का अनुभव करता है, उतनी ही उसे अपने अंदर की छोटी त्रुटि भी बड़ी दिखाई देती है। म० टॉल्स्टॉय भी अपने लेखों में बहुधा इसी धारणा को प्रकट करते हैं, नहीं तो जिनके विचार स्थूल हैं उन्हें तो 'नीम के कीड़े को नीम ही मीठा' के सिद्धांत के अनुसार कोई असंतोष रहता ही नहीं। अतएव आदर्शवादी वही है जो असीम सत्ता और भलाई का बराबर ध्यान रखता है और उन तक पहुँचने का भरसक प्रयत्न करता है, एवं जितना आगे बढ़ता जाता है उतना ही आदर्श की सूक्ष्मता का अधिकाधिक अनुभव करते

हुए उद्योग की मात्रा में वृद्धि करता जाता है। हमारी यह परिभाषा एक कर्मयोगी आदर्शवादी पर लागू होती है। आदर्शवादी का अर्थ यह नहीं कि केवल मस्तिष्क से आदर्श का विचार करे या केवल हृदय से उसका अनुभव करे और अकर्मण्यता के कारण उसकी प्राप्ति का उद्योग न करे। हैमलेट और भरत के आदर्शवाद में यही अंतर है। इसमें संदेह नहीं कि इस अकर्मण्यता के असंख्य कारण होते हैं। कहीं तो हृदय में भावों का इतना बाहुल्य होता है कि कर्म के लिये स्थान ही नहीं रहता, कहीं बाह्य परिस्थितियाँ इतनी जटिल होती हैं कि उन्हें हल करना कठिन होता है और कहीं उद्योग करने की स्वाभाविक शक्ति इतनी कम होती है कि कुछ करते धरते नहीं बनता। बेचारे हैमलेट के सामने ये सभी कठिनाइयाँ थीं। समस्या जटिल थी और कोई वास्तविक सहानुभूति रखनेवाला या पथ-प्रदर्शक न था।

इतना ही अंतर नहीं, प्रत्युत हमें तो हैमलेट को बहुत उच्च कोटि का आदर्शवादी कहने में भी बहुधा संकोच होता है। पाश्चात्य देश में उसकी प्रशंसा भले ही हो, परंतु आर्यावर्त के पुण्यक्षेत्र में इसकी संभावना नहीं। हैमलेट के चाचा ने अपने भाई की हत्या की और दो ही एक महीने के भीतर हैमलेट की विधवा माता ने उसी चाचा के साथ विवाह कर लिया। इस घटना से हैमलेट को घृणा हुई और इसीलिये पाश्चात्य जगत् में उसे आदर्शवादी कहकर सराहा जाता है। हमें तो इसमें कोई आदर्शवादिता प्रतीत नहीं होती। भारतवर्ष का तो एक बालक भी ऐसी घटना को घृणा की दृष्टि से देखेगा। पर हमें यह न भूल जाना चाहिए कि हम भारतवर्ष के शुद्ध आध्यात्मिक वातावरण में रहते हैं और हैमलेट उस भौतिक सभ्यता के बीच में रहता था जहाँ नित्य-प्रति हत्या के लिये षड्यंत्र रचे जाते हैं और विधवा-विवाह तो कोई बुरी बात समझी ही नहीं जाती। ऐसे लोगों को हैमलेट की घृणा में आदर्शवाद दिखाई पड़े तो आश्चर्य ही क्या?

अब तनिक भरत के सूक्ष्म आदर्शवाद पर दृष्टि डालिए। हैमलेट को शोक इस बात का था कि उसका पैत्रिक राज्य हाथ से निकल गया और भरत को यह शोक था कि उन्हें अनधिकारी होते हुए राज्य मिल रहा है। अन्याय से राज्य का अपहरण तो सबको बुरा लगता ही है; परंतु ऐसे बिरले ही लोग होंगे जिन्हें अन्याय से मिलता हुआ राज्य भी विष सा प्रतीत हो, विशेषतः जब माता के वरदान माँगने पर पिता ने उसे दिया हो और राज्यगुरु तथा मंत्रियों की उसमें सम्मति भी हो। हैमलेट के सामने जो परिस्थिति थी उसमें हिंसा, लोभ और व्यभिचार, तीनों थे और भरत के राज्य-ग्रहण के संबंध में दस पुष्टिकारक कारण[१] थे जिनकी व्याख्या गुरु वशिष्ठ की वार्ता के अंतर्गत हो चुकी है। परंतु भरत की आदर्शवादिता इतनी उच्च कोटि की है कि उन्हें अपनी अवस्था इस प्रकार प्रतीत होती है—

ग्रह-गृहीत पुनि बात-बस, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइय बारुनी, कहहु कवन उपचार॥

और राज्य-ग्रहण की संभावना में वह अपने को—

कैकेई-सुत कुटिलमति, राम-बिमुख गत-लाज।

—ही कहकर धिक्कारते हैं।

उपर्युक्त आलोचना से यह स्पष्ट है कि कम से कम इस प्रसंग में भरत और हैमलेट की कोई तुलना हो ही नहीं सकती। भरत का आदर्शवाद इतनी उच्च कोटि का है कि स्वयं तुलसीदासजी को कोई उपयुक्त

१—विस्तार-भय से हमने एक एक कारण का उत्तर भरत की वक्तृता से नहीं दिया, क्योंकि वह वक्तृता संकेतात्मक है; परंतु यदि जिज्ञासु लोग हमारी व्याख्या से साहाय्य लेकर प्रत्येक कारण का उत्तर उस वक्तृता में स्वयं ही खोजें तो यह उनके लिये अत्यंत रोचक विषय होगा।

उपमा नहीं मिली और उन्होंने भरत को उन्हीं के समान कहकर प्रशंसित किया है। उनकी सम्मति में भरत को किसी अन्य व्यक्ति की उपमा देना वैसा ही है जैसे 'मेरु' को 'सेर' की उपमा देना। विश्व-साहित्य का निष्पक्ष दृष्टि से अध्ययन करनेवालों को यह विदित हो गया होगा कि आदर्शवाद का मुकुट भरत के मस्तक पर रक्खा जाना चाहिए, न कि हैमलेट के। हाँ, यदि साहित्य-संसार में भी द्वेष का वह भाव रक्खा जाय जिसके कारण एशिया-निवासियों की बस्तियाँ पाश्चात्य-उपनिवेशों में पृथक्-पृथक् बनाई जाती हैं, तो बात ही और है। हमें इस प्रसंग में खेद के साथ कहना पड़ता है कि स्वर्गीय सर जार्ज ग्रियर्सन-जैसे 'सिविलियन' आलोचक ने भी इस द्वेष को कायम रक्खा और तुलसीदासजी की गणना केवल एशिया के आधे दर्जन लेखकों में की।

ज—भरत और हैमलेट के आदर्शवाद के गुण-दोष

हम पहले लिख चुके हैं कि भरत के आदर्शवाद में विवेक और कर्तव्य-परायणता वर्तमान है। इसमें संदेह नहीं कि हैमलेट की तरह भरत भी करुण कुतर्कों और विचारों में कभी कभी डूबते दिखाई देते हैं; परंतु वे विचार उनको पराजित नहीं कर पाते। यही विशेष अंतर भरत और हैमलेट में है। यदि हम 'हैमलेट' में से बहुत से उदाहरण लेकर लिखें तो प्रसंग के विस्तृत वर्णन के बिना पाठकों को कोई विशेष आनंद न आएगा। और यदि बिना प्रमाण ही भरत की प्रशंसा करें तो हैमलेट के प्रति अन्याय होगा। अतः हम इस प्रसंग में हैमलेट के संबंध में अनेक पाश्चात्य विद्वानों के विचार उद्धृत कर साथ साथ भरत की तुलना करेंगे। इससे एक लाभ यह भी होगा कि अनेक दृष्टिकोणों से दोनों की तुलना स्वतः हो जायगी।

(अ) डा० मिलर ने, जो एक पादरी प्रिंसिपल की हैसियत से भारत में बहुत दिनों तक रह चुके हैं, शेक्सपियर के नाटकों की आलो-

चना करते हुए इस बात का प्रयत्न किया है कि उन नाटकों से आध्यात्मिक एवं नैतिक विषय खोज निकालें जायँ। हमें जहाँ उनकी आलोचना पढ़कर इस बात से हर्ष होता है कि भारतवर्ष के आध्यात्मिक वातावरण-का प्रभाव उनकी शेक्सपियर-संबंधी आलोचनाओं पर पड़े बिना न रहा, वहाँ इस बात से कभी कभी दुःख भी होता है कि उन्होंने शेक्सपियर की प्रशंसा करने में बहुत खींचातानी की है। उदाहरणार्थ हैमलेट की ओर से सफाई देते हुए वे कहते हैं कि 'घबराहट और थकान को हम गहन विचार से अलग नहीं कर सकते।' परंतु उन्हें भी आगे चलकर मानना ही पड़ा कि हैमलेट में कर्तव्यपरायणता का अभाव है।

यह ठीक है कि भरत भी गहन विचारों की उपर्युक्त कठिनाइयों में कभी कभी पड़े हुए दिखाई देते हैं; परंतु अंतिम विजय भरत की ही होती है। अतः उनके आलोचकों को उपर्युक्त एकदेशीय सिद्धांत की आड़ लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अब रही कर्तव्यपरायणता, वह तो भरत से कभी छूटती ही नहीं। देखिए न, वह राम के पास प्रजा और परिवार के साथ जाने को तैयार हैं और अभी अपनी वक्तृता में कह चुके हैं कि राम-दर्शन बिना उनके 'जिय की जरन' नहीं मिट सकती। परंतु ऐसे समय में भी वह राम-सेवक होने के कारण अपना यह कर्तव्य समझते हैं कि राम-राज्य की रक्षा का ठीक प्रबंध कर दें, यद्यपि उन्होंने स्पष्ट कहा है कि संभव है, लोग इसमें दोष लगाएँ और यह समझें कि वह प्रबंध भरत अपने ही स्वार्थ के लिये कर रहे हैं। इस आशंका के होते हुए भी कर्तव्यपरायणता का उन्हें बराबर ध्यान रहता है। वे कहते हैं—

> संपति सब रघुपति की आही। ....॥
> जो बिनु जतन चलौं तजि ताई। तौ परिनाम न मोर भलाई॥
> करै स्वामि-हित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥

इसमें घबराहट और थकान का पता भी नहीं।

मिलर महोदय को अंततः यह प्रारंभिक सिद्धांत मानना ही पड़ा कि जिस जीवन में सत्य-प्राप्ति का उद्योग नहीं है, वह जीवन निष्फल है।

(आ) ब्रैडले महोदय हैमलेट की प्रशंसा करते हुए उसकी 'बुद्धि की प्रखरता, शीघ्रतापूर्वक मनोभाव-परिवर्तन की योग्यता और साधनों की आश्चर्यजनक तीव्रता एवं बहुलता' की सराहना करते हैं और कहते हैं कि 'वह दार्शनिक हुए बिना ही स्वभावतः सुविज्ञ विचारक था और कवि हुए बिना ही भाव-चित्रण की शक्ति रखनेवाला था।' पर अंत में उन्हें भी उसकी 'निर्बलतापूर्ण अस्थिरता' स्वीकार करनी पड़ी है।

हमें देखना है कि ये गुण भरत में कहाँ तक थे। स्थानाभाव से एक-आध ही उदाहरण दिया जा सकता है। हमने भरत की वक्तृता की विस्तृत व्याख्या की है, जिससे भरत की बुद्धि की प्रखरता का स्पष्टीकरण हो जाता है। उनकी बुद्धि किस तत्परता से परिस्थिति की तह तक पहुँच जाती है और गुरु वशिष्ठ के जोरदार भाषण से भी विचलित नहीं होती। अब रही शीघ्रतापूर्वक मनोभाव-परिवर्तन की बात, सो उसके लिये यह कहना पर्याप्त है कि कहाँ तो भरत अपनी माता कैकेयी से क्रोध के आवेश में बातें कर रहे थे और कहाँ जब मंथरा को शत्रुघ्न मारने लगे तो भरत दया से प्रभावित होकर बचाने में ल गए! फिर जब तनिक देर बाद ही वे राम की माता कौशल्या के समीप जाते हैं तो वहाँ निर्दोष बालक की भाँति कसम खा-खाकर अपनी सफाई देने लगते हैं। कसम क्या हैं, धार्मिक सिद्धांतों के मणिमाल की अनमोल मणियाँ। फिर थोड़ी ही देर बाद अयोध्या से प्रस्थान करने का प्रबंध करते हुए वे एक उत्तम प्रबंधक के रूप में दिखाई देते हैं। साधनों की खोज के विषय में तो हम देख ही चुके हैं कि जिस समस्या को गुरुजी तक हल न कर सके उसे भरत ने हल कर दिया। विचारशीलता और भाव-चित्रण की शक्ति के संबंध में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि

ये तो भरत के प्रत्येक शब्द एवं क्रिया में विद्यमान हैं। भरत ने दार्शनिक तत्वों को ऐसी हृदय-स्पर्शी भाषा में प्रकट किया है कि हम रोमांचित हो जाते हैं। उनका समस्त जीवन शांत एवं करुणरस का एक काव्य है। कहीं कहीं करुणा के प्रवाह में 'उनका मन पत्ते की तरह डोलता भासित होता है, पर वह उनके चरित्र में अस्थिरता नहीं लाता।

(इ) कॉलरिज ने हैमलेट के संबंध में लिखा है कि उसमें मस्तिष्क का वह गुण न था जो किसी उद्देश्य की पूर्ति कर सके।

भरत का चरित्र पढ़ते समय हमें यह अनुभव होता है कि वह कोई मूक पर-प्रेरित पशु नहीं, परंतु जीवन-संग्राम में भरसक कर्म करनेवाला कर्मवीर है।

(ई) प्रो० डाउडेन का कथन है कि 'हैमलेट भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच झूलने लगता है, मानों उसमें दोनों का सम्मिश्रण है, बल्कि भौतिकता की मात्रा कुछ अधिक है। इसीलिये दुःखांत घटनाओं की अग्नि उसे जलाकर राख कर देती है। इसके विरुद्ध भरत अपने गुणों से 'कनक कसे मणि पारिख पाए' के सिद्धांत को चरितार्थ करते हैं।

(उ) श्लीगेल ने हैमलेट के विषय में लिखा है कि 'उसे न अपने ऊपर और न किसी अन्य वस्तु पर ही दृढ़ विश्वास था।'

तुलसीदासजी ने भी भरत की दशा का अत्यंत हृदय-द्रावक एवं मार्मिक चित्र खींचा है। चित्रकूट की यात्रा में भरत का मन पीपल के पत्ते की भाँति कुतर्कों की वायु से डोलता प्रतीत होता है। वस्तुतः उस समय उन्हें अपने पर विश्वास नहीं, परंतु राम पर उनका विश्वास अटल है और तुलसीदासजी ने उनकी तात्कालिक दशा का वर्णन इस प्रकार किया है—

मातु मते महँ जानि मोहिं, जो कछु करहिं सो थोर ।
अघ अवगुन छमि आदरहिं, समुझि आपनी ओर ॥

जो परिहरैं मलिन मन जानी । जो सनमानहिं सेवक मानी ॥
मोरे सरन राम की पनहीं । राम सुस्वामि दोष सब जनहीं ॥

... ...

फेरति मनहुँ मातु-कृत खोरी । चलत भगति-बल धीरज धोरी ॥
जब समुझहिं रघुनाथ सुभाऊ । तब पथ परत उतावल पाऊ ॥
भरत-दसा तेहि अवसर कैसी । जल-प्रवाह जल-अलि-गति जैसी ॥

अंतिम विजय उनके भक्ति-बल और राम के भक्त-वात्सल्य की ही होती है। कवि का वैशिष्ट्य यह है कि वह शेक्सपियर की भाँति मन की करुण चंचलता का चित्रण तो अवश्य कर देता है, पर अंतिम विजय आत्मा के ही हाथ रखता है। भरत के आत्म-विश्वास का एक चित्र अभी हम देख ही चुके हैं कि वे गुरु वशिष्ठ, मंत्रिगण तथा माता कौशल्या के अनुरोध पर भी अपने धर्म-मार्ग से विमुख नहीं होते। फिर राम पर तो उनका विश्वास इतना अधिक है कि वह उन्हें करुण परिस्थितियों में डूबने से सदा ही बचा लेता है।

(ऊ) जेकब फीज का कथन है—

'अगर कोई अच्छा राजनीतिज्ञ भी, जो किसी राष्ट्र का कर्णधार हो, अपने आपको सामयिक परिस्थितियों के वेग से विचलित होने दे और उत्तम उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त दृढ़ संकल्प के साथ अपना पूरा बल न लगाए तो दुष्टों को अपनी उद्देश्य पूर्ति का अवसर आसानी से मिल जाता है।' ये शब्द हैमलेट पर कितने लागू होते हैं और राष्ट्र के विनाश में उसकी कितनी बड़ी जिम्मेदारी का पता देते हैं! अब अगर इन शब्दों की कसौटी पर भरत के चरित्र को कसा जाय तो भरत की कीर्ति कितनी बढ़ जाती है! मंथरा और कैकेयी को सफलता इसी कारण नहीं हुई कि

भरत अपने संकल्प पर अटल थे और उन्होंने संकल्प के पूर्णार्थ भरसक प्रयत्न भी किया था। अयोध्या को वास्तविक 'अयोध्या' बनाने में भरत का बहुत बड़ा हाथ था और इसीलिये महाराज दशरथ कहा करते थे—

'जानेहु सदा भरत कुल-दीपा।'

हैमलेट के चरित्र पर लगभग तीन शताब्दियों से वाद-विवाद हो रहा है, अतः विद्वानों की सम्मतियों की सामग्री बहुत है। परंतु अब हम अधिक सम्मतियों का देना उचित नहीं समझते और यह प्रसंग यहीं समाप्त करते हैं।

हमारा नम्र निवेदन यह है कि कृपया पाठकगण इस तुलनात्मक आलोचना का प्रयोग भरत की कीर्ति बढ़ाने में अवश्य करें, पर साथ ही हैमलेट को भी वे घृणा का पात्र न समझें। हमें तो हैमलेट के प्रति करुणा का ही भाव रखना चाहिए। बेचारा हैमलेट शीशे की भाँति स्वच्छ, पर वैसा ही कमजोर है। हमें तो इस भौतिक संसार में आदर्शवाद के परा-जय पर तनिक भी आश्चर्य नहीं होता। फारस देश में मजनूँ और मंसूर के जीवन असफल रहे। रोम के इतिहास में ब्रूटस को सफलता नहीं मिली। मसीह को सूली पर चढ़ना पड़ा। आश्चर्य की बात तो यह है कि भरत को अंततः सफलता ही प्राप्त हुई और इसीलिये हम उन्हें संसार का सर्वश्रेष्ठ आदर्शवादी मानते हैं। उस सफलता का कारण कुछ तो स्वयं भरत की आत्मशक्ति थी और कुछ राम एवं कौशल्या की सप्रेम सहानुभूति। हमें तो हैमलेट की कब्र से फारसी के प्रसिद्ध कवि अलीहजी के शब्दों में यही ध्वनि आती हुई सुनाई पड़ती है कि 'मेरी मिट्टी पर गुलाब की पंखड़ियाँ भी धीरे धीरे बखेरो, क्योंकि मेरे दिल का शीशा बहुत नाजुक है।'[१]

१—आहिस्तः वर्गगुल बफिशाँ बर मजारे मा।
बस नाजुकस्त शीशए दिल दर किनारे मा॥

झ—परिस्थिति और उसका प्रभाव

किसी मानवी चरित्र की विस्तृत विवेचना करने में हम पुनरुक्ति से सर्वथा बच नहीं सकते क्योंकि मनुष्य एक संपूर्ण और सजीव यंत्र है जिसमें चरित्रगत विशेषताओं और हृदय एवं मस्तिष्क की भावनाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया का संघर्ष निरंतर होता रहता है। परंतु यह सब होता है एक ही केंद्र के चारों ओर। यह चेतावनी यहाँ इसलिये आवश्यक है कि पाठकों को कहीं कहीं हमारी विवेचना में पुनरुक्ति मिलेगी, परंतु यह स्मरण रहे कि दृष्टिकोण तो सदा भिन्न ही रहेगा। यह विभिन्नता उसी प्रकार की है जैसी एक ही प्राकृतिक दृश्य को अनेक स्थानों से देखने में प्रतीत होती है, क्योंकि कुछ बातें तो सदैव एक सी रहती हैं, परंतु कुछ बातों के भिन्न होने से प्रभाव में विभिन्नता आ जाती है।

अब हमें यह देखना है कि बाह्य रूप से (आब्जेक्टिव्ली) परिस्थितियों की उस समय क्या अवस्था थी जब हैमलेट और भरत[1] रंगमंच पर

१—'कल्याण' में सर्वप्रथम इस लेखमाला के प्रकाशित होने पर कुछ भक्तों ने हैमलेट के लौकिक चरित की तुलना भरत के लोकोत्तर चरित के साथ करने पर आपत्ति की थी। इस संबंध में 'कल्याण'-संपादक ने जो टिप्पणी प्रकाशित की थी उससे इस तुलना के वास्तविक उद्देश्य का स्पष्टीकरण हो जाता है, अतएव वह टिप्पणी यहाँ अविकल रूप में उद्धृत है—

"हमारे कतिपय श्रीरामभक्त पाठकों ने लिखा था कि 'भरत और हैमलेट की तुलना करनेवाले लेख 'कल्याण' में नहीं छपने चाहिएँ।' उनका ऐसा लिखना बहुत ही ठीक था। वस्तुतः श्रीभरतजी के साथ हैमलेट की किसी अंश में भी तुलना नहीं हो सकती। भरतजी साक्षात् भगवदंश हैं और परमात्मा श्रीराम के लीला-कार्य में सहायक होकर प्रकट हुए हैं, और हैमलेट साधारण आदर्शवादी मानव हैं। फिर सबसे बड़ी बात तो यह है कि भक्तों के निर्भ्रांत निश्चय के

आते हैं। हैमलेट के पिता का अंत संशयजनक रीति से हुआ है और उसकी माता हैमलेट के उसी चाचा से जो उपर्युक्त संशय का हेतु था, ऐसी शीघ्रता से विवाह कर लेती है जो शिष्टाचर के सभी नियमों के प्रतिकूल है। फिर यह वही चाचा है जिसके कारण हैमलेट डेन्मार्क के राज्यसिंहासन से भी वंचित रह गया। संक्षेप में परिस्थिति का मुख्य स्वरूप यही था, और यह स्वरूप हैमलेट के लिये अवश्य ही निराशाजनक था। कोई भी मनुष्य ऐसी परिस्थिति में पड़कर नैराश्यपूर्ण चिंता-रोग से बच जाने पर भी दुःख एवं आश्चर्य के वशीभूत हुए बिना नहीं रह सकता। इसीसे तो मेरा कथन है कि इस परिस्थिति में आदर्शवादी होने की कोई विशेष आवश्यकता ही नहीं है। परंतु हैमलेट की प्रशंसा इस कारण होती है कि उस पाशविक सभ्यता के युग में, जब भौतिकतावाद का ही डंका बज रहा था, ऐसी परिस्थितियाँ असाधारण न थीं और हैमलेट के चाचा की वक्तृता से प्रकट है कि राज्यमंत्रियों ने भी उसके विवाह और राज्य-ग्रहण के विषय में अनुमति दे दी थी। फिर भी हैमलेट के विचार ऐसे सूक्ष्म एवं शुद्ध थे कि उसके हृदय को कड़ी ठेस लगे बिना न रही।

अनुसार श्रीभरतजी का चरित्र तो गोसाईं श्रीतुलसीदासजी महाराज का साधना-बल से अनुभव किया हुआ ऐतिहासिक सत्य है और हैमलेट का सर्वथा काल्पनिक। ऐसी हालत में इन दोनों में कोई तुलना हो ही नहीं सकती। यह लेख तो केवल इसी बात को दिखाने के लिये छापा जाता है कि काव्य की दृष्टि से भी श्रीरामचरितमानस महाकवि शेक्सपियर की रचनाओं की अपेक्षा कितना बढ़ा-चढ़ा और पूर्ण है। साथ ही इस बहाने भगवान् श्रीराम और श्रीभरत के लोक-कल्याणकारी पावन चरित्रों का आनंद भी किसी अंश में पाठकों को मिल ही जाता है। आशा है, भक्त पाठकगण हमारे इस निवेदन से संतुष्ट हो जायँगे।''—'कल्याण' भाग ९, संख्या ९, पृष्ठ १२१९।

इस संबंध में आगे भी विचार किया गया है।

अयोध्या की परिस्थिति बाह्य रूप से भरत के लिये लाभदायक ही थी। राम से छोटे होने पर भी उन्हें युवराज पद मिल रहा था और यह पद भी इस कारण मिल रहा था कि उनके पिता ने कैकेयी को ऐसे वरदान दिए थे जिन्हें पूरा करना उनका कर्तव्य था। फिर वरदानों का मूल कारण भी उनकी माता का वीरत्व या उनके नाना का कैकेयी के विवाह के समय प्रतिज्ञा करा लेना था। भौतिक आदर्श की दृष्टि से इसमें कोई बुराई भी नहीं दिखाई देती। यही कारण है कि दशरथ की मृत्यु हो जाने पर भी कैकेयी को पहले पहल कोई पश्चात्ताप नहीं होता और भरत के आगमन पर वह उन्हें हर्षित दिखाई देती है। जब वह भरत को उदास देखती है तो उसे और कोई कारण नहीं सूझता और वह यही समझती है कि उसके पितृगृह में कोई शोकप्रद घटना हुई है। तुलसीदासजी कहते हैं—

सुतहिं ससोच देखि मन मारे। पूछति नैहर कुसल हमारे॥

परंतु वस्तुतः भरत के शोच का कारण तुलसीदासजी के शब्दों में यह था—

भरत दुखित परिवार निहारी। मानहु तुहिन बनज बन मारी॥

कैकेयी का हर्ष इतना पूर्ण था कि—

सजि आरती मुदित उठि धाई। द्वारहिं भेंटि भवन लै आई॥

यहाँ तक कि जब वह भरत को दुःखी देखती है और भरत स्वयं उससे सीता और राम के संबंध में कुशल-प्रश्न करते हैं तब भी उसका उत्तर कुछ बहुत शोकपूर्ण नहीं होता, प्रत्युत वह अपने कृत्यों की प्रशंसा ही करती है और त्रुटियों का भार विधाता पर डालती है। उसका उत्तर कवि के शब्दों में यों है—

तात बात मैं सकल सँवारी । भइ मंथरा सहाय बिचारी ।।
कछुक काज बिधि बीच बिगारी । भूपति सुरपतिपुर पग धारी ।।

कैकेयी की दृष्टि से परिस्थिति में कितनी कम त्रुटि है, और उसका कारण भी विधाता ही है। अंतिम पंक्ति में वह संकेत रूप से मानो यह भी कहती है कि दशरथ, जो केवल भूपति थे, अब सुरपति के पुर में पहुँच गए, अर्थात् मानो मृत्यु से उनका भी भला ही हुआ। अब तो यह स्पष्ट ही हो गया कि साधारण भौतिक दृष्टिकोण से परिस्थितियों में कोई अधिक गड़बड़ी न थी और वे परिस्थितियाँ भरत और कैकेयी के लिये तो हितकर ही थीं। परंतु भरत जैसे सूक्ष्म आदर्शवादी पर क्या प्रभाव पड़ता है, उसका अत्यंत करुण चित्र तुलसीदासजी ने इस प्रकार अंकित किया है।

भरतहिं बिसरेहु पितु-मरन सुनत राम-बन-गौन ।
हेतु आपनो जानि जिय थकित रहे धरि मौन ।।

आह ! बेचारे भरतजी सन्न रह जाते हैं। उनके पास इस दुःख के पर्याप्त प्रकटीकरण के लिये शब्द ही नहीं है। इसीसे तो हम भरत के आदर्शवाद की प्रशंसा करते हैं कि उनके हृदय के प्रति वे परिस्थितियाँ दुःख का कारण होती हैं जो बहिरंग रीति पर उनके लिये हितकर प्रतीत होती हैं। नहीं तो फिर आदर्शवाद ही क्या, और आध्यात्मिक सूक्ष्मता की प्रशंसा ही क्या ?

अब दोनों राजकुमारों में क्या समानता है, यह भी विचारणीय है। दोनों के हृदय को परिस्थितियों से आघात पहुँचता है और दोनों में शोक की उत्पत्ति होती है। देश, काल और अवस्था के अनुसार दोनों में विचारों की सूक्ष्मता और आदर्शवादिता है। दोनों कवियों ने अपने अपने चरित-नायकों के करुणाजनक चित्र अंकित किए हैं। दोनों चित्र काव्यकला के सौंदर्य से पूर्ण और हृदयस्पर्शी हैं। दोनों राजकुमारों में और भी कई समानताएँ हैं। उदाहरणार्थ दोनों की वक्तृताओं में व्यंग और कटाक्ष हैं और दोनों का विश्वास स्त्रियों पर नहीं है। दोनों नैराश्यपूर्ण शोक से संतप्त हैं।

परंतु दोनों में अंतर भी स्पष्ट है। बेचारे हैमलेट को कोई भी आधार न मिला और इसीलिये उसकी शारीरिक एवं मानसिक दशाएँ शोकातिरेक से विकृत होकर रह जाती हैं। मैं श्री अमरनाथ झा के इस विचार से सहमत हूँ कि हैमलेट की आकर्मण्यता का कारण उसके चरित्र की कोई विशेष त्रुटि न थी प्रत्युत वही विकार था। उसकी जो भी क्रियाएँ हैं, वे आकस्मिक प्रतीत होती हैं। भरत की शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाओं में इतनी दृढ़ता थी कि वह परिस्थिति से नितांत पराजित नहीं हो गए। वह अपने कर्तव्य पर विचार-कर तदनुसार ही कर्म भी कर सके। इसीलिये उनकी क्रियाओं में केवल आकस्मिकता नहीं प्रत्युत विवेक भी है। फिर भरत की भाषा में व्यंग अवश्य है परंतु कटु कटाक्ष और घृणा के उद्गार केवल उस वक्तृता में हैं जो उन्होंने कैकेयी के प्रति की है। हैमलेट के कटाक्षों में प्रेम का लेश बहुधा नहीं है। परंतु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस अंतर का कारण अधिकांश में यह है कि भरत को और सबसे सहारा मिला, केवल कैकेयी ही प्रतिकूल थी। इसके विरुद्ध हैमलेट की सहायता करनेवाला केवल उसका मित्र होरेशियो ही था। भरत में इतनी विवेक-शक्ति शेष रही कि उन्हें केवल माता से ही घृणा हुई और स्त्री-जाति के प्रति घृणा केवल शब्दों में ही रह गई। मंथरा को भी पिटते हुए देख उन्हें दया आ ही गई। परंतु आह, हैमलेट का मानसिक स्वास्थ्य इतना बिगड़ गया था कि वह पुष्पों की भाँति कोमल प्यारी ओफेलिया के प्रति भी कटु भाषण करने और उसे त्याग देने से अपने आपको न बचा सका। फिर भरत का प्रेम कौशल्या और सीता के प्रति इतना स्नेहपूर्ण है कि देखते ही बनता है। ओफेलिया की कब्र पर हैमलेट ने जो भाव प्रगट किए हैं वे आकस्मिक हैं और बहुधा ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे पूर्व-प्रेम की स्मृति के उन्माद में कहे गए हों। फिर हैमलेट का धैर्य भी नैराश्य और शोक के कारण विदा हो गया था।

परंतु भरत में पर्याप्त धैर्य शेष था, यद्यपि शोक के कारण उनकी दशा 'जल-अलि'-सी हो रही थी। इसीसे भरत के आदर्शवाद की विजय होती है और साथ ही करुणरस की काव्यमयी स्थिति भी बनी रहती है, इत्यादि।

अब हम उपर्युक्त विभिन्नताओं और समानताओं में से प्रत्येक की विस्तृत व्याख्या करेंगे—

(१) भावुकता—हैमलेट के समालोचकों ने यह कहा है कि उसकी भावुकता उसके जीवन का अंश बन गई है, परंतु फिर भी उसका प्रकटीकरण तभी होता है जब वह उसे रोक नहीं सकता ; यही उसकी स्नायु संबंधी निर्बलता (नर्वस ब्रेकडाउन) का कारण है। वह दुःख को सहन करता था और प्रायः चुपचाप ही सहन करता था। कभी कभी स्वगत-वार्ता करके रह जाता था। यह क्यों? उत्तर स्पष्ट है कि होरेशियो के सिवा और कोई उसका ऐसा मित्र न था जिससे वह अपने हृदय की बात कह सके। परंतु होरेशियो से भी उसे कोई प्रत्यक्ष सहायता नहीं मिल सकी थी, इसीलिये उसका हृदय शोक-भार से दबकर रह गया था। पहले तो वह अपना कार्यक्रम कुछ सोच भी सकता था पर अंततः वह शक्ति भी शेष न रही। भाव-गोपन का एक कारण यह भी था कि उसके चारों ओर के वातावरण में जासूसी और शंका का ही साम्राज्य था। इसीलिये संदेह के कारण उसकी दशा वैसी ही थी जैसी 'नसीम' ने 'गुलबकावली' के अंतर्गत ताजुलमलूक की दशा का वर्णन किया है—

> गोशे में कोइ लगा न होवे,
> खूशा[1] कोई ताकता न होवे।

१—गुच्छा।

यही कारण है कि हमारे हृदय में हैमलेट की त्रुटियों से उसके प्रति घृणा न उत्पन्न होकर, करुणा और दया का ही भाव उत्पन्न होता है।

अब हम तनिक विस्तार के साथ भरत की भावुकता का वर्णन करेंगे। परंतु उसके पूर्व एक साहित्यिक मर्म की बात को भी यहीं कह देना उचित जान पड़ता है। रामचरित-मानस में नाटक के सभी गुण विद्यमान हैं, परंतु शेक्सपियर के नाटकों की भाँति कवि बिल्कुल छिपा हुआ नहीं है। इस अंतर के कारण हैमलेट और अयोध्याकांड के प्रभाव की विभिन्नता विचारणीय है। यवन देश के नाटकों में जो काम 'कोरस'[१] करता है वही अयोध्याकांड का कवि भी करता है और चरित्रों एवं घटनाओं की आलोचना करता जाता है। इसी कारण मेरे विचार से तुलसीदासजी अपनी कविता के स्वयं ही उत्तम आलोचक हैं। फलतः हमको ठीक शिक्षा मिलती जाती है। महाकवि शेक्स-पियर-कृत हैमलेट यदि विचारपूर्ण गंभीरता से पढ़ा जाय तो निस्संदेह यही धारणा होती है कि शेक्सपियर पाशविक स्वार्थवाद और ठोस भौतिक सभ्यता के प्रति हमारे हृदय में घृणा उत्पन्न करना चाहता है और हैमलेट के प्रति करुणा। परंतु जब कवि स्वयं रंगमंच पर हमारे समीप आकर स्पष्टतः कोई उपदेश नहीं करता तो परिणाम यह होता है कि साधारण जनता, जिसमें गंभीर विवेक-शक्ति नहीं रहती, यह मान बैठती है कि आदर्शवाद असफलता के लिये ही बना है, और इसी कारण पाश्चात्य जगत् में आदर्शवाद का बहुधा मखौल उड़ाया जाता है। लोग यह कहते हैं कि हमारे अंतरात्मा का सोच-विचार ही हमें कायर बना देता है। ऐसे मनुष्य बहुत कम हैं जो यह समझें कि भौतिक सभ्यता में दोष है।

१—गानेवालों की एक टोली होती थी जो बीच बीच में गान द्वारा घट-नाओं एवं चरित्रों की आलोचना करती जाती थी।

अब हम उपर्युक्त कथन के अनुसार भरत की भावुकता के उदाहरण देते हैं।

(१) जब भरत ने अपने पिता के मरण का हाल अपनी माता से सुना तो उनकी जो दशा हुई उसका वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

तात तात हा तात पुकारी। परे भूमि-तल ब्याकुल भारी॥
चलत न देखन पायहुँ तोहीं। तात न रामहिं सौंपेहु मोहीं॥

ये पंक्तियाँ कितनी सुंदर और हृदयविदारक हैं। पिता के प्रति प्रेम और भ्राता (राम) के प्रति अत्यंत स्नेहपूर्ण श्रद्धा मानों उमड़ी पड़ती है। भरत अपने आपको नितांत असहाय समझते हैं, क्योंकि वह पिता के मरते समय उपस्थित न थे और पिता उन्हें राम को सौंप न सके थे। 'चलत न देखन पायहुँ तोहीं' का पश्चात्ताप कितना स्वाभाविक है। यह सब होते हुए भी भरत में धैर्य है—

बहुरि धीर धरि उठे सँभारी।

वे माता से प्रश्न करते ह—

कहु पितु-मरन-हेतु महतारी॥

और जब उन्हें यह मालूम हो जाता है कि पिता-मरण के मूल कारण वे स्वयं हैं तो वे सन्न रह जाते हैं।

हेतु आपनो जानि जिय थकित रहे धरि मौन।

आह, कैकेयी तब भी यही समझती है कि यह शोक स्थायी नहीं और भरत को इस प्रकार समझाना चाहती है—

तात राउ नहिं सोचन जोगू । बढ़ै सुकृत जस कीन्हेंउ भोगू ।।
जीवित सकल पुण्य फल पाए । अंत अमरपति-सदन सिधाए ।।
अस अनुमान सोच परिहरहू । सहित समाज राज पुर करहू ।।

मानों वह भरत को राज्य का प्रलोभन देकर प्रसन्न करना चाहती है। परंतु भरत जैसे आदर्शवादी शुद्ध-सूक्ष्म विचारवाले व्यक्ति पर उलटा ही असर होता है। उनके शोक की मात्रा कई गुनी बढ़ जाती है। जिन शब्दों में तुलसीदासजी उस शोक का वर्णन करते हैं और उसकी तुलना के लिये जैसी अछूती उपमाएँ उपस्थित करते हैं, वे अपने आप उदाहरण हैं। देखिए—

मनहुँ जरे पर लोन लगावति।

और—

पाके छत जनु लाग अँगारा।

(२) भरतजी जब शृंगवेरपुर के निकट पहुँचते हैं और निषाद से उन्हें परिचित कराया जाता है तो तुलसीदासजी उनकी दशा का वर्णन यों करते हैं—

राम-सखा सुनि स्यंदन त्यागा । चलेउ तुरत उमगत अनुरागा ।।

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाय ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेम न हृदय समाय ।।

यह चित्र कितना सुंदर है ! जो निषाद पहले ही राम का सखा बन चुका है, उसके प्रति यह आदर-भाव उचित ही है। जाति और अंत्यजता प्रेम-सागर में डूबकर विलीन हो जाती है। नहीं नहीं, अनुराग के आवेश में वैसे विचार मस्तिष्क में आ ही नहीं सकते।

'तुरत' शब्द प्रगट करता है कि प्रभाव विद्युत्वत् था, विचार की गति ही न थी। दूसरी ओर भी प्रभाव वैसा ही पड़ा और वह निषाद जो तनिक पहले लड़ने पर तैयार था और जासूस बनकर आया था, भरत के प्रेम के हाथों बेदाम बिक गया। तुलसीदासजी लिखते हैं—

देखि भरत कर सील-सनेहू। भा निषाद तेहि समय विदेहू॥

मानो निषादका सारा विरोध भरत के प्रेम-समुद्र में डूब गया—वह प्रेम जिसके लिये कवि लिखता है—

प्रेम न हृदय समाय।

कवि इस बात पर बहुत जोर देता है कि भरत और निषाद भगवान् राम के विश्राम-स्थान को 'कर सों कर जोरे' जा रहे हैं और वह इस चित्र पर ऐसा मुग्ध है कि स्वयं लिखता है—

सोहत दिए निषादहिं लागू।

भरतजी तब प्रश्न करते हैं—

पूछत सखहिं सो ठाँव दिखाऊ। नेकु नयन-मन-जरन जुड़ाऊ॥
जहँ सिय-राम-लखन निसि सोए। कहत भरे जल लोचन-कोए॥

तुलसीदासजी द्वारा भरत-चरित्र के वर्णन से हमें यह ज्ञात होता है कि भरत का शोक उस अंतिम सीमा तक पहुँच चुका है जिसे वह बार-बार 'जिय की जरन'—शब्दों से प्रकट करते हैं। अयोध्या में भी उन्होंने कहा था कि—

बिन देखे रघुबीर-पद जिय की जरन न जाय।

अब यहाँ नयन और मन की जरन का वर्णन है। और इसीलिये जब भरत ने पहले पहल रामजी को देखा है तो उसका वर्णन करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं—

कर कमलन धनुसायक फेरत। जिय की जरन हरत हँसि हेरत ॥

अभी राम ने भरत को देखा नहीं है, अतः इस हास्य का संबंध भरत से नहीं, प्रत्युत अन्य उपस्थित जनों से है।

फिर जब भरतजी निषाद के साथ अभीष्ट स्थान पर पहुँच जाते हैं तो उस समय की अवस्था का वर्णन तुलसीदासजी यों करते हैं—

अति सनेह सादर भरत कीन्हेउ दंड प्रनाम।

कुस साथरी निहार सुहाई। कीन्ह प्रनाम प्रदच्छिन लाई ॥[1]

यहाँ पर भरत और हैमलेट का अंतर स्पष्ट है। भरत तो राम की साथरी देखकर भी उसे प्रणाम करते और इस प्रकार मानो राम का आदर करते हैं। पर जब हैमलेट ने अपने पिता की छाया देखी तो उसने कोई आदरसूचक कार्य नहीं किया, प्रत्युत उन्मत्त की भाँति ही क्रियाओं और वचनों का प्रयोग करता रहा। इसी से तो हमें वहीं से उसका पतन दिखाई पड़ने लगता है और किसी सुंदर तथा मनोहर भाव का प्रकटीकरण नहीं होता। भावुकता की दृष्टि से मानस का यह स्थल बहुत ही मनोहर है। तुलसीदासजी ने उसका चित्रण अत्यंत सूक्ष्मता एवं सरलता के साथ किया है—

१—चिह्नों का यह आदर ही उस भाव का मूल है जिसका प्रकटीकरण रूपांतरों के साथ, कहीं प्रेमिक और प्रेमिका की सहदानी के रूप में, कहीं ऐतिहासिक घटनाओं के स्मारक रूप में (जहाँ खँडहरों तक का आदर होता है) और कहीं मूर्तिपूजा के रूप में हुआ करता है। अस्तु, इसका कारण 'अति सनेह' ही है जो कोरे तर्क से परे है।

चरन-रेख-रज आँखिन लाई। बनै न कहत प्रीति अधिकाई ॥
कनक-बिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे ॥

भरत की यह सूक्ष्मदर्शिता उनके प्रेमाधिक्य के ही कारण है कि उन्होंने छोटे छोटे कनक-बिंदु भी नेत्रों द्वारा खोज लिए।

तुलसीदासजी थोड़े ही शब्दों में भरत की बाह्य एवं आंतरिक अवस्था का चित्र अत्यंत सुंदरता के साथ इस प्रकार उपस्थित करते हैं--

सजल बिलोचन हृदय गलानी।

ऐसा ही भावुक पुरुष मानवी भावों का अनुभव निर्जीव पदार्थों में भी करने लगता है, मानो वह उन भावों को संपूर्ण प्रकृति में व्याप्त पाता है। प्राकृतिक सौंदर्य संबंधी कविता का मूल कारण यही भावुकता है। भरत-जी में इस समय यह भावुकता ऐसे कोमल और सुंदर रूप में वर्तमान है कि जैसे वह स्वयं वियोग से दुखी हैं वैसा ही अनुमान कनक-बिंदुओं के संबंध में भी करते हैं। भाव कितना मनोहर है, वह कवि के इन शब्दों से प्रकट है—

श्रीहत सीय बिरह पति हीना। यथा अवध नर-नारि मलीना ॥

उपमा की सरलता एवं सामयिकता भी विचारणीय है। कितना नाटकीय सत्य है! आह, कनक-बिंदुओं में भी अयोध्यावासियों से कम भावुकता न थी। एक सूक्ष्म संकेत और भी है। ऐसे संकेत ही तुलसीदासजी की कविता के प्राण हैं। कनक-बिंदु से प्रकट होता है कि सीता के शरीर पर गहने और सितारे के काम के कपड़े थे। ठीक भी है। सीता का वनवास किसी आदेश के कारण न था, अतः स्त्रियोचित स्वाभाविकता उनमें कुछ न कुछ बनी हुई थी। ऐसी कोमल स्त्री का वनवास और भी दुःख-जनक है। इसके अतिरिक्त विधाता की वह विडंबना भी विचारणीय है कि वे कनक-बिंदु भी छूटते चले जाते हैं। सीता

जीवन के इस अंतर की ओर भरत का विचार आकृष्ट हुए बिना न रहा। भरतजी कहते हैं—

पति देवता सुतीय मनि सीय साथरी देख।
बिहरत हृदय न हहरि करि पबि से कठिन बिसेख॥

तत्पश्चात् भरत का ध्यान लक्ष्मण की ओर भी जाता है—उनके वीरत्व की ओर नहीं, प्रत्युत उनकी कोमलता की ओर। इस समय यही स्वाभाविक भी है। भरतजी लक्ष्मण के विषय में कहते हैं—

लालन जोग लखन लघु लोने।

लालन, लखन और लोने का अनुप्रास भी विचारणीय है। वह इतना सुंदर, स्वाभाविक एवं भावुकतापूर्ण है कि मानस में ऐसे उदाहरण कम ही मिलेंगे। भरतजी का हृदय फटा जाता है; वह कहते हैं—

ते बन बसहिं बिपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस यह छाती॥

हमें भरत के 'पबि से कठिन' और 'कोटि कुलिस' शब्दों से, जो उन्होंने अपने 'हृदय' और 'छाती' के संबंध में कहे हैं, हैमलेट की उस स्वगत-वार्ता का स्मरण होता है जिसमें उसने कहा है कि 'यह शरीर बहुत ठोस है......।' दोनों में शोक की मात्रा समान ही है।

तदनंतर भरत का ध्यान राम की ओर जाता है। पहले सुकुमारी सीता फिर लक्ष्मण और फिर राम की ओर आकृष्ट होने का क्रम भी विचारणीय है। राम के संबंध में भरत कहते हैं—

बैरिहु राम बड़ाई करहीं। बोलन मिलन बिनय मन हरहीं॥

राम के समस्त जीवन का सार इतने संक्षिप्त और भावुकतापूर्ण शब्दों में मानस में भी और कहीं नहीं है। धन्य है प्रेमपूर्ण भरत

की काव्यमयी दृष्टि और तुलसी की लेखनी ! आह, स्रष्टा के संसार का कार्यक्रम कितना दुःखमय है कि ऐसे पुरुष को, जिसकी बड़ाई उसका शत्रु भी करे, उसकी एक माता ही वन को भेज दे जहाँ उसकी दशा यह हो—

ते सोवत कुस डासि महि,

इस अंतर के अनुभव के बाद जब भरत माता के प्रति घृणापूर्ण शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हमारा हृदय उसकी पुष्टि ही करता है। वह कहते हैं—

धिक कैकेइ अमंगल-मूला। भई प्रान-प्रीतम प्रतिकूला॥

हम पहले ही कह चुके हैं कि भरत और हैमलेट दोनों में शोक और नैराश्य की मात्रा एक ही-सी थी, परंतु भरत का मानसिक संतुलन अधिक दृढ़ था और उन्हें बाह्य सहायताएँ पर्याप्त मात्रा में मिलती जाती थीं। परंतु बेचारा हैमलेट लगभग नितांत असहाय था। देखिए न, यहाँ भी भरत को निषाद की सहायता मिलती है और वह कैसे मनोहर शब्दों में उन्हें तसल्ली देता है—

बिधि बाम की करनी कठिन जेहि मातु कीन्ही बावरी।
तेहिं राति पुनि पुनि करहिं प्रभु सादर सराहन रावरी॥
तुलसी न तुमसों राम प्रीतम कहत हौं सौंहें किए।
परिनाम मंगल जानि अपने आनिए धीरज हिए॥

कितने सांत्वनापूर्ण शब्द हैं। राम के अतिरिक्त कैकेयी के काम की ऐसी उदार आलोचना शायद ही किसी ने की हो। फिर यह पहला अवसर है जब भरत को ठीक ठीक यह ज्ञात होता है कि राम के उदार हृदय में उनके प्रति इतना प्रेम भरा हुआ है कि उनकी अनुपस्थिति में भी उनकी सादर सराहना बार-बार की। ऐसे ही अवलंबों के कारण भरत का दिल टूटने नहीं पाता और उनका वह धैर्य बना रहता है जो

उनके कर्तव्य-पालन में सहायक होता है। यहाँ भी तुलसीदासजी लिखते हैं--

सखा-वचन सुनि उर धरि धीरा।

इत्यादि।

(३) हम इसके पूर्व ही भरत के आदर्शवाद विषयक आध्यात्मिकतापूर्ण कला-विवेचन का वर्णन कर चुके हैं।

भरत पहले तो अयोध्या से पैदल ही चल देते हैं, परंतु फिर माता कौशल्या के आग्रह से श्री गंगाजी के तट तक रथ पर जाते हैं। परंतु गंगा को पार कर लेने पर फिर वह किसी की नहीं सुनते और बराबर पैदल ही जाते हैं। भरत के इस निर्णय में कितना सूक्ष्म संतुलन है। यहीं से राम ने भी तो पैदल यात्रा प्रारंभ की थी, अतः भरत ने भी उसके विरुद्ध करना अपने सेवाधर्म के प्रतिकूल समझा। भरत अपने भावों को स्वयं इस प्रकार व्यक्त करते हैं--

राम पयादे पाँव सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥
सिर-बल जाउँ उचित अस मोरा। सबते सेवक-धर्म कठोरा॥

विचार कितने भावुकतापूर्ण हैं और उनमें स्वकर्तव्यपालन का कितना उच्च आदर्श है। हमारे लिये तो, जो ऐसे युग में रहते हैं जहाँ चारों ओर 'अधिकार-अधिकार' का ही शोर मच रहा है, ऐसे विचारों का समझना ही कठिन है।

इस भावुकता की अवस्था का कितना सुंदर चित्रण निम्नलिखित दोहे में है, जिसमें कुशल कवि ने भरत के प्रयाग-प्रवेश का वर्णन किया है—

भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेस प्रयाग।
कहत राम-सिय राम-सिय उमँगि उमँगि अनुराग॥

आगे फिर—

झलका झलकत पायन कैसे। पंकज-कोस ओसकन जैसे।

इस वर्णन को डबडबाई आँखों बिना कौन पढ़ सकता है ?

महाकवि शेक्सपियर ने भी हैमलेट का वर्णन करते समय कुछ ऐसा ही लिखा है। 'उसके कपड़े सब खुले हुए थे और सर पर टोपी न थी। मोजे नीचे को गिरे हुए और उनके बंद खुले थे। उसका रंग भी उसके पीले कुरते की तरह पीला था और उसके घुटने काँपते हुए टकरा रहे थे। उसकी दृष्टि ऐसी करुण थी मानो वह नरक के भयानक दृश्य देखकर छूट आया था, और पुनः उन्हें हमारे समीप चरितार्थ करना चाहता था।'

दोनों चित्रों में भावुकता है, परंतु भरत का चित्र सकरुण ही नहीं वरन् सरस और सुंदर भी है। उधर हैमलेट के चित्र में करुणरस के साथ भयानक-रस का इतना अधिक सम्मिश्रण है कि हमें नरक की घोर घटनाओं की याद आए बिना नहीं रहती। इसी कारण तो जहाँ भरत के प्रति चारों ओर से सहानुभूति ही उमड़ती हुई लक्षित होती है वहाँ स्वयं हैमलेट की प्रेमिका ही उससे भयभीत हो जाती है।

बस, अब हम यहीं पर भरत की भावुकता के उदाहरणों को समाप्त करते हैं, नहीं तो हमें फिर वे सभी पद उद्धृत करने पड़ेंगे जिनमें भरत का वर्णन है, क्योंकि यों तो भरत भावुकता की मूर्ति ही हैं।

उदाहरणों की तो समाप्ति कर दी गई, परंतु भरत की भावुकता के संबंध में एक मार्मिक बात कहनी आवश्यक है। उस भावुकता का अर्थ केवल हृदयोद्गारों के वशीभूत होना नहीं है, परंतु उसमें ऐसा गांभीर्य है कि विचार-शक्ति अपना काम बराबर करती रहती है। यही अवस्था उस समय भी बनी रहती है जब वह चित्रकूट पहुँच जाते हैं और राम से उनका मिलाप हो जाता है। तुलसीदास ने अत्यंत मार्मिक शब्दों में कहा है—

निसि न नींद नहिं भूख दिन भरत बिकल सुठि सोच ।
नीच कीच बिच मगन जस मीनहिं सलिल सँकोच ।।

कितना सुंदर चित्र है ! अयोध्या के और लोग तो राम-मिलन से प्रसन्न हो वन-विहार कर रहे हैं, परंतु भरत की गंभीर भावुकता का वेग अब भी कम नहीं हुआ है, और उनका मस्तिष्क अब भी उसी चिंता में व्यस्त है कि राम कैसे लौटें । कारण, उनकी भावुकता केवल बाह्य मिलन पर समाप्त न हो सकती थी प्रत्युत उनके सामने तो वही प्रश्न था कि राम का राज्य उनको कैसे लौटाया जाय ।

हमें इस संबंध में प्रसंगानुसार आगे अभी बहुत कुछ लिखना है, अतः यहाँ अधिक व्याख्या अनावश्यक होगी । परंतु हमारा निवेदन है कि जो लोग महाकवि शेक्सपियर की कविता के इस गुण पर मुग्ध हैं कि वह अपने चरित्रों की आंतरिक भावनाओं के कार्यक्रम को स्पष्ट कर देता है, वे इस स्थान के सभी पदों पर विशेष ध्यान देने की कृपा करें जिनमें हमारे कवि ने भरत के आंतरिक विचार-संघर्षण का स्पष्टीकरण किया है ।

भरत की भावुकता का अंत मालीखूलिया में नहीं होने पाता । उसका विशेष कारण यह है कि राम की सहानुभूतिपूर्ण भावुकता में उसका प्रत्युत्तर मिल जाता है । जब लक्ष्मण ने यह सूचना दी कि भरत आ रहे हैं तो राम ने उसे एक शुष्क दार्शनिक की भाँति नहीं, अपितु ऐसे मनुष्य की भाँति ग्रहण किया, जिसमें मानवी भावुकता एवं दया पूर्णतः विद्यमान हैं । तुलसीदासजी लिखते हैं—

उठे राम सुनि प्रेम-अधीरा । कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा ।।
बरबस लिए उठाय उर लाए कृपानिधान ।
भरत-राम की मिलन लखि बिसरा सबहिं अपान ।।

चित्र इतना भावपूर्ण है कि उसकी मस्तिष्कीय विवेचना होनी ही कठिन है । वहाँ हृदय के प्रति हृदय का ही संबोधन था और परिणाम-

स्वरूप भरत की हृदयाग्नि शांत हो चली थी। सीता की सहानुभूति भी कुछ कम गहरी न थी, पर उसमें राम का-सा बाह्य स्पष्टीकरण न था—

सीय असीस दीन्ह मन माहीं। मगन सनेह देह सुधि नाहीं ॥

भाव कितना गंभीर और उच्च है। शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ और न हो ही सकता था। परंतु प्रेम की भाषा ही और होती है जिसके समझने में कभी भूल नहीं होती। उस भाषा को भरत ने विद्युत्वेग समझ लिया और उनका भय और शोक जाता रहा—

सब विधि सानुकूल लखि सीता। भे बिसोच उर अपडर बीता।

आह! बेचारे हैमलेट के लिये तो ऐसी सहानुभूति प्राप्य ही न थी। स्वयं उसकी माता और प्रेमिका भी उसके हृदय के ताप को किसी प्रकार शांत न कर सकीं और परिणाम यह हुआ कि वह ताप ऐसी प्रचंड ज्वाला में परिणत हो गया जिसमें हैमलेट और सभी लोग भस्मीभूत हो गए।

(२) एक प्रश्न—एक महानुभाव ने किसी रियासत से 'कल्याण' कार्यालय द्वारा कई प्रश्न मेरे पास भेजे, जिनमें से एक इसी प्रसंग का था। अतः उत्तर देना आवश्यक प्रतीत हुआ। प्रश्न यह था कि तुलसीदासजी ने—

झलका झलकत पायन कैसे।

—वाला करुणाजनक चित्र जैसा भरत का अंकित किया है वैसा ही राम का क्यों नहीं अंकित किया?

प्रश्न अत्यंत रोचक था, अतः संक्षिप्त उत्तर इस प्रकार दिया गया—

(१) कवि का मुख्य उद्देश्य जितनी करुणा दशरथ और भरत के प्रति उत्पन्न करना है उतना अन्य किसी के प्रति नहीं। उन्हीं दोनों पर वैसी घटनाओं का विशेष प्रभाव था। उन्हीं दोनों में प्रकृत्या अधिक भावुकता थी और इसीलिये वे ही दोनो कठिनाइयों की ठेस का अधिक अनुभव करते थे।

(२) हम पूर्व ही बर्नार्ड शा महोदय के उस कथन का उल्लेख कर चुके हैं जिसमें बतलाया गया है कि किसी व्यक्ति की सबसे अधिक आनंदपूर्ण अवस्था वह होती है जब वह यह अनुभव करता है कि उसमे विश्व की शक्तियाँ कोई महत्त्वपूर्ण कार्य्य करा रही हैं। जो लोग राम को अवतार नहीं मानते, वे भी उन्हें कम से कम वैसा एक व्यक्ति तो अवश्य मानते हैं। इसीलिये अयोध्या से चलते समय उनके हृदय में आनंद है। अगर कुछ शोक है तो दूसरों का। अयोध्या से कुछ दूर निकल जाने और सुमंत से विदा होने के पश्चात् तो उपर्युक्त शोक भी प्रकट रूप में न रह गया और प्रसन्नता ही अधिक स्पष्ट हो गई। इस अंतर को कवि ने स्वयं ही अनुभव कर एक स्त्री द्वारा, भरत और शत्रुघ्न को चित्र-कूट जाते हुए देखकर, अपनी सखी से यों कहलया है—

नहिं प्रसन्न मुख मानस खेदा। सखि संदेह होत यहि भेदा ॥

आह ! राम की प्रसन्नता और भरत के 'मानसखेदा' का कैसा उत्तम संकेतात्मक चित्र है।

साधारण अनुभव भी यही बताता है कि आनंद की अवस्था में हमारा शरीर अधिक कष्ट सह सकता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि जब भरत भी कुछ वैसे ही आनंद की अवस्था में पहुँचे हैं तो उन्होंने

स्वयं राम से वनों एवं पर्वतों के भ्रमणार्थ आज्ञा माँगी है और तब उनके पाँच दिनों के भ्रमण में कहीं भी 'झटके' का उल्लेख नहीं है।

(३) राम को वन्य जीवन का अभ्यास पहले से ही था, क्योंकि वह कुछ काल तक विश्वामित्रजी के साथ रह चुके थे। इसके अतिरिक्त तुलसीदासजी ने भरत का लालन-पालन बड़े दुलार का दिखाया है। भरत ने स्वयं ही राम के वात्सल्य का उल्लेख करते हुए कहा है—

हारेहु खेल जितावत मोहीं।

ऐसे लालन-पालन के पश्चात् प्रथम यात्रा में झलकों का पड़ जाना नितांत स्वाभाविक है।

(४) हिंदू-सिद्धांत के अनुसार विश्व की शक्तियाँ केवल जड़ शक्तियाँ नहीं हैं, प्रत्युत उनमें वह चैतन्यता है जिससे संसार का कार्य ठीक ठीक चलता है। उन्हीं शक्तियों को 'देव' कहा है। वे ही शक्तियाँ प्रारंभ में भरत के प्रेम की परीक्षा कर रही थीं, और भरत विश्व-द्रोही रावण के मारने के कार्य में बाधा सी डालने जा रहे थे, इसलिये पग पग पर कठिनाइयाँ भी पैदा कर रही थीं। राम की यात्रा में वे सभी शक्तियाँ उनकी सहायता पर उद्यत थीं। वह तो जब देवताओं के गुरु ने उन्हें बहुत समझा-बुझाकर यह भय दिखाया कि—

जो अपराध भक्त कर करई। राम-रोष पावक सो जरई॥

तब उन्होंने भरत के प्रति भी अपना व्यवहार बदला, फलतः आगे भरत का मार्ग भी सुगम हो गया, जिसका चित्रण—

किए जाहिं छाया जलद,

तथा—

'तस मग भयेउ न राम कहँ जस भा भरतहिं जात॥

इत्यादि शब्दों में किया गया है।

(३) एक और प्रश्न—मैं भरत के साथ हैमलेट की तुलना ही क्यों करता हूँ? 'कल्याण'-संपादक के पत्र और उनकी टिप्पणी[१] से विदित होता है कि भगवान् राम के कुछ पूज्य भक्तों ने उपर्युक्त तुलना के विषय में शंका प्रकट की है। उनकी धारणा है कि भरत जैसे आध्यात्मिक एवं आवतारिक व्यक्ति की तुलना किसी मानवी चरित्र के साथ करनी ही न चाहिए थी। मैं ऐसी प्रगाढ़ भक्ति का आदर करता हूँ और मानता हूँ कि अधिकांश में यह धारणा उचित है। मैंने इसके मुख्य कारणों को प्रारंभ में ही प्रकट कर दिया है, परंतु अब प्रश्न उठने पर यह अनुचित न होगा कि संक्षेप में उन कारणों को अन्य कारणों सहित उनकी सेवा में पुनः रख दूँ। कितना सुंदर और अनन्य है वह प्रेम, जो अपने प्रेमपात्र से किसी की तुलना सहन नहीं कर सकता। पुष्पवाटिका संबंधी दृश्य में भी जब चंद्रमा अपनी पूर्ण छटा के साथ 'प्राची-दिशि' से उदय हुआ था और मानो सीता के प्रकाशपूर्ण मुख के साथ बराबरी का दावा करना चाहता था, तब भगवान् राम के प्रेम-प्रभावित हृदय से भी यही शब्द निकले थे—

सिय-मुख-समता पाव किमि चंद बापुरो रंक ॥

परंतु वह मर्यादापुरुषोत्तम थे और इसीलिये उन्होंने वैसा कहने के पूर्व अनेक कारणों को भी प्रकट कर दिया था। हमें भी उसी मर्यादा का पालन करते हुए भरत और हैमलेट की तुलना संबंधी व्याख्या में अपनी धारणा के पोषक कारणों को अवश्य प्रकट कर देना चाहिए, विशेषतः इसलिये भी कि वर्तमान युग तर्क-प्रधान है। वे कारण ये हैं—

१—देखिए पृष्ठ १०२

(अ) शॉ महोदय का सिद्धांत है, और ठीक ही है कि संसार का साहित्य सदा से दो प्रमुख चरित्रों के चित्रण में लगा रहा है—हैमलेट (आदर्शवादी) के अथवा डान जुआन (भोगवादी) के। उनका यह भी कहना है कि काव्य-वैशिष्ट्य की सबसे बड़ी परख दुःखांत कविता में ही होती है। इसी कारण मैंने भरत से तुलना करने के लिये हैमलेट को ही चुना है और अपनी व्याख्या से यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि हैमलेट को आदर्शवादी कहना ही बहुधा अनुचित है, विशेषतः इस कारण कि अब संसार रामचरितमानस के सूक्ष्म एवं आध्यात्मिक नीर-क्षीर-विवेचक भरत रूपी राजहंस से परिचित हो चुका है। मैं यह भी दिखला चुका हूँ कि महाकवि तुलसीदास ने अपनी काव्य-कला द्वारा पाश्चात्य दुःखांत कविता संबंधी धारणाओं की त्रुटियों का किस प्रकार परिशोधन किया है।

(आ) मेरी व्याख्या से अधिकांश में भरत और हैमलेट के चरित्र में दिखाई पड़नेवाला विरोधाभास ही प्रकट होता है, समानता तो कम ही है। वस्तुतः मैं भी तुलसीदास के इस सिद्धांत से सहमत हूँ कि भरत की तुलना किसी के साथ उसी प्रकार नहीं हो सकती जैसी 'सुमेरु' की 'सेर' से।

(इ) यह कहना गलत है कि हैमलेट ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है। अंतर केवल इतना ही है कि महाकवि शेक्सपियर ने अपने कौशल से ऐतिहासिक हैमलेट को सुधारकर एक संस्कृत और सत्यानुयायी व्यक्ति बना दिया है—पौर्वात्य रीति पर न सही तो पाश्चात्य रीति पर। दूसरी ओर, क्योंकि भरत दैवी सत्ता के वह अंश हैं जिसे तुलसीदासजी ने 'विश्व-भरण-पोषण कर जोई' में व्यक्त किया है, अतः उनतक किसी काव्यकल्पना की पहुँच हो ही नहीं सकती। इसीलिये तुलसीदासजी ने भी स्वयं स्वीकार किया है कि मेरा वर्णन केवल 'यथामति' ही है। क्या हम इस बात का दावा उचित गौरव के साथ नहीं कर सकते कि महाकवि शेक्सपियर के काव्य-कौशल द्वारा संशोधित हैमलेट भी महा-

कवि तुलसीदासजी द्वारा चित्रित भरत से लग्गा नहीं खाता, यद्यपि वैसा चित्रित भरत भी ऐतिहासिक एवं आवतारिक भरत से कहीं कम है ? शेक्सपियर ने हैमलेट के लिखने में कई वर्ष लगाए और इधर हमारे तुलसीदास भी भरत के चरित्र पर सबसे अधिक मुग्ध थे। यह भरत के चरित्र के ही अध्ययन का परिणाम था कि तुलसीदासजी राम-भक्त बन सके। उन्होंने स्वयं कहा है कि यदि भरत का जन्म न होता तो—

'तुलसी से सठहिं हठि राम-सनमुख करत को ?'

यही नहीं, अयोध्याकांड के अंत में भरत के स्वसंकल्पित तप की तुलना यों की गई है—

लषन-राम-सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तन कसहीं॥
दुइ दिसि समुझि कहत सब लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू॥

क्या संसार के दो सर्वश्रेष्ठ महाकवियों के ऐसे दो चरित्रों के तुलनात्मक अध्ययन का फल यह न होगा कि हमारे आत्मा का उत्थान एवं कल्याण हो ?

(ई) पाश्चात्य जगत् की दुःखांत कविता संबंधी धारणा और शेक्सपियर के हैमलेट और ब्रूटस जैसे आदर्शवादियों के चरित्र-चित्रण का संसार के विचारों पर कोई उत्तम प्रभाव नहीं पड़ा। जिन व्यक्तियों के मानसिक विचारों पर पाश्चात्य जगत् का प्रभाव पड़ा है उनकी धारणा सी बन गई है कि आदर्शवाद सफल हो ही नहीं सकता। शेक्सपियर के ये शब्द कि 'अंतरात्मा हम सबको कायर बना देता है' नवीन जगत् के सिद्धांत का आवश्यक अंश बन चुके हैं। अदर्शवादी शब्द तो मानो अप्रशंसासूचक बन गया है। यहाँ तक कि बर्नार्ड शॉ महोदय भी अपनी कल्पना-शक्ति को आगे न बढ़ा सके। उनका विकसित मनुष्य रूपी चरित्र (सुपरमैन), जो यथार्थ में क्रांतिवादी है

और जो पाश्चात्य जगत् के सिद्धांत के अनुसार ही आदर्शवादी कहा जा सकता है, अपने सारे सिद्धांतों को मानवी प्रेम एवं विवाह की चट्टान की आकस्मिक ठोकर से चकनाचूर कर देता है। आह, कितना करुणामय दृश्य है कि वह (चरित्र) तो विवाह के बाद भी आदर्श की बातें करता है, परंतु उसकी प्रेमिका, जो प्रकृत संसार का मूर्त रूप है, अपनी सखी से केवल इतना ही कहती है कि 'उन्हें बकने दो'—और सब हँस पड़ते हैं। इस मखौल ने आदर्शवाद का उससे अधिक हनन किया है जितना शेक्सपियर के नाटकों की रक्तरंजित घटनाओं ने। खेद इस बात का है कि हमारा हिंदी साहित्य भी पाश्चात्य जगत् की इन धारणाओं की नकल करने से बचा नहीं रह सका। परिणामतः संसार में निराशवाद एवं आत्महत्या की घटनाएँ बढ़ रही हैं।

यदि हम हैमलेट और भरत तथा उनकी परिस्थितियों की तुलना द्वारा यह दिखला सकें कि आदर्शवाद की सफलता में किन किन भीतरी और बाहरी साधनों की आवश्यकता होती है, तो क्या यह बात संसार के आत्मोत्थान में सहायक न होगी एवं पृथिवी पर आशा की नवीन धुन न लाएगी? इस दृष्टिकोण से अयोध्या और डेन्मार्क की तुलना संसार के लिये कल्याण-कारक ही बनेगी।

(उ) डेन्मार्क में लगभग चारों ओर नैतिक सड़न वर्तमान है, यद्यपि शेक्सपियर ने उसे नरम शब्दों में यों लिखा है कि 'डेन्मार्क के राज्य में कुछ नैतिक सड़न है'। शेक्सपियर के नाटक में डेन्मार्क ठोस और पाशविक भौतिकवाद का चिह्नस्वरूप है। इधर 'अयोध्या' वैदिक शब्द है जिसका यौगिक अर्थ 'शांतिनगर' होता है। इस प्रकार क्या अयोध्या स्थायी शांति की द्योतक नहीं है जिसका 'सकल लोक दायक अभिरामा' राम का निवास-स्थान होना उचित ही है? रामायण, और विशेषतः अयोध्याकांड के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि नैतिक

विष के प्रभाव से ऐसे शांत स्थान में भी कैसी हलचल पैदा हो जाती है, मानो सारा राज्य रूपी शरीर ही रुग्ण हो। भरत मानो उस शरीर के लिये स्वास्थ्य-शक्ति के रूप में हैं जो स्वाभावतः विषनाशक होती है। जैसे यदि हमारे शरीर में जीवन-शक्ति का प्राबल्य होता है तो रोग की उथल-पुथल के बाद एक बार फिर शरीर निरोग हो जाता है, वैसे ही अयोध्या रूपी शरीर में भरत रूपी जीवन-शक्ति के प्राबल्य द्वारा नैतिक विष का दूरीकरण होकर राम-राज्य पुनः स्थापित हो जाता है। परंतु भरत की नीति पूर्व की ही शांति एवं त्यागपूर्ण नीति है, न कि डेन्मार्क-वाली अशांतिमयी पश्चिमी नीति।

मेरी राय में तो डेन्मार्क की तुलना के लिये लंका ही अधिक उपयुक्त है; परंतु शोक इस बात का है कि हैमलेट में तो आदर्शवाद की शक्ति उतनी भी न थी जितनी विभीषण में। विभीषण में इतना नैतिक साहस तो था कि वह समयानुसार रावण से असहयोग करके राम से सहयोग कर सके। यद्यपि हैमलेट का आचरण इतना पाशविक अवश्य हो गया कि वह राजतंत्र को बदलकर उन लोगों की मृत्यु का कारण बना जो उसे बहकाकर मारने के लिये ले जा रहे थे, तथापि उस बेचारे के मस्तिष्क में, एक अवसर आने पर भी, इंगलैंड से मदद लेने का खयाल न पैदा हुआ। यह बात विचारणीय है कि भगवान् राम को धनुष-बाण का सहारा लेना पड़ा, परंतु ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार माता अपनी संतान के व्रण को धैर्य-पूर्वक चिराती है। इसीसे तो भगवान् राम ने रावण के आत्मा को उसके भौतिक शरीर से पृथक् होने पर अपने में लीन कर लिया था और साथ ही विभीषण को मृतक संस्कार की आज्ञा देते हुए स्पष्ट कह दिया था कि 'अब हमारा और रावण का विरोध समाप्त हो गया।' रावण शांतिनगर अयोध्या के प्रति बाहरी शत्रु के रूप में था और अब उसकी पराजय होने से मानो वह बाह्य अशांति भी जाती रही जो राम-राज्य की स्थापना में बाधक हो रही थी।

(ऊ) महाकवि शेक्सपियर के नाट्य-सिद्धांत के अनुसार कवि अपने व्यक्तित्व को प्रकट नहीं करता। परिणाम यह होता है कि बहुधा नाटक के ध्येय के समझने में भ्रम हो जाता है। मैंने हैमलेट को दस बारह बार पढ़ा होगा; और ज्यों-ज्यों उसका अध्ययन करता हूँ, मेरी यह धारणा पुष्ट होती जाती है कि महाकवि का अभिप्राय आदर्शवाद की निंदा का न था, प्रत्युत उस पाशविक एवं भौतिक सभ्यता की निंदा का था, जिसने आदर्शवाद की हत्या कर दी थी। इसीसे तो हैमलेट के प्रति इतनी करुणा उसने हमारे हृदय में उत्पन्न की है। परंतु स्वयं कवि के स्पष्टरूप से हमारे सामने न होने के कारण हममें से बहुत से लोग नाटक का ध्येय समझने में भूल करते हैं और उलटा यह समझ बैठते हैं कि आदर्श-वाद सफल हो ही नहीं सकता। इसके विरुद्ध तुलसीदासजी की कविता में ऐसी कोई आशंका नहीं है। वह हमारे लिये सर्वोत्तम दार्शनिक मित्र और पथ-प्रदर्शक बन जाता है। पर यह स्मरण रहे कि वह नाटक के इस ध्येय को कभी नहीं भूलता कि संसार का यथार्थ चित्र, जिसमें नेकी और बदी दोनों साथ साथ हैं, हमारे समीप रख दे। हाँ, वह करता यह है कि भरत, राम और विभीषण के रूप में ऐसे व्यक्तित्व हमारे सामने लाता है जो नेकी के दूध को बदी के पानी से अलग कर दें। इसके अति-रिक्त कभी कभी समयानुसार कवि स्वयं भी हमारे सामने आता रहता है। ऐसी परिस्थिति के होते हुए नाटक का ध्येय समझने में कभी भूल हो ही नहीं सकती—यह दूसरी बात है कि हम कवि से सहमत हों या न हों। पर हमें अपना स्वतंत्र विचार स्थिर करने में कवि द्वारा अंकित सांसारिक चित्र अवश्य सहायता देता है।

(ए) उदारमना रामभक्तों से मेरी अंतिम प्रार्थना यह है कि वह हमारे प्रति पर्याप्त उदारता से काम लें। हम ऐसे वातावरण में हैं जिसमें पाश्चात्य विचारों का साम्राज्य है और यह ठीक है कि पाश्चात्य जगत् में तार्किक तथा भौतिक दृष्टिकोण का ही प्राधान्य है। मैं भी इसी

युग का आदमी हूँ, इसलिये स्वयं अनुभव करता हूँ कि आध्यात्मिक दृष्टि से उपर्युक्त वातावरण हमारे पतन का कारण है। मगर इस मरज की दवा क्या है? क्या हम नवयुवकों को आध्यात्मिक अंत्यज समझकर छोड़ दें? मेरी राय में कोई समझदार मनुष्य तो यही उत्तर देगा कि ऐसा कदापि न होना चाहिए। अतएव हमारे लिये इसके अतिरिक्त कोई और मार्ग ही नहीं रह जाता, कि हम अपने आध्यात्मिक विचारों को उन्हीं की तर्कपूर्ण भाषा में व्यक्त करें। साहित्यक्षेत्र में भी यदि हम अपने साहित्य की विजय चाहते हैं तो हमें यही दिखाना होगा कि पाश्चात्य जगत् के साहित्यिक सिद्धांतों की कसौटी पर भी हमारा साहित्य खरा उतरता है। इतना ही नहीं, मैंने तो यह भी दिखाने की चेष्टा की है कि महाकवि तुलसीदास ने साहित्य-संसार की कितनी ही अपूर्तियों की पूर्ति की है। यहाँ पर एक उदाहरण भक्तजनों के लिये बहुत उपयुक्त होगा। जब गरुड़जी को भगवान् राम के आध्यात्मिक व्यक्तित्व पर शंका हुई और वह उसके निवारणार्थ भगवान् शिव की शरण में गए तो शिवजी ने उन्हें काकभुशुंडिजी के पास भेज दिया और इसका एक कारण यह बताया कि 'खग जानै खग ही की भाषा।'

ऐसा ही समझकर प्रिय राम-भक्तों को मेरे इन लेखों के बारे में यही खयाल करना चाहिए कि वे नवीन युग के लिये केवल उपयुक्त ही नहीं प्रस्युत आवश्यक भी हैं। पूज्यवर आचार्य द्विवेदीजी ने भी अपने ३० जून सन् १९२७ ई० के कृपापत्र द्वारा आशीर्वाद देते हुए मुझे लिखा था—

'......आप अपनी व्याख्याओं से रामायण का महत्व बढ़ा रहे हैं, इसमें संदेह नहीं। उनसे यह भी होगा कि शेक्सपियर, मिल्टन, शेली और बाइरन आदि के भक्तों को भी मालूम हो जायगा कि संस्कृत कवियों को जाने दीजिए, भाषा-कवि तुलसीदास के भी काव्य में बहुत कुछ ऐसा है जो अँगरेज कवियों के काव्य में भी नहीं।......'

(४) अस्थिरता—हैमलेट के आलोचकों ने यह ठीक ही कहा है कि उसकी दुःखांत घटना का मुख्य कारण यही था कि वह वस्तुतः बिल्कुल पागल न था, बल्कि उसका कुछ-न-कुछ पागलपन चाल के तौर पर बनावटी था। उसका आदर्शवादी स्वभाव पाशविक परिस्थितियों में पड़कर उसकी स्नायविक निर्बलता का कारण बने बिना न रहा जिसका परिणाम मालीखूलिया (नैराश्यपूर्ण विक्षिप्तता) हुआ। यह सब एक घूमते हुए चक्र की भाँति अस्थिरता से आरंभ होकर अस्थिरता में ही समाप्त होता है। उसे अपने पिता की छाया दृष्टिगोचर होती है और पिता की मृत्यु का कारण तथा साथ ही यह भी मालूम हो जाता है कि चाचा और माता का विवाह चाचा की ही दुराचारपूर्ण नीति का परिणाम था। इतना जानने पर भी हैमलेट अपने कर्तव्य का निश्चय न कर सका और अकर्मण्य बना रहा। उसकी अस्थिरता का परिणाम यह हुआ कि उसके विवेकरूपी दिशासूचक यंत्र की सुई सदा काँपती ही रही, जैसा कि उसके इस वाक्य से प्रकट होता है—'संसार में न कोई चीज भली है न बुरी, अपितु हमारा विचार ही उसे भली या बुरी बना देता है।' उसे अवसर मिलता है कि यदि वह चाहे तो अपने पिता की हत्या का बदला अपने चाचा को मार कर ले ले। परंतु उस समय उसका चाचा ईश-वंदना में लगा था जिससे हैमलेट के अस्थिर स्वभाव को उसे न मारने का एक बहाना मिल जाता है। वह सोचने लगता है कि वंदना के समय मारने से चाचा को स्वर्ग प्राप्त होगा और बदले की बात पूरी न होगी।

जैसे शराबी अपने को कभी नशे में नहीं समझता और किसी के कहने पर, यह कहता हुआ कि 'क्या मैं सचमुच नशे में हूँ', अपना होश में रहना साबित करना चाहता है, ठीक उसी प्रकार अस्थिर स्वभाव का मनुष्य अपने को वैसा नहीं समझता और अपनी अकर्मण्यता के लिये तरह तरह के हीले ढूँढ़ लेता है। हैमलेट को चाचा के पापपूर्ण आचरण का पूरा पता है; इसीलिये जब उसे अभिनेताओं के आने की सूचना

मिलती है तो वह उनसे ऐसा खेल कराना चाहता है जिसे देखकर चाचा का पाप स्वयं बोल उठे। परंतु जब पाप बोल उठता है तब भी उसका हाथ नहीं उठता। इसी अस्थिरता को ब्रैडले महोदय स्वाभाविक अस्थिरता कहते हैं। परिणाम यह होता है कि उसका सारा मस्तिष्क संदेह से परिपूर्ण हो जाता है और वह यह भी निश्चय नहीं कर सकता कि उसे जीवित रहना चाहिए अथवा नहीं। यह तो बड़े ऊँचे दार्शनिक सिद्धांत की बात है; पर उसे स्वयं अपने पिता की छाया पर भी, जिसे उसने अपनी आँखों देखा है, अविश्वास होने लगता है। जब उसे अपनी इस कमजोरी का पता लगता है, तो वह विवेक एवं सावधानी से काम लेने के बजाय ठीक दूसरी ओर की अंतिम सीमा पर पहुँच जाता है। वह भाग्यवादी बन आकस्मिक कर्म करने लगता है, जो वस्तुतः अस्थिरता के छिपाने का प्रयत्न मात्र है। आह, कैसा पतन है कि आदर्शवाद के स्थान में धूर्तता और निर्दयता आ जाती है! परंतु शेक्सपियर का चित्रण ऐसा सुंदर है कि पाठक के हृदय में करुण और भयानक रसों की तो उत्पत्ति होती है, पर उसमें हैमलेट के प्रति घृणा कभी नहीं उपजती। इसीलिये श्लीगेल महोदय ने 'हैमलेट' को 'विचारों की दुःखांत कृति' ही माना है और ब्रैडले महोदय ने उसे 'दार्शनिकता की असफलता' कहा है एवं जर्मिनस महोदय ने हैमलेट के पतन की आलोचना करते हुए ठीक ही कहा है कि 'वह चाल-फेर का टेढ़ा रास्ता पकड़ते हुए धोखा देनेवाला स्वाँग रचता है।'

हमारा सिर गौरव से ऊँचा हो जाता है जब हम सोचते हैं कि यह हमारे महाकवि तुलसीदासजी का ही सौभाग्य था कि वह आदर्शवाद की सफलता का चित्रण कर सके। परंतु इस कार्य में भी एक भय था कि कहीं आदर्शवाद का मार्ग नितांत सुगम न दिखाई देने लगे। वस्तुतः वह मार्ग कठिन परीक्षा का मार्ग है और उसमें फूलों के स्थान में बहुधा काँटे ही मिलते हैं। इसके अतिरिक्त दुःखांत नाटक लिखना और उसमें

आदर्शवाद की सफलता दिखलाना भी एक ऐसी कठिन समस्या थी जिसे हमारे महाकवि को हल करना था। आदर्शवाद के लिये यह आवश्यक है कि परिस्थिति के साधक और बाधक अंगों पर सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया जाय और इस काम में शीघ्रता न की जाय। उसकी सफलता के लिये यह भी आवश्यक है कि अंततः उचित निर्णय पर पहुँचकर तदनुसार ही कार्य किया जाय। यदि निश्चय एवं निर्णय की शक्तियों में पर्याप्त प्रबलता हो तो आदर्शवाद में छल-कपट और निर्दयता की गुंजाइश नहीं। देखिए, भरत की विवेकबुद्धि कितनी सूक्ष्म है कि जहाँ शत्रुघ्नजी अपने क्रोधका लक्ष्य मंथरा को बनाते हैं वहाँ भरतजी का सारा रोष अपनी माता कैकेयी के प्रति प्रकट होता है। सूक्ष्म विचार-दृष्टि से यह बिल्कुल ठीक है। मंथरा फिर भी दासी ही है और उसकी बुद्धि का दूषित होना कोई अचरज की बात नहीं; परंतु कैकेयी का राजमहिषी और माता होते हुए मंथरा के कुविचारों से प्रभावित होना सर्वथा दोषपूर्ण है। दूसरी बात यह है कि ऐसे शोक और क्रोध की अवस्था में भी भरतजी में दया का अंश बना ही रहता है और जब शत्रुघ्नजी मंथरा को मारने लगते हैं तो भरत उसे छुड़ा देते हैं। इसके प्रतिकूल हैमलेट जब अपनी माता से अप्रसन्न होता है तो उसका विवेक पूर्णतः विलुप्त हो जाता है और वह समस्त स्त्री-जगत् से घृणा करता हुआ अपनी प्रेमिका ओफेलिया के प्रति भी दुर्व्यवहार करता है।

तुलसीदासजी की अनुपम काव्य-कला में अस्थिरता दोष के स्थान में गुण बन जाती है, क्योंकि भरत की अस्थिरता से हमारे हृदय में करुण-रस का संचार होने लगता है; परंतु वह इतना प्रबल नहीं होने पाती कि उनकी निर्णयशक्ति पर विजय प्राप्त कर सके। महाकवि ने भरत की इस गति की उपमा 'जल-अलि' से ठीक ही दी है जो भँवर और लहर के साथ आगे-पीछे होते हुए जाते ही आते रहते हैं। भरत के चित्रण में भी विचारों की अस्थिरता एवं चंचलता अत्यंत करुणाजनक ढंग से व्यक्त की

गई है, यहाँ तक कि कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो भरत का आत्मविश्वास विदा होना ही चाहता है। परंतु उनमें राम के प्रति विश्वास एवं विवेक की मात्रा फिर भी इतनी शेष रह जाती है कि उपर्युक्त करुणरस दुःखांत घटना में समाप्त नहीं होता और अंतिम विजय भरत की ही होती है।

आइए, अब हम ऊपर के तुलनात्मक विचारों को कतिपय उदाहरणों से सुस्पष्ट करने का प्रयत्न करें। तुलसीदासजी लिखते हैं—

चले भरत जहँ सिय-रघुराई। साथ निषाद-नाथ लघु भाई।।
समुझि मातु-करतब सकुचाहीं। करत कुतरक कोटि मन माहीं।।

किसी ने ठीक ही कहा है कि 'वर्तमान भय भविष्य की भयानक कल्पनाओं से श्रेष्ठ है'। 'कोटि कुतरक' से महाकवि ने भरत की मानसिक अस्थिरता की वेदनाओं का कितना करुणाजनक होना दिखलाया है। फिर इन शब्दों का संकेतात्मक वर्णन भी विचारणीय है। मानो अस्थिरता इतनी वेगपूर्ण है, और एक कुतर्क दूसरे के बाद इतनी शीघ्रता से उठ रहा है कि कवि की वर्णनशक्ति भी उसके समूचे चित्रण में असमर्थ है। अतः 'कोटि कुतरक' से संबद्ध कुछ उद्धरण नीचे दिए जा रहे हैं। मानस में महाकवि शेक्सपियर की भाँति स्वगत-वार्ता की कृत्रिम शैली का प्रयोग नहीं है, प्रत्युत कवि स्वयं हमारे सामने आकर उन अवस्थाओं एवं विचारों को प्रकट कर देता है जिनके प्रकटीकरण में अभिनेता की वाक्शक्ति काम नहीं देती। कुतर्क का उदाहरण देते हुए कवि लिखता है—

राम-लषन-सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ।।

कितना वेदनापूर्ण परंतु साथ ही कितना स्वाभाविक कुतर्क है। साधारणतः भरत ही राम-वनवास के मूल कारण हैं अतएव उनका आगमन सुन राम के हट जाने की कल्पना असंगत नहीं जान पड़ती। परंतु

हम तो यह कहेंगे कि इतनी कल्पना कम से कम है। अन्यथा लक्ष्मण जैसे वीर और क्रोधी योद्धा तो भरत को 'समर सिखावन' देने पर उद्यत थे। तुलसीदास जी राम के विचारों से अवगत हैं, और हम भी 'समर सिखावन' वाली वार्ता का उत्तर जानते हुए राम के स्वभाव और उनके उस स्नेह से अवगत हैं जो उन्हें भरत के प्रति था। इसीलिये 'तर्क' के स्थान में 'कुतर्क' शब्द का प्रयोग है।

आगे फिर तुलसीदासजी कहते हैं--

मातु-मते महँ जानि मोहिं जो कछु करहिं सो थोर।
अघ-अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर॥

विचारों के इस ज्वारभाटे में कितनी करुणा, परंतु साथ ही कितना विवेक और कैसी झिलमिलाती हुई आशा की झलक मौजूद है। उसी ज्वारभाटे की लहरों का दर्शन एक बार फिर इस प्रकार होता है--

जो परिहरहिं मलिन मन जानी। जो सनमानहिं सेवक मानी॥

'कुतर्क' और 'सुतर्क' का कैसा सुंदर संघर्ष है। 'कुतर्क' ने तो 'मातु-मते' के दोष को 'मलिन मन' के दोष की श्रेणी में पहुँचा दिया। परंतु 'सुतर्क' भी पीछे नहीं है और वह भी 'छमा' के भाव को 'सम्मान' के भाव की उच्चता पर पहुँचा कर ही रहता है। भरत का अंतिम विचार भी, जिसे सेवा-धर्म का मूल मंत्र कहना चाहिए, कितना सुंदर है और कवि ने उसे निम्नलिखित चौपाई में कितनी सुंदरता से व्यक्त किया है—

मोरे सरन राम की पनहीं। राम सुस्वामि दोष सब जनहीं॥

आदर्शवादी सेवक अधिक से अधिक सेवा करते हुए भी अपनी सेवा में त्रुटि ही देखता है और अपने मालिक के सुस्वामित्व पर लांछन

की कल्पना भी नहीं कर सकता। इसी प्रकार भक्त भी चाहे जितनी उच्चता पर पहुँच जाय, यही कहता है--

जो तन दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमकहरामी। (सूर)

आह, एक विजय के मिलते ही भरत का आदर्शवाद उनके मस्तिष्क में दूसरी करुणाजनक कल्पना उत्पन्न कर देता है और वह सोचते हैं--

जग जस-भाजन चातक-मीना। नेम प्रेम निज निपुन प्रवीना॥

सच है, भरत-जैसे प्रेमी सेवक के लिये दुःख की बात यही है कि वह अपने 'नेम और प्रेम' को 'चातक और मीन' से कम समझते हैं और सोचते हैं कि 'आह ! मैं मनुष्य होता हुआ भी इन तुच्छ प्राणियों की बराबरी न कर सका।' उन्हें पता नहीं कि यही 'नेम और प्रेम' चुंबकीय शक्ति बनकर उन्हें राम की ओर खींचे लिए जा रहे हैं और जो अंततः उन्हें 'जग जस-भाजन' बनाकर ही रहेंगे। तुलसीदासजी की नाटक-कला में व्यंजना-शक्ति का कितना करुणाजनक उदाहरण है कि 'नेम और प्रेम' का आधिक्य ही करुणा का कारण बन रहा है। वह फिर आगे लिखते हैं--

अस मन गुनत चले मग जाता। सकुच सनेह सिथिल सब गाता॥

'सकुच' और 'सनेह' की खींचतान दर्शनीय है और 'सिथिल सब गाता' में भरत का करुणाजनक चित्र ही हमारे सामने आ जाता है। हमें पता लगता है कि अभी संघर्ष जारी है और किसी भाव की भी पूरी विजय नहीं हुई, परंतु अवस्था 'सिथिल' है। फिर लिखते हैं--

फेरत मनहुँ मातु-कृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी॥

माता की करतूत उनके पैर पीछे हटाती है; परंतु स्नेह अब भक्ति में परिवर्तित हो चुका है जो उन्हें बराबर आगे बढ़ाए लिए जाता है। इसी भाव का अधिक स्पष्टीकरण इस प्रकार हुआ है—

जब समुझत रघुनाथ-सुभाऊ। तब पथ परत उताउल पाऊ॥

भक्ति के साथ अपने कुलनाथ राम के स्वभाव की जानकारी पैरों को और भी आगे बढ़ा रही है। आशा की विजय शनैः शनैः कैसी स्पष्ट होती जाती है, परंतु वह आशा अस्थिर विचारों की ओट में इतने धीरे-धीरे लाई जाती है कि करुणरस में कमी न हो। तुलसीदास ने अस्थिर विचारों की लहरों की हिलोर में पड़े हुए भरत का वर्णन निम्नलिखित चौपाई में किस भावुकता से किया है—

भरत-दसा तेहि अवसर कैसी। जल-प्रवाह जल-अलि गति जैसी॥

हमने इस उपमा की ओर पहले भी संकेत किया है, परंतु यहाँ उसके विस्तृत वर्णन से पूर्ण आनंद की प्राप्ति होती है। भरत की इस दशा का प्रभाव निषाद पर भी पड़े बिना न रहा और जो काम भरत की वाक्शक्ति न कर सकी उसे उनकी उस दशा ने कर दिखाया। तुलसीदासजी लिखते हैं—

देखि भरत कर सोच-सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥

मानो 'सोच और सनेह' का प्रवाह भरत के हृदय से निकलकर चारों ओर फैल गया, जिसने निषाद को 'विदेह' बनाकर ही छोड़ा और उसका 'अपान' भुला दिया। इसीलिये तो आध्यात्मिक विचारदृष्टि में ज्ञान और श्रद्धा दोनों का मार्ग समान रूप से लाभदायक कहा गया है। बल्कि श्रद्धा का मार्ग तो अधिक सुगम है। देखिए न, भरत के सत्संग से श्रद्धालु निषाद भी ब्रह्मज्ञानी जनक की अवस्था में पहुँच गया।

दूसरा उदाहरण और भी विचारणीय है। चित्रकूट पहुँचकर और सब लोग तो आनंद-मग्न हो जाते हैं, परंतु—

निसि न नींद नहिं भूख दिन, भरत बिकल सुठि सोच।
नीच कीच बिच मगन जस मीनहिं सलिल सकोच॥

यह वेदना आदर्शवाद के दंडरूप में है। जहाँ दूसरे लोग आनंद में हैं, वहाँ भरत के शोक की सीमा नहीं। वह सोचते हैं—

कीन्हि मातु मिस काल कुचाली। ईति-भीति जस पाकत साली॥

आह, कराल काल ने माता कैकेयी की ओर से कैसा भीषण आघात किया है। माता ही पुत्र के दुःख का कारण बने, यह कैसी शोचनीय बात है। परंतु इस अवस्था में भी तुलसीदासजी की काव्यकला का सूक्ष्म संकेत विचारणीय है। रामजी माता कैकेयी की कृति की उदार व्याख्या कर चुके हैं, जिसका प्रभाव भरत पर पड़े बिना नहीं रहा; और ऊपर के दोहे में उसका परिणाम मौजूद है। अब अधिकांश रूप में दोष का भागी कराल काल है और कैकेयी केवल नैमित्तिक कारण है। फिर भी, दोष चाहे जिसका हो, परिस्थितियों के दुःखपूर्ण होने में तो कोई कमी नहीं। रामजी का वनवास ज्यों का त्यों बना हुआ है। इसीसे तो भरत को न नींद है, न भूख। परिस्थिति की उपमा पकते हुए धान पर ईति-भीति के आघात से दी गई है, जिससे करुणरस का और आधिक्य हो जाता है। मानो उर्दू कवि के शब्दों में—

किस्मत तो देखिए कि कहाँ टूटी है कमंद,
दो-चार हाथ जब कि लबे-बाम[1] रह गया।

भरत सोचते हैं—

केहि बिधि होइ राम-अभिषेकू। मोकहँ फुरत उपाय न एकू॥

१—कोठे का किनारा।

हम पहले ही देख चुके हैं कि भरतजी राज्य को विषतुल्य समझते हैं, क्योंकि उससे राम का वंचित किया जाना अन्यायपूर्ण था। इसीलिये भरत के आदर्शवाद की प्रेरणा यही थी कि राज्य राम को वापस किया जाय। परंतु वही आदर्शवाद भरत की वेदनामयी अशांति का कारण बन रहा है, क्योंकि राम के उस राज्य के वापस लेने की समस्या भी कम जटिल नहीं है। इसी से तो वह सोचते हैं—'मोकहँ फुरत उपाय न एकू'। तुलसीदासजी ने समस्या के अनेक हल और उनकी कठिनाइयाँ आगे रक्खी हैं और यह दिखाया है कि भरत के विचाररूपी ज्वारभाटे क लहरें किस तरह चढ़ती-उतरती हैं। भरत सोचते हैं—

अवसि फिरहिं गुरु-आयसु मानी। मुनि पुनि कहब राम-रुख जानी॥

आह! आशा आती है और चली जाती है। गुरु की आज्ञा को रामजी अवश्य मानेंगे, परंतु गुरु आज्ञा देने ही क्यों लगे। सत्य राम की ओर है, अतः राम-रुख के बिना गुरुजी आदेश देने में असमर्थ हैं। दूसरी युक्ति भरत ने यह सोची है—

मातु कहे बहुरहिं रघुराऊ। राम-जननि हठ करब कि काऊ॥

सच है, रामजी माता कौशल्या के कहने पर अवश्य ही लौट चलेंगे, परंतु माता कौशल्या भी हठ क्यों करने लगीं। यह वही माता कौशल्या तो हैं जिनके सूक्ष्म एवं सुंदर विवेक का परिचय महाकवि के शब्दों में पहले ही मिल चुका है—

राखउँ सुतहिं करउँ अनुरोधू। धरम जाइ अरु बंधु-बिरोधू॥

यह कहा जा सकता है कि बंधु-विरोध की संभावना अब न थी, परंतु 'धरम जाइ' वाली बात तो अब भी बनी हुई थी। तुलसीदासजी की कला में कितनी सूक्ष्मता है कि ऊपरवाली यह बहस उनके अंतरात्मा

में है, परंतु प्रकाश्य रूप में उसका लेश भी नहीं है। प्रकट रूप में तो केवल इतना ही है—

'राम जननि हठ करब कि काऊ।'

अब भरत की तीसरी युक्ति देखिए—

मोहिं अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमय बाम विधाता॥
जो हठ करउँ तो निपट कुकरमू। हर-गिरि ते गुरु सेवक-धरमू॥

आह ! इस युक्ति में तो आशा की झलक पहले ही से नदारद है और कठिनाइयाँ-ही-कठिनाइयाँ हैं। आदर्श अनुचर के लिए हठ करना 'निपट कुकर्म' है। उसे तो अपने व्यक्तित्व को स्वामी के चरणों पर बलिदान कर देना होता है। आह, आदर्श सेवाधर्म वस्तुतः हर-गिरि से भी अधिक भारी है। सारांश यह कि भरत की एक भी युक्ति काम न आई। महाकवि के शब्दों में—

एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहिं रैनि बिहानी॥

कैसी अस्थिरता और कैसी निराशा है ! रात यों ही बीत गई और कोई युक्ति मन में ठहरी तक नहीं। इस समय भरत की अवस्था लगभग वैसी ही है जैसी हैमलेट की। कदाचित् परिणाम भी वही होता—नैराश्यपूर्ण विक्षिप्तता और स्नायविक निर्बलता; परंतु आगे हम देखेंगे कि राम पर भरत के अटल विश्वास ने और स्वयं राम के समस्या संबंधी हल ने परिस्थिति को किस प्रकार सँभाल लिया और परिणाम-स्वरूप आदर्शवाद की विजय हुई। आह ! अभागे हैमलेट के लिये ऐसा कोई सहारा न था।

ञ—आदर्शवाद और कलाप्रियता का अंतर

हमारे प्रिय पाठकों ने यह अनुभव किया होगा कि मैंने भी बहुधा आदर्शवाद और कलाप्रियता का प्रयोग समान अर्थों में किया है, क्योंकि वस्तुतः दोनों का अंतर अत्यंत सूक्ष्म है। परंतु साहित्य-मर्मज्ञों के लिये वह अंतर अत्यंत सुंदर भी है, अतः अब उसकी विस्तृत विवेचना की जायगी। आदर्शवाद एक व्यापक शब्द है और सत्य और कलाप्रियता उसके अंश हैं। जैसे सत्य का रूप भयानक भी हो सकता है वैसे ही आदर्शवाद का रूप बहुत शुष्क एवं कपटकारक। ये दोनों ही कभी कभी हमारे सामने खड्गहस्त होकर आते हैं। सत्य के इसी रूप से भयभीत होकर सुप्रसिद्ध फ़ारसी महाकवि सादी ने लिखा है कि 'दरोगे मसलहत-आमेज बेहज रास्ती फितना-अंगेज' अर्थात् शांतिकारी असत्य क्रांतिकारी सत्य से उत्तम है।' परंतु कलाप्रियता में कोमलता एवं सुंदरता के भाव निहित हैं। उसमें 'सत्यम्' का रूप केवल 'शिवम्' ही नहीं, प्रत्युत 'सुंदरम्' भी होता है। इस सूक्ष्म निरीक्षण से यह भली भाँति विदित हो जायगा कि आदर्श कलाप्रियता जितनी भरत में है उतनी हैमलेट में नहीं। हैमलेट में कलाप्रियता या तो केवल विचार तक रह गई है या कर्म का रूप धारण करती हुई इतनी भयानक और आकस्मितापूर्ण हो जाती है कि उसे कलाप्रियता कहने में भी संकोच होता है। इसका कारण अधिकांश में तो परिस्थिति ही है, फिर भी इसका संबंध हैमलेट के चरित्र से कुछ-न-कुछ अवश्य है।

अब भरत की बात लीजिए। नामकरण के समय ही गुरु वशिष्ठ ने उनको दैवी सत्ता के उस अंश का अवतार बताया था जो विश्व का भरण-पोषण करती है, मानो संकेतरूप से यह कह दिया था कि इसमें

विनाशक शक्ति का अभाव है। आध्यात्मिक अवस्था में शिव का वह रूप 'विश्वंभर' कहलाता है। मानस की संपूर्ण कथा में भरत के केवल एक ही बाण चलाने का उल्लेख है, वह भी बिना फर के। हनूमान्‌जी को आकाशमार्ग से 'सजीवन मूरि' ले जाते हुए देखकर उन्हें यह संदेह हुआ था कि कदाचित् कोई राक्षस हो, पर संदेह के विचार से ही उन्होंने वैसे बाण का चलाना युक्तियुक्त समझा था। यह आदर्श कलाप्रियता की पराकाष्ठा थी कि अकारण हिंसा की संभावना ही न रहे। सेवा-भाव की दृष्टि से तो भरत की वैसी कलाप्रियता जगद्विख्यात ही है। चाहे उनके हृदय में किसी भाव का वेग कितना ही प्रबल हो, परंतु साथ ही आदर्श कलाप्रियता का विचार भी इतना प्रबल दिखाई देता है कि वह उनसे परिस्थिति के अनुसार बिल्कुल ठीक काम कराए बिना नहीं रहता—ऐसा ठीक, जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म निरीक्षण पर भी खरा उतरे। राम-वनवास के उपरांत रामवियोगरूपी ज्वाला से उनका हृदय जल रहा है, जिसका वर्णन मानस में उन्हीं के मुख से इस प्रकार हुआ है—

आपन दारुन दीनता सबहिं कहेउँ समुझाइ।
देखे बिनु रघुबीर-पद जियकी जरनि न जाइ॥

आन उपाउ मोहिं नहिं सूझा। को जिय की रघुबर बिनु बूझा॥
एकहि आँक इहै मन माहीं। प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं॥

विचार की कितनी एकाग्रता है, फिर भी सेवाधर्म की आदर्श कलाप्रियता उन्हें सावधान किये बिना नहीं रहती। वे सोचते हैं—

भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू। नगर बाजि गज भवन भँडारू॥
संपति सब रघुपति की आही। जो बिनु जतन चलौं तजि ताही॥
तौ परिनाम न मोर भलाई। पाप-सिरोमनि साइँ-दोहाई॥
करइ स्वामिहित सेवकु सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥

अस बिचारि सुचि सेवक बोले । जे सपनेहुँ निज धरम न डोले ।।
कहि सबु मरमु धरमु सबु भाखा । जो जेहि लायक सो तहँ राखा ।।
करि सब जतन राखि रखवारे । राम-मातु पहँ भरत सिधारे ।।

दृश्य कितना सुंदर, सूक्ष्म तथा आदर्शपूर्ण है। भरत के मस्तिष्क में यह विचार भी आए बिना नहीं रहता कि सर्वसाधारण का ऐसा समझ लेना संभव है कि उनका राम के पास जाना केवल लोकाचार है और वस्तुतः राज्य की रखवारी का उतना प्रबंध केवल अपने स्वार्थ के हेतु है। पर सेवाधर्म इस अपवाद की सीमा को पार कर जाता है और उनकी कलाप्रियता यह निर्णय करती है कि स्वामी की संपत्ति की रक्षा का प्रबंध न करना अपने को पापशिरोमणि बनाना है—चाहे संसार कुछ भी कहे।

एक और उदाहरण भी इतना सुंदर है कि पाठकों की भेंट किए बिना नहीं रहा जाता। शृंगवेरपुर के निकट पहुँचने पर भरत की दशा का वर्णन महाकवि तुलसीदास ने यों किया है—

संगवेरपुर भरत दीख जब । भे सनेह बस अंग सिथिल तब ।।
सोहत दिएँ निषादहिं लागू । जनु तनु धरें बिनय अनुरागू ।।

अनुराग का आवेश और स्नेहवश शरीर का शिथिल होना इस बात का परिचायक है कि राम-प्रेम का सागर हृदय में उमड़ रहा है, फिर भी भरत अपना कर्तव्य नहीं भूलते—

जहँ तहँ लोगन्ह डेरा कीन्हा । भरत सोधु सब ही कर लीन्हा ।।
गुरु-सेवा करि आयसु पाई । राम-मातु पहँ गे दोउ भाई ।।
चरन चापि कहि-कहि मृदुबानी । जननीं सकल भरत सनमानी ।।
भाइहिं सौंपि मातु-सेवकाई । आपु निषादहिं लीन्ह बोलाई ।।

ऐसे उमड़ते हुए प्रेम के समय भी सबका 'शोध' लेना, गुरु की सेवा करना और फिर माताओं की सेवा भी 'मृदुबानी' के साथ इस प्रकार करना कि उतावलापन प्रकट न हो, क्या भरत की आदर्श कलाप्रियता का पूर्ण परिचायक नहीं हैं ? वह उमड़ता हुआ सागर उस आदर्श कलाप्रियतारूपी बाँध से क्षणभर के लिये ही रुका था, क्योंकि तदुपरांत भरत-दशा का वर्णन महाकवि द्वारा यों हुआ है—

चले सखा-कर सों कर जोरे। सिथिल सरीरु सनेह न थोरे ॥
पूछत सखहिं सो ठाउँ दिखाऊ। नेकु नैन-मन-जरनि जुड़ाऊ ॥
जहँ सिय-रामु-लषनु निसि सोए। कहत भरे जल लोचन-कोए ॥

इसके अतिरिक्त भरत की आदर्श कलाप्रियता उन्हें निर्दयता से भी बचा लेती है और इसी से उनमें इतनी विवेकशक्ति भी शेष रहती है कि वे उतावलेपन से काम नहीं ले सकते। तो अब इसका विचार भरत और हैमलेट की तुलना की दृष्टि से दो रूपों में होगा—(१) स्त्री जाति के प्रति व्यवहार और (२) माया का प्रयोग।

(१) स्त्री जाति के प्रति व्यवहार—भरत और हैमलेट दोनों राजकुमारों के हृदयों पर अपनी माताओं के व्यवहार से चोट लगती है, जिसका परिणाम यह होता है कि उनकी श्रद्धा समस्त स्त्री-जगत् पर से ही उठ जाती है। प्रायः संसार के सभी आदर्शवादी स्त्रियोंके विरुद्ध ही रहे हैं। महाकवि तुलसीदास भी कुछ-न-कुछ स्त्रियों के विरोधी-से प्रतीत होते हैं। पर हम पाठकों को यह चेतावनी अवश्य देना चाहते हैं कि उन्हें प्रत्येक चरित्र के प्रत्येक शब्द को कवि की निजी राय न समझ लेनी चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि नाटककार के शब्दों का बहुधा गलत प्रयोग होता है। पाश्चात्य जगत् के आलोचकों में अनुमान-संबंधी ज्ञान का आधिक्य है। हम जब 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी' का प्रसिद्ध वाक्य पढ़ते हैं तो उसे सर्वथा कवि की निजी राय ही समझ लेते हैं, पर 'निर्ब-

लता, तेरा नाम स्त्री है' का पढ़नेवाला इसे शेक्सपियर की राय नहीं मान बैठता, यद्यपि ये शब्द हैमलेट-जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति के मुख से कहलाए गए हैं। हमारा यह कथन नहीं कि ये सब भाव सर्वथा ठीक ही हैं, पर हम इतना अवश्य कहेंगे कि इसके विषय में तुलसीदासजी की भी बहुत कड़ी आलोचना नहीं होनी चाहिए---विशेषतः जब हम देखते हैं कि उन्होंने कौशल्या और सीता-जैसे आदर्श चरित्रों को हमारे सामने रक्खा है। महात्मा गांधी का यह कथन सत्य ही है कि रावण भले ही राक्षस रहा हो पर मंदोदरी तो आदर्श देवी ही थी। हम प्रसंगवश इतनी बातें अधिक कह गए जिसके लिये हम क्षमाप्रार्थी हैं।

भरत और हैमलेट दोनों ही अपनी माताओं के प्रति बहुत कठोर हैं क्योंकि माताओं के ही व्यवहार से दोनों राजकुमारों की श्रद्धा मानवी प्रेम से उठ-सी गई। महाकवि तुलसीदास ने भरत से अपनी माता के प्रति उससे कम कठोर शब्द नहीं कहलाए जो हैमलेट ने अपनी माता से कहे हैं। भरत कहते हैं--

........................। पापिनि सबहिं भाँति कुल नासा ॥
जो पै कुमति रही असि तोही। जनमत काहे न मारेसि मोहीं ॥
पेड़ काटि तैं पल्लव सींचा। मीन जिअन हित बारि उलीचा ॥

हंस-बंस दसरथ जनक, राम-लखन से भाइ।
जननी तू जननी भई, बिधि सन कहा बसाइ ॥

अभी करुण-रस अधिक है, इसलिये इन शब्दों से जितनी दया भरत के प्रति उत्पन्न होती है उतनी घृणा उनकी माता के प्रति नहीं। परंतु शनैः शनैः घृणा का भाव बढ़ता जाता है। भरत कहते हैं—

जब तें कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड है हृदय न गयऊ ॥
बर माँगत मन भई न पीरा। जरि न जीह मुँह परेउ न कीरा ॥
भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्हीं। मरन-काल विधि मति हरि लीन्ही ॥

क्या इनसे भी कठोर और घृणापूर्ण शब्द हो सकते हैं ? परंतु अब तक वह घृणा व्यक्ति-विशेष के ही प्रति है ? आगे यह विचार भी शेष न रहा और भरतजी समस्त स्त्री संसार के प्रति घृणा का भाव इस प्रकार प्रकट करते हैं--

बिधिहुँ न नारि-हृदय-गति जानी । सकल कपट-अघ-अवगुन-खानी ।।

'सकल' के सर्वग्राही शब्द पर विचार करते हुए हमें कहना पड़ेगा कि शेक्सपियर के उपर्युक्त कथन से यह वाक्य कहीं अधिक कठोर है। भरतजी फिर कहते हैं--

सरल सुसील धरम-रत राऊ । सो किमि जानहिं नारि-सुभाऊ ।।
अस को जीव-जंतु जग माहीं । जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं ।।
भे अति अहित रामु तेउ तोही । को तू अहसि सत्य कहु मोहीं ।।

आह, घृणा कितनी प्रबल है कि भरत को कैकेयी की मानवी सत्ता पर भी संदेह है ! उन्हें अपने भावों को प्रकट करने के लिये शब्द ही नहीं मिलते । वे यों कहते हैं--

जो हसि सो हसि मुहँ मसि लाई । आँखि ओट उठि बैठहु जाई ।।

'जो हसि सो हसि' में घृणा की पराकाष्ठा है । परंतु आदर्श कला-प्रियता उन्हें रोकती है अतः वे घृणा के प्रवाह को अपनी ही ओर फेर लेते हैं और कहते हैं--

राम-बिरोधी हृदय तें प्रगट कीन्ह बिधि मोहिं ।
मो समान को पातकी, बादि कहौं कछु तोहिं ।।

वही आदर्श कलाप्रियता पुनः उनकी सहायता करती है और स्त्रियों के प्रति उनकी कठोरता शब्दों तक ही सीमित रह जाती है । मातृप्रेम

का भाव भी कौशल्या को देखते ही जाग उठता है। उनकी दशा का वर्णन कवि ने यों किया है—

परे चरन तनु-दशा बिसारी।

भरत कौशल्या से कहते हैं—

मातु तात कहँ देहु देखाई। कहँ सिय-रामु-लषनु दोउ भाई॥
केकइ कत जनमी जग माँझा। जो जनमी भइ काहे न बाँझा॥
कुल-कलंक जेहि जनमेउ मोहीं। अपजस-भाजन प्रियतम-द्रोही॥
को त्रिभुवन मोहिं सरिस अभागी। मति असि तोरि मातु जेहि लागी॥

वह सीता को भी माता के समान ही समझते हैं। परिणाम यह होता है कि सीता और कौशल्या दोनों का वात्सल्य-प्रेम उनके हृदय को शांति देता है। यही कारण है कि वे उस पतन और विनाश से बच जाते हैं जिससे बेचारा हैमलेट न बच सका। हैमलेट को स्त्री जाति के प्रति जो घृणा है वह उसकी विवेक-शक्ति को बिल्कुल हर लेती है, यहाँ तक कि वह अपनी प्रेमिका ओफेलिया के प्रति भी अपने भाव-प्रर्शन को रोक नहीं सकता और कह उठता है कि 'स्त्री ही दुनिया की सारी बुराइयों की जन्मदात्री है तथा वह बुद्धिमानों को भी चोर और अमानुषिक बना देती है।' भरत की विवेक-शक्ति इतनी प्रवल है कि मंथरा और कैकेयी के बीच भी अंतर खोज लेती है। वह कैकेयी को ही अधिक लांछित करती है, क्योंकि राजपत्नी एवं उच्च वर्ग की होने के कारण उसे अधिक आदर्शपूर्ण होना चाहिए था। मंथरा तो चेरी और निम्न वर्ग की स्त्री थी ही। इसीलिये जब शत्रुघ्न जी उसे मारने लगते हैं तो भरत में दया-भाव उत्पन्न हो जाता है और वे उसे छुड़ा देते हैं। इसे महाकवि ने यों व्यक्त किया है—

भरत दयानिधि दीन्ह छुड़ाई॥

हमने ऊपर स्त्रियों के प्रति तुलसीदासजी के विचारों का कुछ उल्लेख किया है, अतः यहाँ कुछ अधिक कहना अप्रासंगिक न होगा। तुलसीदासजी एक विरक्त रामभक्त थे, अतः स्त्रियों के प्रति उनकी उदासीनता सर्वथा स्वाभाविक थी। परंतु उनकी यह उदासीनता भरत की भाँति बहुधा शब्दों तक ही सीमित रह गई थी। हम पहले ही बता चुके हैं कि तुलसीदासजी ने स्त्रियों के कैसे-कैसे आदर्श चरित्र चित्रित किए हैं। हाँ, उन्होंने केवल तीन ऐसी स्त्रियों के चरित्र हमारे सामने रक्खे हैं जिन्हें बुरा कहा जा सकता है—अर्थात् कैकेयी, मंथरा और शूर्पणखा। परंतु उन्होंने कैकेयी और मंथरा को सरस्वती द्वारा प्रभावित दिखाकर घृणास्पद होने से बचा लिया है। जब हम सरस्वती के विचारों से अवगत होते हैं तब तो महाकाव्य के आदर्श की दृष्टि से ये दोनों पात्र भी सरस्वती के साथ 'देवहित' का कारण बन बड़े ऊँचे दर्जे पर पहुँच जाते हैं। इस प्रसंग का वर्णन तुलसीदास ने यों किया है—

सुनि सुर-बिनय ठाढ़ि पछिताती। भइउँ सरोज-बिपिन हिम-राती॥
देखि देव पुनि कहहिं बहोरी। मातु तोहिं नहिं थोरिउ खोरी॥
बिसमय-हरष-रहित रघुराऊ। तुम जानहु रघुबीर-सुभाऊ॥
जीव करम-बस दुख-सुख-भागी। जाइअ अवध देवहित लागी॥
बार बार गहि चरन सँकोची। चली बिचारि बिबुध-मति पोची॥
ऊँच निवासु नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूति॥
आगिल काजु बिचारि बहोरी। करिहहिं चाह कुसल कबि मोरी॥
हरषि हृदयँ कोसलपुर आई। .... ॥

पछताने के बाद 'देवहित' समझकर सरस्वती का यह हर्ष अत्यंत उपयुक्त है। इस लेख के आरंभ में शा महोदय का यह कथन दिया गया है कि सब से बड़े हर्ष का समय वही है जब हम यह अनुभव करें कि हम विश्वकल्याण का कारण बन रहे हैं। सरस्वती के हर्ष का कारण भी

यही है। अंतर केवल इतना है कि सरस्वती जान-बूझकर देवहित का कारण बनी है और कैकेयी तथा मंथरा अनजान में। इसी से सरस्वती में हर्ष है परंतु उन दोनों पात्रों में नहीं। अब केवल शूर्पणखा शेष रह जाती है। तुलसीदासजी स्त्रियों को दो रूप देते हैं—(१) नारी या तियरूप जिसे वे मायारूपी ठहराकर मनुष्यों के पतन का कारण बताते हैं, और (२) माता और पतिव्रतारूप, जिसका रामचरितमानस में इतना सुंदर विवेचन है कि पढ़कर मुग्ध हुए बिना नहीं रहा जाता, और तब स्त्रीजाति कामिनीरूप में न रहकर जगज्जननी का अंश हो जाती है—

(२) भरत और हैमलेट की भाषा—अँगरेजी में एक कहावत है कि शब्दों से आधा अर्थ प्रकट होता है और आधा अप्रकट रहता है। फारसी की भी लोकोक्ति है कि पात्र से वही टपकता है जो उसमें होता है। भरत और हैमलेट की भाषाओं के समझने में भी कुछ ऐसी ही युक्तियों से काम लेना पड़ता है। जब हम दोनों राजकुमारों को इस कसौटी पर कसते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि भरत अधिकांशतः उच्च कोटि के आदर्शवादी थे। इसमें संदेह नहीं कि जहाँ तक दूसरे के प्रति भाषा के प्रयोग का संबंध है, वहाँ तक भरत की भाषा भी कम कटु एवं व्यंगपूर्ण नहीं है, परंतु हम जगह-जगह पर देखते हैं कि उनकी तीव्र आलोचक दृष्टि हर बार लौटकर अपने ही पर पड़ती है, अतः उनकी भाषा अपने प्रति अधिकतर कटु एवं व्यंगपूर्ण है। हैमलेट की भाषा दूसरों के प्रति केवल व्यंगपूर्ण ही नहीं, बहुत ही कटु भी है। वह अपनी आलोचना कभी-कभी करता जरूर है, पर बहुत ही कम—विशेषतः वह अपनी अकर्मण्यता का बहाना ही ढूँढ़ता रहता है।

आंग्ल आलोचकों के अनुसार व्यंग तीन प्रकार के होते हैं—(१) 'ह्यूमर' जिसे हम हिंदी में 'हास्य' कह सकते हैं और जिसका खास लक्षण यह है कि जिसपर हम हँसें उसके प्रति प्रेम उत्पन्न हो, न कि घृणा।

इसका एक छोटा सा उदाहरण मानस से ही दिया जाता है। शिवजी की बरात की तैयारी के समय विष्णु जी कहते हैं—

बिष्णु कहा अस विहँसि तब, बोलि सकल दिसि-राज।
बिलग बिलग ह्वै चलहु सब, निज निज सहित समाज॥
बर अनुहार बरात न भाई। हँसी करैहौ पर-पुर जाई॥

इस व्यंग का असर भी तत्काल ही होता है, जिसे कवि यों दिखलाता है—

बिष्णु-बचन सुनि कवि मुसुकाने। निज-निज सेन सहित बिलगाने॥
मनहीं मन महेसु मुसुकाहीं। हरि के बिंग्य बचन नहिं जाहीं॥
अति प्रिय बचन सुनत हरि केरे। भृंगी प्रेरि सकल गन टेरे॥

किन्तु भरत और हैमलेट दोनों शोक की अवस्था में हैं, इसलिये ऐसे व्यंग का दोनों में अभाव है।

(२) 'विट' का प्रयोग, जिसे 'शाब्दिक व्यंग' कहना चाहिए और जिसमें व्यंग अधिकतर मस्तिष्क तक ही सीमित रहता है, हैमलेट में अधिक और भरत में कम है। कारण, भरत के हृदयोद्गार का प्रवाह अधिक प्रबल है।

(३) 'सैरकैज्म' का प्रयोग, जिसे 'कटाक्ष' कहना ठीक होगा, जिसके प्रति होता है उसके प्रति कुछ घृणा अवश्य उत्पन्न होती है। भरत और हैमलेट दोनों में इसी व्यंग की प्रधानता है। परंतु यहाँ भी दोनों में एक सूक्ष्म अंतर है। हैमलेट में कटुता बहुत है पर भरत में उसकी मात्रा कम है। कारण, भरत का हृदय शोक और प्रेम के उद्गारों से भरा हुआ है और इसलिये उनके प्रभाव से कटाक्षों में भी करुणा और कोमलता आए बिना नहीं रहती।

दोनों अपनी माताओं के प्रति कठोर से कठोर कटाक्षों का प्रयोग करते हैं। भरत के वैसे कटाक्षों का उल्लेख हम बहुत कुछ ऊपर कर चुके हैं। निम्न वाक्य भी कुछ कम कठोर नहीं है। वे कहते हैं—

लषन-राम-सिय कहुँ बन दीन्हा। पठइ अमरपुर पति-हित कीन्हा॥
लीन्ह बिधवपनु अपजसु आपू। दीन्हेउ प्रजहिं सोक संतापू॥
मोहिं दीन्ह सुख-सुजसु-सुराजू। कीन्ह कैकई सब कर काजू॥

मुझे तो इस व्यंग का उदाहरण इससे सुंदर कम ही मिला है, क्योंकि

'मुँह परेउ न कीरा'

इत्यादि वचनों में तो कटुता इतनी अधिक एवं स्पष्ट है कि वह व्यंग की सीमा का उल्लंघन-सा कर जाती है। भरत की राजसभावाली वक्तृता का उद्धरण पहले दिया जा चुका है। उस वक्तृता में व्यंग इतना सुंदर है कि कटाक्ष की धार कुंद पड़ जाती है। उसी वार्ता में उपरिलिखित व्यंगात्मक चौपाइयाँ भी प्रयुक्त हुई हैं, जिनके आगे ही ये पद भी हैं—

एहितें मोर कहा अब नीका। तेहिपर देन कहहु तुम्ह टीका॥
केकइ-जठर जनमि जग माहीं। यह मोकहँ कछु अनुचित नाहीं॥
मोरि बात सब बिधिहिं बनाई। प्रजा पाँच कत करहु सहाई॥

ग्रह-गृहीत पुनि बात-बस, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पिआइअ बारुनी, कहहु कवन उपचार॥

थोड़ी दूर आगे चलकर गुरु के संबंध में भी ये पद हैं—

गुरु बिबेक-सागर जगु जाना। जिनहिं बिस्व कर-बदर समाना॥
मोकहँ तिलक-साज सजि सोऊ। भा बिधि बिमुख बिमुख सब कोऊ॥

उपर्युक्त पदों में यह स्पष्ट है कि करुणा और शोक की मात्रा के आधिक्य से तथा इस कारण कि भरत तीव्रता के प्रवाह को अपने भाग्य एवं व्यक्तित्व की ओर मोड़ देते हैं, कटाक्ष में नरमी आ जाती है और

प्रजा तथा गुरु के प्रति घृणा के स्थान में प्रेमपूर्ण दया उत्पन्न होती है। अँगरेजी में तो इसे वक्तृता का 'सेंस अव ह्यूमर' कहते हैं, परंतु हिंदी भाषा में उसे 'सूक्ष्म एवं कोमल व्यंग' के सिवा क्या कहा जा सकता है? यहाँ पर 'कटाक्ष', जो व्यंग का तीसरा प्रकार है, ऊपर उठकर व्यंग के पहले प्रकार अर्थात् 'हास्य' की श्रेणी तक पहुँच जाता है। परंतु हम उसे 'हास्य' इसलिये नहीं कहते कि उसमें करुणरस की मात्रा अधिक है और हास्यरस का केवल पुट है। भरत की भाषा का यह अंतर भी उस आदर्श कलाप्रियता के कारण ही है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि हैमलेट में 'सत्य' ने भयानक रूप धारण कर लिया था परंतु भरत में 'सत्य' के साथ 'शील' का भी मिश्रण था। यही ठीक भी था, क्योंकि भरत ऐसे रामराज्य में थे जिसकी 'ध्वजा पताका' 'सत्य शील दृढ़' थी और हैमलेट डेन्मार्क में था, जहाँ दार्शनिक भौतिकतावाद की प्रधानता थी।

भरत के चारित्रिक विकास में मंथरा-ताड़नवाला दृश्य बड़े महत्व का है, क्योंकि उसी के कारण भरत के कोमल हृदय में दयाभाव जाग्रत् होता है और उनका तीव्र कटाक्षरूपी क्रोध ठंढा पड़ जाता है। यह दृश्य अत्यंत स्वाभाविक भी है। मंथरा नीच श्रेणी की जड़ स्त्री थी, अतः ताड़ना ने शारीरिक उत्पीड़न का रूप धारण किया था। इसके विरुद्ध कैकेयी उच्च श्रेणी की राजमहिला थी, अतः उसके लिये स्वपुत्र के कठोर शब्द भी शारीरिक ताड़न से अधिक थे। अयोध्या और डेन्मार्क के वातावरण में अंतर का परिणाम भी विचारणीय है। हैमलेट ने कटाक्षपूर्ण शब्दों में अपनी माता से यह भी प्रार्थना की थी कि अपने जीवन को दो भागों में विभक्त कर बुरे को छोड़ दे और भले को कायम रक्खे। परंतु वह वैसा न कर सकी और उसके हृदय में स्वतः[१] पश्चात्ताप तक न पैदा

१—पहले जहाँ इस विषय की चर्चा हुई है वहाँ यह आवश्यक शब्द छपने से रह गया था।

हुआ। परंतु कैकेयी की आँख भरत की वक्तृता से, तथा इस कारण कि सब लोग भरत से ही सहमत थे, खुल गई और उसका आत्मोद्धार शुरू हो गया। वह चुपचाप भरत के साथ चित्रकूट को चल देती है, मानो भरत से सहयोग ही करती है। चित्रकूट में राम के प्रेम[1] ने वह काम किया जो भरत का कटाक्ष भी न कर सका—यहाँ तक कि महाराज जनक के आगमन की सूचना पाते समय कैकेयी के पश्चात्ताप की कोई हद न रही—

गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहइ केहि दूषन देई॥

आह! वह अपने दोष को किसी पर ढाल भी नहीं सकती और अपने पछतावे को किसी पर प्रकट भी नहीं कर सकती। फारसी का एक पद[2] है जिसमें ऐसे वैद्य की प्रशंसा की गई है जो जर्राह और मरहम रखनेवाला दोनों हो। मानो जर्राही उसकी चिकित्सा का कटु अंग है और मरहम रखना कोमल। आध्यात्मिक भाषा में हम एक को 'सत्य' और दूसरे को 'शील' कहेंगे। भरत में ये दोनों अंश मौजूद थे और राम तो शील के अवतार ही थे। इसीसे तो अयोध्या में जो बुराई पैदा हुई थी उसका दूरीकरण हो गया। परंतु डेन्मार्क में पाशविक भौतिकतावाद बढ़ता ही गया और अंततः अगणित मृत्युओं का कारण बना। आदर्श कलाप्रियता की दृष्टि से जब मैं विचार करता हूँ तो मुझे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भरत और राम में तो आदर्श कलाप्रियता का साक्षात्कार ही हुआ था, परंतु अयोध्या की जनता में भी इतनी अप्रत्यक्ष कलाप्रियता अवश्य थी कि सभी लोगों ने मनसा-वाचा-कर्मणा उभय राजकुमारों के साथ बराबर अपनी सहानुभूति प्रकट की। इसी कारण डेन्मार्क की तरह अयोध्या में ऐसा नहीं हुआ कि राजमंत्री तक हैमलेट का साथ न दे।

१—भरत मातुपद बंदि प्रभु, सुचि सनेह मिलि भेंटि।
विदा कीन्हि सजि पालकी, सकुच सोच सब मेटि॥ (तुलसी)

२—'हकीमे कि जर्राह व मरहमनह अस्त' (सादी)

ट—भरत की महानता का मापदंड

हम देख चुके हैं कि भरत के ननिहाल से लौटने पर राजसभा का जो अधिवेशन हुआ था और जिसमें राज्य-स्वीकृति का प्रस्ताव उपस्थित हुआ था, उसमें भरत के भाव एवं वक्तृत्व-शक्ति दोनों की ही विजय हुई थी। क्या महाराज वशिष्ठ, क्या मंत्रीगण, क्या पुरवासी और क्या माता कौशल्या, सभी भरत के कोमल तथा करुण आघातों से पराजित हो गए थे। भरत के तीव्र मस्तिष्क और सूक्ष्म एवं शुद्ध भावों ने उन्हें उपर्युक्त सभी व्यक्तियों से ऊपर उठा दिया था।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि चित्रकूट की सभाओं पर भरत का क्या प्रभाव पड़ा और साथ ही यह भी देखेंगे कि भरत के प्रति उनके समकालीन महानुभावों के क्या विचार थे। हैमलेट के चरित्र का ठीक अध्ययन करने के लिए बड़े-बड़े साहित्यमर्मज्ञों ने इस शैली को स्वीकार किया है कि हम इस बात पर विचार करें कि हैमलेट के प्रति नाटक के अन्य पत्रों के भाव और विचार क्या थे। हम भरत के चरित्र के अध्ययन में भी उसी शैली का अनुकरण करेंगे। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार वह निषाद जो पहले भरत के प्रति सशंक और उनसे लड़ने के लिये तैयार था, उनके शुद्ध राम-प्रेम के कारण उनका मित्र और भक्त बन गया। जब लक्ष्मण ने चित्रकूट में यह सुना कि भरत अपनी चतुरंगिनी सेना के साथ आ रहे हैं तो उनका वीर और नीतिनिपुण हृदय क्रोध से क्षुब्ध हो उठा। राजनीतिक दृष्टि से लक्ष्मण का यह तर्क ठीक ही था कि राम के वनवास की अवस्था में होते हुए यदि भरत के विचार शुद्ध होते तो 'केहि सुहात रथबाजिगजाली ?' अपने माख को न्याय्य प्रमाणित करने लिये लक्ष्मण ने ठीक ही कहा था कि 'लातहु मारे

चढ़त सिर नीच को धूरि समान' । उनकी सारी वक्तृता ऐसी ओजस्विनी है कि उसे सर्वथा सराहते ही बनता है । नीति से माख की अवस्था में पहुँचना और माख का रोष में परिणत होना कवि ने बड़ी ही सुंदरता से दिखाया है; और जैसा मैं पहले कह चुका हूँ कि तुलसीदास स्वयं अपने सर्वोत्तम आलोचक हैं, उन्होंने उस भाव-परिवर्तन का चित्रण करते हुए कहा है कि लक्ष्मण को 'नीति रस' भूल गया और उनके 'रन-रस-विटप फूल जिमि फूला' । लक्ष्मण के रोष की पराकाष्ठा उनकी वक्तृता के लगभग अंत में इन शब्दों से प्रकट होती है—

आजु राम-सेवक फल लेऊँ । भरतहिं समर सिखावन देऊ ॥
जौं सहाय करु संकर आई । तदपि हतौं रन रामदुहाई ॥

धरा काँपने लगती है और हमारे सामने गृहकलह की संभावना का भयानक चित्र आ जाता है । इसीलिये मेरी धारणा है कि भरत की महानता की सबसे बड़ी माप यही है कि उन्होंने परिस्थिति को एक पूरे युग के लिये सुधार दिया । नहीं तो महाभारत का युद्ध कुरुक्षेत्र के बजाय चित्रकूट में होता या अयोध्या में । अब हमें पहले-पहल यह पता लगता है कि राजनीतिक दृष्टि से भी भरत का चित्रकूट-गमन जनता, निषाद और लक्ष्मण की शंकाओं के समाधान के लिये कितना आवश्यक था । इस दृष्टि से जब हम महाराज वशिष्ठ के इस प्रस्ताव की तुलना, कि भरत राज्य स्वीकार करें और चौदह वर्ष पश्चात् राम के लौटने पर उन्हें वापस कर दें, भरत के इस संशोधन से करते हैं कि तुरत ही चित्रकूट चलकर रामाज्ञा के अनुसार ही कार्य किया जाय, तो हमें भरत की महानता का सम्यक् अनुभव होता है । चौदह वर्षों में तो न जाने कितने कुतर्क उत्पन्न होते और निषादों की क्रांति-जैसे न जाने कितने विरोधी आंदोलन उठते । और आश्चर्य नहीं कि चौदह वर्षों के राज्य-भोग के पश्चात् स्वयं भरत के विचार भी कुछ और ही होते । ऐसी ही संभावनाओं की आशंका से

भरतजी गुरु वशिष्ट के प्रस्ताव का विरोध करते हैं और राज्य को अपने लिये वारुणी बताते हुए कहते हैं कि—

> ग्रह-ग्रहीत पुनि बात-बस तेहि पुनि बीछी मार ।
> ताहि पियाइअ बारुनी कहहु कवन उपचार ॥

कुछ ऐसी ही संभावनाओं का संकेत मंत्रि-मंडल के उस निर्णय में भी मिलता है जिसमें उसने गुरु वशिष्ठ के प्रस्ताव के उस अंश को तो स्वीकृत किया जिसमें भरत से राज्य ग्रहण करने का अनुरोध किया गया था, पर चौदह वर्ष बाद राज्य के लौटानेवाले अंश को यह कहकर टाल दिया कि उस समय जैसा उचित होगा किया जायगा । भरत इन सब बातों को पहले ही ताड़ चुके थे और इसीलिये उन्होंने भगवान् राम से अपने अवलंबन के लिये चरण-पादुका माँग ली थी। राम स्वयं न लौटे परंतु उनकी चरण-पादुकाओं की स्थापना से प्रतीकरूप में तो राम-राज्य स्थापित हो ही गया । प्रलोभन से हर तरह बचने के लिये भरत तपस्वी बनकर नंदिग्राम में रहते हुए केवल प्रतिनिधि के रूप में शासन करते रहे । इसी कारण गुरु वशिष्ठ ने भरत के इस सूझ की बड़ी प्रशंसा की है और हमें भी भरत के इस तपस्वी आचरण में उनके आदर्शवाद और उनकी स्वाभाविक धर्मपरायणता की पराकाष्ठा दिखाई देती है ।

यहीं एक बात और । महाकवि शेक्सपियर ने भी हैमलेट में उसके चाचा के पश्चाताप का एक छोटा सा दृश्य रक्खा है और वहाँ पर एक बड़े मर्म की बात कही है । हैमलेट का चाचा पाश्चाताप से पाप के प्रायश्चित्त की संभावना का अनुभव करता है परंतु बड़े शोक के साथ वह इस बात को मानता है कि पाप से मिली हुई संपत्ति के त्याग के बिना पश्चात्ताप की सफलता असंभव है । इस घटना से भरत के तप एवं त्यागपूर्ण आचरण पर कितना सुंदर प्रकाश पड़ता है और यह प्रमाणित होता है कि भरत का वैसा ही आचरण आध्यात्मिक दृष्टि से श्रेयस्कर

था। लक्ष्मण के उपरिलिखित कठोर शब्दों का विरोध करते हुए राम ने भरत के प्रति जैसी श्रद्धा प्रकट की है, उससे भी भरत की असीम महानता का प्रकटीकरण होता है—

भरतहिं होइ न राज-मद विधि-हरिहर-पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु विनसाइ॥

देवगण भी भगवान् राम के विचारों की ही पुष्टि करते हैं—

सुनि रघुबर-बानी विबुध देखि भरत पर हेतु।
लगे सराहन सहस मुख प्रभु को कृपा निकेतु॥

जौ न होत जग जनम भरत को। सकल धरम-धुर धरनि धरत का।
कवि-कुल-अगम भरत-गुन गाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा॥

माता कौशल्या तो अयोध्या में ही भरत को निर्दोष ठहरा चुकी हैं—

भए ग्यान बरु मिटइ न मोहू। तुम्ह रामहिं प्रतिकूल न होहू॥
मत तुम्हार यह जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥

माता कौशल्या के प्रेम की दशा का वर्णन जिन शब्दों में है उनके जोड़ के शब्दों का मिलना संसार के किसी भी साहित्य में संभव नहीं। शब्द कितने सरल हैं और चित्र कितना भाव-पूर्ण है—

अस कहि मातु भरत हिय लाये। थन पै स्रवहिं नयन जल छाए।

चित्रकूट में रानी सुनैना से बातचीत करते हुए कौसल्याजी ने महाराज दशरथ की उस धारणा की चर्चा की है जिसमें स्वर्गीय राजा भरत को ही 'कुलदीप' बताया करते थे। यथार्थ बात तो यह है आर्य सभ्यता के लिये भी भरतजी 'कुलदीप' ही हैं। संसार में आदर्शवाद की सफलता का

चित्र उन्हीं को लेकर जाज्वल्यमान है। माता कौशल्या भरत के चरित्र के समस्त मर्मों को जानती थीं और उनके आदर्शपूर्ण गूढ़ स्नेह का उन्हें बहुत अधिक अनुभव था। उनके हृदय में राम के वनवास का इतना शोच ही न था जितना राम के वियोग में भरत के हृदय की दशा का—

गहबर हिय कहि कौसिला मोहिं भरत कर सोच।

इसी कारण कौशल्याजी ने रानी सुनैना द्वारा जो विनय जनक से की है, उसमें राम के लौटाने पर इतना जोर नहीं, जितना इस बात पर कि भरत भी राम के साथ जायँ। क्योंकि वह समझती थीं कि भरत का प्रेम इतना अधिक है कि वह वियोग-दुःख सहन न कर सकेंगे और इसी-लिये उन्होंने कहा है कि—

रहे नीक मोहिं लागत नाहीं।

परंतु जब महाराज जनक से यह संदेश कहा गया कि वह भरत पर अपना प्रभाव डालें और वनवास की गूढ़ समस्याओं के सुलझाने का प्रयत्न करें तो उन्होंने भरत की महानता का उल्लेख जिन शब्दों में किया है वे विचारणीय हैं—

धर्म राजनय ब्रह्म बिचारू। यहाँ जथामति मोर प्रचारू ॥
सो मति मोर भरत महिमाहीं। कहहि काह छल छुवत न छाहीं ॥

हम जानते हैं कि महाराज जनक ऐसे विशिष्ट कर्मयोगी थे कि उनका उदाहरण भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी गीता तक में दिया है। उन्होंने संसार में भोग और योग का अनुपम रीति पर समन्वय कर दिखाया था। उधर महाराज वशिष्ठ भी योगवाशिष्ठ के निर्माता और कर्मयोग के भंडार ही थे। जब इन दोनों महान् व्यक्तियों ने भरत की महिमा स्वीकार कर ली तो फिर किसी और का कहना ही क्या? हम भरत के 'धर्म' और 'राज-नय' को उनकी अनेक वक्तृताओं में देख चुके हैं, परंतु यहाँ स्पष्ट शब्दों

में महाराज जनक भरत की महिमा को 'ब्रह्मविचार' से भी ऊपर बताते हैं। इसका कारण बड़ा ही सूक्ष्म एवं सुंदर है। ब्रह्म सत्य है और जहाँ असत्य का कुछ भी लेश हो वह स्थान उससे नीचे ही है। हम देख चुके हैं कि सत्य और असत्य के मार्मिक अंतर की पहचान में भरत गुरु वशिष्ठ से आगे बढ़ गए हैं। आगे हम यह भी देखेंगे कि चित्रकूट के प्रस्तावों में भरत के हृदय की महिमा की थाह वशिष्ठ और जनक दोनों ही न पा सके। इस दृष्टि से ब्रह्म (सत्य) विचार में भी भरत की महिमा अतुलनीय है—चाहे उसमें तार्किक वाद-विवाद न हो। चित्रकूट में जिस समय वशिष्ठजी ने भरत के सामने यह प्रस्ताव रक्खा कि

सकुचहुँ तात कहत इक बाता। अर्ध तजहिं वुध सरबस जाता॥
तुम कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिय लषन–सीय–रघुराई॥

तो भरत का प्रेम इस कसौटी पर भी खरा उतरता है। उनके आनंद की सीमा नहीं रहती--

..........हरषे दोउ भ्राता। भे प्रमोद-परिपूरण गाता॥

और भरतजी बोल उठते हैं--

कहहिं भरत मुनि कहा सो कीन्हें। फल जगजीवन अभिमत दीन्हें॥

भरत के शब्दों में कितनी स्वाभाविकता है; मानों उनके आदर्शवादरूपी दिशासूचक यंत्रकी सुई अपने लक्ष्य पर पहुँच गई। इसीलिये तो वह गुरु वशिष्ठ के प्रस्ताव में 'जगजीवन' का फल देखते हैं! गुरुजी पर इस स्वीकृति का जो असर हुआ वह अकथनीय है। वह यह नहीं समझ सके थे कि भरत का प्रेम इतना अगाध है और इसी कारण उन्हें प्रस्ताव रखते समय संकोच था। पर भरत ने उसे ऐसे उत्साह के साथ स्वीकार किया कि गुरुजी भी चकित रह गए। इसीलिये

तुलसीदासजी भरत की महिमा की उपमा जलराशि से देते हुए गुरु वशिष्ठ की मति को तट पर खड़ी हुई एक अबला बताते हैं—

मुनि-मति ठाढ़ि तीर अबला सी।

अस्तु, अब गुरुजी को भरत के प्रेम का इतना विश्वास हो गया और उन्हें इतनी जानकारी हो गई कि भरत राम और धर्म के लिये क्या कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि उनमें स्वार्थ का लेश भी नहीं। तभी तो उन्होंने जनक से आग्रह किया है कि वह बीच में पड़कर समस्याओं को इस प्रकार सुलझा दे जिसमें—

सबकर धरम सहित हित होई।

'सब' शब्द समस्या की जटिलता का द्योतक है। भरत का हित तो हम ऊपर देख चुके, परंतु भरत-वनवास बहुतों के लिये उतना ही दुःखदायी था जितना रामका, इसीलिये तो भरत-वन-गमन के प्रस्ताव पर रानियाँ रोने लगीं—

सम दुख सुख सब रोवहिं रानी।

महाराज जनक बड़े गंभीर कर्मयोगी थे। उन्होंने स्वयं 'धर्म', 'राजनय' और 'ब्रह्मविचार' में अपनी पहुँच का संकेत किया है। इसीलिये उनकी दृष्टि समस्या के सब अंगों पर थी। भरत से उनका यह आग्रह था—

राम सत्यव्रत धर्मरत सब कर सील सनेहु।
संकट सहत सँकोचबस चहिय सु आयसु देहु॥

आह! बेचारे भरत पर कितना भार है। समस्या की कुंजी उसी के हाथ में है। जनक के इन शब्दों ने भरत पर एक विचित्र प्रभाव डाला। भरत के मस्तिष्क में विचारों का ज्वारभाटा-सा आ गया। क्या

वह एक सेवक की अवस्था में होते हुए राम को इस संकोच-संकट में देख सकते हैं ? कदापि नहीं ! ऐसे सेवक की 'मति' को भरत जी 'पोची' समझते हैं जो 'साहिबहिं सँकोची' हो। महाराज जनक ने समस्या को खूब समझा और 'संकट' और 'सँकोच' शब्दों से राम की करुणाजनक अवस्था का वर्णन उनसे बढ़कर किसी ने नहीं किया। पर तुलसीदासजी ने राम को 'दीनदयालु' बताया है और उसकी परिभाषा बड़े सुंदर शब्दों में यों की है—

पर-दुख दुखी सु दीनदयाला।

और इसीलिये तो संकोच और संकट था कि ऐसे दीनदयालु के हृदय में सत्यव्रत और धर्म एक ओर तथा शील और स्नेह दूसरी ओर खींचा-तानी कर रहे थे। यह कसौटी भरत के लिए गुरु वशिष्ठकी कसौटी से भी अधिक कठिन थी। वशिष्ठ की कसौटी की परख तो भरत के वन-गमन से पूरी हो सकती थी पर राम के संकट और संकोच की मात्रा उससे और अधिक बढ़ जाती जो राम के लिये असहनीय होती। समस्या की गहनता भरत भी समझते हैं और उनका मस्तिष्क भी एक बार तो चकरा ही जाता है। परंतु उनके सेवा-धर्म ने विजय पाई और यद्यपि आरंभ में वह अपने लिये यह कहते हैं—

मन मलीन मैं बोलत बाहर,

परंतु उनके निर्णय में दृढ़ता है। आगे वे कहते हैं—

छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता॥
आगम-निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा धरम कठिन जगु जाना॥
स्वामि-धरम स्वारथहिं बिरोधू। बधिर अंध प्रेमहिं न प्रबोधू॥

राखि राम-रुख धरम-व्रत, पराधीन मोहिं जानि।
सबके सम्मत सर्व-हित, करिय प्रेम पहिचानि॥

सेवा-धर्म की कितनी पराकाष्ठा है कि भरत अपने को नितांत पराधीन बताते हैं। सच है, सेवाधर्म और स्वार्थ एक साथ चल ही नहीं सकते और इसीलिये यद्यपि भरत उस धर्म की कठिनाई का अनुभव करते हैं फिर भी महाराज जनक के प्रस्ताव को पूर्णतः स्वीकार करते हुए तुरंत कह देते हैं कि राम का 'रुख' और उन्हीं का धर्मव्रत निभाते हुए काम किया जाय। सेवक अपने अस्तित्व को बिलकुल मिटा देता है और स्वामी के ही संतोष में अपना संतोष मानता है। आह! परिस्थिति कितनी कठिन है और सेवाधर्म कितना कठोर, कि जिस हेतु भरत अयोध्या से आए थे, वही हाथ से जाता हुआ दिखाई देता है। परंतु धन्य है, आदर्शवादी भरत को और उनके पवित्र ध्येय को कि अंततः विजय भरत की ही होती है, परिस्थिति की नहीं। ऐसा त्याग स्वतंत्रता का मूल है क्योंकि वह विवशता से नहीं स्वेच्छा से किया गया है। तुलसीदासजी भरत को मंथरा के छुड़ाते समय 'दयानिधि' कह चुके हैं और वही दयाभाव यहाँ पुनः प्रकटरूप से विद्यमान है। भरत निजी स्वार्थ के त्याग में तनिक भी नहीं हिचकते परंतु महाराज जनक से यह आग्रह अवश्य करते हैं कि सर्वहित को छोड़ा न जाय और सर्वसम्मति से ही काम किया जाय। भरत की उपर्युक्त वक्तृता इतनी सुंदर है और उसमें धर्म के इतने गूढ़ और आवश्यक विषय मौजूद हैं कि उसकी आलोचना करते हुए तुलसीदासजी स्वयं कहते हैं—

ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी॥

हम यह देख चुके हैं कि स्वयं भगवती सरस्वती ने देवताओं के उस प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं किया जिसमें उनसे भरत की मति फेरने का अनुरोध था। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि ऐसा करने में मैं असमर्थ हूँ। इतना ही नहीं बल्कि वह कहती हैं—

बिधि-हरि-हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरत-मति सकइ निहारी॥

माया असत्य है और भरत सत्य एवं शील के आदर्श, फिर भला दोनों को साथ ही कैसे निभाया जा सकता है ? तुलसीदासजी कहते हैं—

तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू ।

सरस्वती का अपनी निर्बलता का यह प्रकटीकरण कितना सत्य और हमारे लिये कितना आशाजनक है । शेक्सपियर के दुःखांत नाटकों के अध्ययन के पश्चात् हमारे ऊपर निराशा का राज्य होता है और मनुष्य दैवी शक्तियों के हाथ का खिलौना प्रतीत होने लगता है, जिसे वे जब चाहें चकनाचूर कर दें ; मानो हमारे आत्मा में पूर्ण विकास की शक्ति ही नहीं । परंतु रामचरितमानस की करुणाजनक घटनाएँ पढ़ने के पश्चात् भी आत्मा निराश नहीं होता और हमें यह ज्ञात होता है कि अगर वह सत्य पर दृढ़ रहे तो दैवी शक्तियों पर भी विजय पा सकता है । कहीं कहीं शेक्सपियर के किसी किसी आलोचक ने इस बात की ओर भी संकेत किया है ; पर हमें तो ऐसे संकेत खींच तान से ही जान पड़ते हैं । अस्तु, जो कुछ भी हो, परंतु सत्यप्रिय आत्मा की ऐसी विजय तो कहीं भी नहीं दिखाई देती । क्या अब भी भरत की महानता का अनुभव सभ्य जगत् न करेगा और क्या आदर्शवाद मखौल की वस्तु ही रहेगा ?

अंत में वशिष्ठजी स्वयं भगवान् राम से आग्रह करते हैं और वह अपने स्वाभाविक औदार्य और भ्रातृप्रेम के कारण वशिष्ठ, जनक तथा भरत की बात मान लेने को तैयार हो जाते हैं । यहाँ पुनः सारा भार भरत के ही सिर पर है । परंतु वह सेवाधर्म के सत्यव्रती हैं और इस समय भी परिस्थितियों को अपने स्वामी रामजी के ही दृष्टिकोण से देखते हैं । भरत की सारी वक्तृता बड़ी मार्मिक है परंतु हम उसमें की थोड़ी ही पंक्तियाँ देते हैं—

प्रभु पितु-वचन मोहबस पेली । आयहु इहाँ समाज सकेली ॥

... ...

सो मैं सब विधि कीन्हि ढिठाई । प्रभु मानी सनेह सेवकाई ॥

कृपा भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर।
दूषन मे भूषन सरिस सुजस चारु चहुँ ओर ।।

सेवाधर्म के आदर्श ने सारी स्थिति ही पलट दी। भ्रातृस्नेह अब 'मोह' दिखाई देता है और समाज के साथ आना 'ढिठाई'। धन्य है भरत का सेवाधर्म, परंतु स्वामी भी तो राम जैसा ही हो, कि इन सब बातों को 'सनेह-सेवकाई' ही माने। आध्यात्मिक अवस्था में भक्तिमार्ग की यही तो उत्तमता है कि भक्त के 'दूषण' भी 'भूषण' हो जाते हैं। वह वक्तृता इतनी करुणाजनक है और साथ ही इतनी शांतिप्रद भी कि हृदय करुणा और शांति से भर उठता है।

भौतिक राजनीतिक विज्ञान के पुजारी वर्तमान काल की अनेक राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय कान्फरेंसों को तनिक चित्रकूट की कान्फरेंसों से मिलाएँ और विचार करें कि वर्तमान कान्फरेंसों की असफलता का मुख्य कारण क्या है। चित्रकूट में भी परिस्थिति की मीमांसा अनेक दृष्टियों से हुई थी। वहाँ भी अनेक स्वार्थों का संघर्षण विद्यमान था। परंतु सत्य और स्नेह का ऐसा राज्य था कि स्थूल स्वार्थ को ठुकराने के लिये सभी तैयार थे। और आज सत्य का कोसों पता नहीं और स्नेह केवल जिह्वा से कहने की वस्तु रह गया है, हृदय से उसका कोई सं ध नहीं। जब सर्वत्र स्वार्थ का ही भाव हो तो पहले तो किसी बात का तै होना ही कठिन है और यदि कोई बात तै हुई भी तो स्थायी नहीं होती। सहयोग का मूल-मंत्र स्नेह और सेवा है, और जहाँ वैसे भाव होते हैं वहाँ गुत्थियाँ स्वयं सुलझती जाती हैं, क्योंकि भरत की भाँति हम स्वयं परिस्थितियों को औरों की दृष्टि से देखने लगते हैं। भारत की अध्यात्मविद्या के शब्दों में हम वर्तमान कूटनीति को माया का परिवार ही कहेंगे और माया कभी टिकाऊ नहीं होती। जब सत्य और स्नेह की मात्रा बढ़ेगी तभी राष्ट्रसंघ सफल होगा और तभी संसार में आर्थिक सहयोग और सच्चा निःशस्त्रीकरण हो सकेगा। इसीलिये तो तुलसीदासजी ने रामराज्य के झंडे के लिये कहा है—

सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।

आह, अभी तो 'सत्याग्रह' भी सफल नहीं हुआ तो फिर 'सत्यशील-आग्रह' की कौन कहे ? अब हमें अवश्य ही यह ज्ञात हो गया होगा कि गुरु वशिष्ट ने भरत के नाम की व्याख्या इन शब्दों में क्यों की थी कि—

विस्व-भरन-पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥

क्या विश्व का भरण-पोषण किसी और भाव के होते हुए भी हो सकता है ? कदापि नहीं ! जो अपस्वार्थी और स्नेह एवं सेवा के भावों से शून्य होगा वह विश्व तो दूर, एक घराने का भरण-पोषण भी नहीं कर सकता। इसी से तो रामायण के दूसरे निःस्वार्थी सेवक हनूमान् से भगवान् राम ने स्वयं इस आदर्श का मूल-मंत्र भाषा-श्रुति में यों कहा है—

सोइ अनन्य जाके अस मति न टरै हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूपरासि भगवंत॥

इन सिद्धांतों के विचार के बाद अब यह दिखाई पड़ने लगा है कि कठिनाइयों का अंत होने ही वाला है और चित्रकूट की कान्फरेंसों की सफलता संसार-साहित्य में स्वर्ण के सदृश सदा ही चमकेगी। यहीं पर हमें नाटक-कला संबंधी एक बात भी कह देनी है। तुलसीदासजी ने देवताओं, अयोध्या-वासियों, भरत इत्यादि, राम तथा लक्ष्मण के विचार-संघर्षण को ऐसी पूर्णता से चित्रित किया है कि करुणरस बराबर छलकता रहता है और अंत तक हमारे हृदय की अस्थिरता एवं उत्सुकता बराबर बनी रहती है और जब तक राम का अंतिम निर्णयात्मक भाषण नहीं होता तब तक आशा की पूरी झलक नहीं दिखाई पड़ती।

किसी विषय पर अनेक दृष्टिकोणों से विचार करने की प्रवृत्ति और अपनी आलोचना करने का अभ्यास होना ऐसे आदर्शवादी के ही लक्षण हैं जिसे स्वाभाविक महिमा के अतिरिक्त मानसिक संस्कृति की प्राप्ति का भी यथेष्ट अवसर मिला हो। यहीं पर हैमलेट की अपेक्षा भरत की

महानता का दर्शन होता है। हैमलेट के आदर्शवाद में वह परिपक्वता न थी जो भरत में स्थान स्थान पर दिखाई देती है। बेचारे हैमलेट का मस्तिष्क चारों ओर के विचारों के झकोरे में चकरा जाता है और उसकी निर्णायक शक्ति काम नहीं देती। अतएव उसकी धारणा यह हो जाती है कि 'अंतरात्मा हम सबको कायर बना देता है।' उसकी दूसरी धारणा यह भी होती है कि 'कोई चीज भली या बुरी नहीं है, बल्कि हमारे विचार ही उसे भली या बुरी बना देते हैं।' आह! बेचारे हैमलेट के पतन और उसके जीवन की निष्फलता के मुख्य कारण ये ही सिद्धांत हैं। इसीलिये वह अपने विचार-प्रवाह को कठोरता के साथ रोकता है और नतीजा यह होता है कि वह अंधविश्वासी एवं भाग्यवादी बन जाता है और चारों ओर के अंधकार में उसे इस सिद्धान्त की केवल धुँधली झलक दिखाई देती है कि कोई ऐसी आध्यात्मिक शक्ति परदे की ओट में है जो हमारे कर्मों के परिणामों को सुधार देती है, चाहे हम उन्हें कितना ही अन-गढ़ा बनावें। भरत विवेक और विचार को कभी हानिकर नहीं समझते, यद्यपि उनकी दशा भी विचारों और परिस्थितियों के झकोरों में हैमलेट से कम करुणाजनक नहीं है। उन्हें भी 'भूख न बासर नींद न राती' की चिंताजनक अवस्था का सामना करना पड़ता है, और हम देख ही चुके हैं कि चित्रकूट में उनके मस्तिष्क में ऐसा विचार-संघर्षण उत्पन्न हो जाता है जिसे कवि ने 'एकहु युक्ति न मन ठहरानी' द्वारा व्यक्त किया है। परंतु ऐसी परिस्थितियों में भी भरत जी विवेक एवं विचार को हाथ से नहीं जाने देते क्योंकि सत्य की खोज में वेही दोनों पथ-प्रदर्शक हैं। यह सच है कि भरत को भी स्वयं कोई युक्ति नहीं सूझती। पर उनमें इतना विवेक अवश्य बाकी है कि जब रामजी गहन परिस्थितियों को सुलझानेवाला प्रस्ताव अपनी ओर से उपस्थित करते हैं तो भरत उसे सहर्ष मान लेने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते। तुलसीदासजी भरतकी तुलना हंस से करते हैं जिसमें नीर-क्षीर-विवेक-शक्ति विद्यमान है। राम को भरत की

इस विवेक-शक्ति और धर्मपरायणता पर इतना विश्वास है कि वह भरी सभा में निःसंकोच यह कह देते हैं कि—'भरत कहहिं सो किए भलाई।' उस सभा की वक्तृताएँ इतनी सुंदर और विचारपूर्ण हैं कि मैं पाठकों से उन सबको ध्यानपूर्वक पढ़ने की प्रार्थना अवश्य करूँगा। भरोसे से भरोसा पैदा होता है और इसीलिये भगवान् राम के इस भाषण का भरत पर बहुत बड़ा असर पड़ा। स्वयं भरत भी परिस्थिति के सारे अंगों पर विचार कर चुके हैं और महाराज जनक के पूर्वकथित अपील की सहायता से उन्हें अपने सेवा धर्म के निर्णय में अब कुछ भी कठिनाई बाकी नहीं रही। जब राम ने सब कुछ भरत पर ही छोड़ दिया तो सारी सभा चकित हो गई और भरत का मुँह ताकने लगी। तुलसीदासजी ने उस अवस्था का चित्रण यों किया है—

> राम-सपथ सुनि मुनि जनक सकुचे सभा-समेत।
> सकल बिलोकहिं भरत-मुख बनै न उत्तर देत॥

कितनी चिंता और अस्थिरता है! सबकी आँखें भरत पर हैं। किंतु कवि ने उनकी धीरता का चित्र अपने शब्दों में इस प्रकार अंकित किया है—

> सभा सकुच-बस भरत निहारी। राम-बंधु धरि धीरज भारी॥
> कुसमय देखि सनेह सँभारा। बढ़त बिंध्य जिमि घटज निवारा॥

कितना महान् धैर्य और आत्मसंयम है! उपमा कितनी विशाल और महाकाव्य के लिये कितनी उपयुक्त है। अँगरेजी भाषा में ऐसी उपमाएँ मिल्टन और स्पेंसर के काव्यों के अतिरिक्त अन्यत्र मिलनी मुश्किल हैं। सच है, स्नेह भी धर्म के लिये होता है, न कि धर्म स्नेह के लिये। इसीलिये महाकवि तुलसीदास ने भी 'सत्य' शब्द को 'शील' के पहले ही रक्खा है, जैसा हम अभी राम की ध्वजा-पताकावाले वर्णन में देख चुके हैं। भरतजी खड़े होकर अपनी वक्तृता आरंभ करते हैं—

करि प्रनाम सब कहँ कर जोरी। राम-राउ-गुरु-साधु निहोरी ।।

वक्तृता की आलोचना करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं कि वह विनय, विवेक, धर्म और नय की खानि है। इसके आगे 'प्रभु पितु-बचन मोहबस पेली' इत्यादि का वर्णन है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं और यह भी कह चुके हैं कि भरत ने परिस्थिति पर रामजी की दृष्टि से विचार करना आरंभ कर दिया। राम के स्वामित्व की विशेषता का वर्णन भरतजी पुनः इन शब्दों में करते हैं--

देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने ।।
को साहिब सेवकहिं नेवाजी। आपु समान साज सब साजी।
निज करतूति न समुझिय सपने। सेवक सकुच सोचु उर अपने ।।
सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहौं पन रोपी ।।

यह है स्वामी पर भरोसा और संकल्प की दृढ़ता! इसीलिये भरत आगे कहते हैं—

आज्ञा सम नहिं साहिब-सेवा। सो प्रसाद जन पावै देवा ॥

इसके बाद का सार दृश्य इतना करुणापूर्ण है कि उसे बिना अश्रुपात के पढ़ना कठिन है। करुणा के साथ माधुर्य का सम्मिश्रण अपना अद्भुत् चमत्कार दिखाए बिना नहीं रहता—

प्रभु-पद-कमल गहे अकुलाई। समय सनेहु न सो कहि जाई ॥
कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाए समीप गहि पानी ।।
भरत-विनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेह सभा रघुराऊ ॥
रघुराउ सिथिल सनेह साधु समाज मुनि मिथिलाधनी।
मन महँ सराहत भरत-भायप भगति की महिमा घनी ।।

भरतहिं प्रसंसत बिबुध बरसत सुमन मानस मलिन से।
तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिन से॥

राम का उत्तर भी वैसा ही सुंदर है और भरत के प्रति अंतिम अपील तो अनुपम ही है। राम कहते हैं—

सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनि-कुल-पालक होहू॥
साधन एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी॥
सो बिचारि सहि संकट भारी। करहु प्रजा परिवार सुखारी॥

दृष्टिकोण कितना बदल जाता है। राम का मुख्य विचार और उनके आग्रह का आधार अपना कुल-धर्म और प्रजा-पालन है। फिर चाहे तदर्थ कितना ही त्याग करना पड़े और कितना ही संकट सहना पड़े। राम को भरत के चरित्र का कितना मार्मिक ज्ञान है। वह जानते हैं कि भरत का विवेक हंस के समान है और वह सच्चे आदर्शवादी हैं। यदि उच्च आदर्श उनके आगे रक्खा जायगा तो ऐसा कोई सांसारिक संकट नहीं है जिसे वह सहन करने को तैयार न हों। भगवान् के हृदय की कोमलता भी स्पष्ट ही है। वह किसी बात को आज्ञा के रूप में नहीं रखते, प्रत्युत प्रत्येक विषय को मनोहर अपील के साँचे में ढाल देते हैं। भ्रातृ-प्रेम की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

बाँटी बिपति सबहि मोहिं भाई। तुम्हहिं अवधि भर बड़ि कठिनाई॥
जानि तुम्हहिं मृदु कहहुँ कठोरा। कुसमय तात न अनुचित मोरा॥
होहिं कुठाउँ सुबंधु सुहाए। ओड़िय हाथ असनि के घाए॥

हृदयस्पर्शी अनुरोध की पराकाष्ठा है! भरत-जैसे आदर्शवादी भाई और सेवक के प्रति किस कोमलता से अपील की गई है।

सभी पुनः स्तंभित हो जाते हैं—'सिथिल समाज सनेह समाधी।' आध्यात्मिक विषय के ज्ञाता 'सनेह' से उत्पन्न होनेवाली इस समाधि

की अवस्था पर विचार करें। भरत की कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। जिस राज्य को वे राम के प्रति अन्याय होने के कारण विष समझते थे उसी का संचालन राम की आज्ञा मिलने पर 'सनेहमयी सेवा' बन जाता है, मानो इस 'कुठाउँ' पर भगवान् राम के लिये वह 'ओड़िय हाथ असनि के घाए' का प्रतिरूप ही बन जाते हैं और स्वयं अपने शब्दों में उनका सेवा-धर्म संबंधी आदर्शवाद इस प्रकार पूर्ति पा जाता है—'आज्ञा सम नहिं साहिब-सेवा।' तुलसीदासजी इसका वर्णन यों करते हैं—

मुख प्रसन्न मन मिटा विषादू। भा जनु गूँगहिं गिरा प्रसादू॥
कीन्ह सप्रेम प्रनाम बहोरी। बोले पानि-पंकरुह जोरी॥
नाथ भयउ सुख साथ गए को। लहेउँ लाभ जग जनम भए को॥
अब कृपालु जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई॥
सो अवलंब देहु मोहिं देवा। अवधि पार पावहुँ जेहि सेवा॥

'गूँगहिं गिरा प्रसादू' की उपमा कितनी उत्तम है? भरत की विवेक-शक्ति की मूकता हम 'एकहु युक्ति न मन ठहरानी' में पहले ही देख चुके हैं। इस मूकता को भगवान् राम के सिवा और कौन दूर कर सकता है? उन्हीं की कृपा से—

मूक होहिं बाचाल पंगु चढ़हिं गिरिवर गहन।

आह! करुणरस अब भी स्थिर है। भरत को 'अवधि' पार करना कठिन जान पड़ता है और इसीलिये तो अवलंब की प्रार्थना है। ऐसी सूक्ष्मता का प्रदर्शन तुलसीदासजी का ही काम है। राम 'अवलंब' रूप में अपनी चरण-पादुका देते हैं जो भरत के लिये राम-राज्य की प्रतीक बन जाती हैं। इसीलिये तो भरत ने अवध पहुँच कर—

मुनि सिख पाइ असीस बड़ि गनक बोलि दिन साधि।
सिंहासन प्रभु-पादुका बैठारे निरुपाधि॥

अब भरत का हर्ष इतना विकास पा जाता है कि वह चित्रकूट-भ्रमण की आज्ञा इन शब्दों में माँगने का साहस करते हैं—

चित्रकूट सुचि थल तीरथ बन। खग मृग सरिसर निर्झर गिरिगन ॥
प्रभु पद अंकित अवनि बिसेखी। आयसु होइ तो आवहुँ देखी ॥

बाल्यकाल के वर्णन में हमने चारों राजकुमारों को वन में 'मृगया' के हेतु जाते देखा है, परंतु आज भरत हर्ष के होते हुए भी करुण एवं प्रेम रस के पुट के कारण यात्राभाव से ही वन-भ्रमणार्थ जा रहे हैं। इसीलिये इस भ्रमण में कवि ने स्नान, मज्जन, दर्शन और ध्यान की ही प्रधानता दिखाई है। परंतु भरत के उपर्युक्त यात्रा भाव में प्रेम एवं हर्ष का भी इतना समावेश है कि वह वन की रमणीयता का आस्वादन कर सकते हैं। इसी कारण तुलसीदासजी ने भी इस यात्रा का वर्णन यों शुरू किया है—

सहित समाज साज सब सादे। चले राम-वन-अटन पयादे ॥
कोमल चरन चलत बिनु पनहीं। भइ मृदु भूमि सकुचि मन मनहीं ॥
कुस कंटक काँकरी कुराई। कटुक कठोर कुबस्तु दुराई ॥
महि मंजुल मृदु मारग कीन्हें। बहत समीर त्रिबिध सुख लीन्हे ॥
सुमन बरषि सुर घन करि छाहीं। बिटप फूलि फल तृन मृदुताहीं ॥
मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल रामप्रिय जानी ॥

संपूर्ण प्राकृतिक दृश्य को महाकवि ने सजीवता और भावुकता से भर दिया है, मानो कवि के काव्य-संसार में जड़ता का पता ही नहीं। आंग्ल-साहित्य के मर्मज्ञ, बाइरन के इस वाक्य की कि 'जल ने अपने स्वामी को पहचाना और लज्जा एवं प्रेम से लाल हो गया' बड़ी प्रशंसा करते हैं जो ठीक ही है। परंतु उन्हें तुलसीदासजी के उस जैसे अगणित वाक्यों की ओर भी ध्यान देना चाहिए। पृथिवी, वायु, खग, मृग सभी

तो रामप्रिय भरत की सेवा कर रहे हैं। भरत के जीवन में तप के साथ मधुरता एवं कोमलता अब से स्थायित्व धारण करेंगी। महात्माओं के लिये आपत्तियाँ लाभदायक होती हैं।[1]

ऊपर की तुलनात्मक व्याख्या से हमें स्पष्ट प्रतीत हो गया कि भरत की महानता गुरु वशिष्ठ और जनक से भी बढ़कर है। केवल राम ही उनसे बड़े हैं और वही भरत को कठिनाई के समय सहारा दे सकते हैं। हमारे सामने आदर्शवाद और सामंजस्यपूर्ण कलाप्रियता की सजीव प्रतिमा भरत के रूप में मौजूद है जिनमें विवेक और दृढ़ता की इतनी मात्रा अवश्य है कि उससे परिस्थियों पर विजय प्राप्त हो सके।

इस प्रसंग को समाप्त करने के पूर्व यह अनुचित न होगा कि कुछ साहित्यमर्मज्ञों के वे विचार भी रख दिए जायँ जिनमें हैमलेट से उपदेश लिए गए हैं और यह भी दिखा दिया जाय कि उनसे भरत के चरित्र तथा अयोध्याकांड के अध्ययन में क्या सहायता मिलती है।

८—कुछ साहित्य-मर्मज्ञों का हैमलेट से उपदेश-ग्रहण और उससे भरत और अयोध्याकांड के अध्ययन पर पड़नेवाला प्रकाश।

इंग्लैंड के राजकवि जान मेसफील्ड कहते हैं—'प्रतिहिंसा और संयोग दोनों ही जीवन को उसके मार्ग पर पुनः प्रवाहित करते हैं और इसके निमित्त वे ऐसे जीवनों का नाश करते हैं, जिनमें अधिक पशुत्व या आनुरता या मूर्खता या अतिविज्ञता है, क्योंकि वे सभी एक समय में एक साथ पृथिवी पर रह नहीं सकते।'

कितनी दुःखजनक बात है और इसी कारण इंग्लैंड में 'साधारणता' का ही आदर होता है और आदर्शवाद की हँसी उड़ाई जाती है। क्या

१—'स्वीट आर द यूसेज अव ऐड्व्हर्सिटी'—शेक्सपियर।

यह इस बात का परिणाम नहीं है कि महाकवि शेक्सपियर ने अपने व्यक्तित्व को बिल्कुल छिपाए रक्खा ? यूरोप हैमलेट के अध्ययन से यह नतीजा निकालता है कि आदर्शवाद निष्फल और दुःखांतक ही है। पर हैमलेट के वास्तविक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि शेक्सपियर का आशय संसार को इस बात की चेतावनी देना था कि पाशविक भौतिकतावाद आदर्शवाद को चकनाचूर भले ही कर दे, परंतु वह स्वयं भी मिटकर ही रहेगा। उसने आदर्शवाद के प्रति हमारे दया-भाव को उत्तेजित किया है और पाशविक भौतिकतावाद के ही प्रति घृणा उत्पन्न कराई है। कितना अच्छा होता यदि शेक्सपियर अपने नाटक-संबंधी आदर्शों के साथ, जिनमें कला प्रकृति का मुकुर बन जाती है, अपने व्यक्तित्व को तुलसीदासजी की तरह आलोचक एवं उपदेशक के रूप में हमारे सामने रखता जिसमें मनमाने निष्कर्ष निकालने की गुंजाइश न रहती। यह स्मरण रहे कि तुलसीदासजी ने भी प्रकृति का चित्र ज्यों का त्यों खींचा है और तब आलोचना की है। कुछ भी हो, पाश्चात्य सभ्यता को तो महाकवि शेक्सपियर की चेतावनी से सतर्क हो जाना चाहिए कि यदि वह आदर्शवाद के मिटाने पर तुली रहेगी तो स्वयं भी मिट जायगी।

कविवर मेसफील्ड के शब्द बता रहे हैं कि पाश्चात्य जगत् जीवन-प्रवाह को ठीक मार्ग पर ले आने का साधन केवल विनाश में ही देखता है जिसमें 'अधिक बुद्धिमान्' की भी दुर्गति है। उन्हें पता नहीं कि अहिंसात्मक साधन से भी काम चल सकता है। उपर्युक्त व्याख्या से पता लग चुका है कि राम और भरत ने अपने अहिंसात्मक साधनों से ही, जिनमें त्याग एवं तप मुख्य हैं, अयोध्या के जीवन-प्रवाह को सीधे रास्ते पर ला रक्खा था और दशरथ के सिवा, जिन्हें कविवर मेसफील्ड के शब्दों में 'अति आतुर' कहा जा सकता है, और किसी के मरने की नौबत न आई थी। हाँ, लंका में अवश्य पाशविक भौतिकतावाद का विनाश हुआ, पर वहाँ भी विभीषण-जैसे आदर्शवादी को बचा ही लिया गया था।

वे लोग जो शेक्सपियर के इस सिद्धांत के प्रशंसक हैं कि कला का अभिप्राय केवल प्रकृति का मुकुर होना है, कविवर के शब्दों में यह भूल जाते हैं कि जब हम किसी मुकुर में ध्यान से देखते हैं तो बहुधा हमें अपनी ही छाया दिखाई देती है। इसी कारण हैमलेट में चित्रित दुनिया के संबंध में कविवर लिखते हैं कि 'वह असली दुनिया नहीं है जो हमें ऐतिहासिक नाटकों में मिलती है। वह तो दुनिया का ऐसा प्रतिबिंब है जो कवि हमारे मस्तिष्कीय अनुभव के लिये सामने रखता है।' यह आलोचना बड़ी ही मार्मिक और यथार्थ है। कला के केवल मुकुर रूप होने की बात ही कहाँ रही? और जब यह ठीक है तो फिर हम संसार का अधिक भयावना चित्र क्यों अंकित करें? अतएव हमें तुलसीदासजी का यह सिद्धांत ही ठीक जँचता है कि ब्रह्मा ने संसार में भलाई और बुराई को दूध और पानी के सदृश मिश्रित रूप में ही रचा है। और जहाँ ब्रह्मा की सृष्टि में बक और काक हैं वहाँ भरत-जैसे हंस भी मौजूद हैं। जो नीर एवं क्षीर को पृथक् पृथक् कर देते हैं। हमारे सामने आशा रहती है, परंतु इस प्रकार कि हम सांसारिक कठिनाइयों को भूल न जायँ। तुलसीदासजी द्वारा चित्रित विश्व में आदर्शवादी जीवों के लिये कठिनाइयों के रूप में कसौटियाँ मौजूद हैं जिनकी जाँच-पड़ताल दैवी शक्तियाँ खूब ही करती हैं। परंतु जब कोई महान् आत्मा जाँच में खरा उतरता है तो सारी शक्तियाँ उसकी सहायक बन जाती हैं। किसी अँगरेज आलोचक ने ठीक ही कहा है कि हैमलेट के अध्ययन से हमारी यही धारणा होती है कि अमानुषिक शक्तियाँ जो भलाई या बुराई के बीज हममें बोती हैं, उनका उगना या न उगना हमारे आत्मारूपी सूर्य के प्रभाव पर ही निर्भर है। जब यह सिद्धांत ठीक है तो क्या यह स्पष्ट नहीं कि जहाँ एक ओर भरत पर दैवी शक्तियों की बुराई का असर ही न पड़ सका, वहाँ हैमलेट सांसारिक कठिनाइयों की ठोकरों से चकनाचूर होने के लिये ही रह गया? मानस में वे शक्तियाँ जो कैकेयी और मंथरा को प्रभावित कर सकीं, भरत

के सामने नितांत असमर्थ ही रहीं। वशिष्ठजी ने योगवाशिष्ठ में राजकुमारों को इस सिद्धांत का उपदेश दिया कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। उनके शिष्यवरों—राम और भरत—ने उसे चरितार्थ करके ही दिखा दिया।

डा० मिलर ने, जो भारत वर्ष में एक कालेज के प्रिंसपल रह चुके हैं, स्वयं पादरी होने के कारण और भारत के आध्यात्मिक वातावरण से प्रभावित होने के कारण, शेक्सपियर के नाटकों से तरह तरह के उद्देश्य निकालने की चेष्टा की है। उन्होंने भी लिखा है कि हैमलेट में कर्तव्य-परायणता का अभाव था। कर्तव्यपरायणता की व्याख्या मिलर महोदय ने बड़े मार्मिक शब्दों में की है। वे कहते हैं कि 'कर्तव्यपरायणता हमारी वह स्वाभाविक शक्ति है जो हमें न केवल सत्य का दार्शनिक एवं हार्दिक अनुभव कराती है, अपितु यथोचित कर्मों के निमित्त अंतर्प्रेरणा भी जागृत करती है।' हमारा मस्तक पवित्र गर्व से ऊँचा हो जाता है जब हम देखते हैं कि ये शब्द भरत पर अक्षरशः सत्य उतरते हैं और उनकी कर्तव्यपरायणता कड़ी से कड़ी कसौटियों पर भी खरी उतरती है। मिलर महोदय यह भी कहते हैं कि 'हैमलेट में मनुष्य की शक्तियों तथा हृदय की गतियों के आध्यात्मिक विवेचन के अतिरिक्त कर्तव्यपरायणता का अभाव कोई आश्चर्यजनक बात नहीं। और इसे सभी मानते हैं कि कर्तव्यपरायणता की शक्ति या ऐसी ही अन्य शक्तियों वा गतियों के लिये यह आवश्यक है कि आदर्श, सहानुभूति एवं संयम मौजूद हों। तभी उसमें ऐसी पर्याप्त शक्ति हो सकती है कि वह प्रकट हो सके या अपना कार्य कर सके।' यह ईश्वर की कृपा ही थी कि संसार में हमारे महाकवि तुलसी-दासजी को ही इस बात का पूर्ण गौरव मिला कि वह आदर्शवाद की आंतरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति का चित्रण कर सकें। राम का सर्वोत्तम उदाहरण मौजूद ही था, और अयोध्या का समूचा वातावरण भी तुलसीदासजी ने ऐसा बाँधा कि भरत की ओर कैकेयी

और मंथरा के सिवा सभी की सहानुभूति है। साहित्य-मर्मज्ञों को वाल्मीकि और तुलसी की रामायणों में तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि वाल्मीकि ने अपने तुलसीरूपी नवीन अवतार में अयोध्या के वातावरण का जो चित्रण किया है, उसमें माता कौशल्या आदि की सतर्कता और कटुता को भी स्थान नहीं दिया। अब संयम के लिये तो हम पहले से ही सभी राजकुमारों को उन गुरु वशिष्ठ के चरणों में बैठते हुए देख चुके हैं जो योगवाशिष्ठ के रचयिता हैं। आह! बेचारे हैमलेट के सामने कोई उदाहरण न था और सारा का सारा वातावरण दूपित ही था जिसे शेक्सपियर ने इस प्रकार चित्रित किया है कि 'डेन्मार्क की व्यवस्था में कुछ सड़न है'। हैमलेट की शिक्षा और दीक्षा में भी आदर्श-वाद के विकास के लिये काफी अवकाश नहीं दिखाई देता।

अवतरण कहाँ तक दिए जायँ, क्योंकि उनसे तो साहित्यभांडार ही भरा पड़ा है। पर एक अवतरण दिए बिना रहा नहीं जा सकता, जिसका प्रो० डन की आलोचनामें समावेश है। प्रोफेसर महोदय म्योर सेंट्रल कालिज (प्रयाग) के संचालक रह चुके हैं, अतः उनकी समालोचना नवीनतम कही जा सकती है। उनका कथन है—'जो धर्म हैमलेट के जिम्मे था और जिसका भार उसपर बहुत अधिक था वह अंततः पूरा हुआ। परंतु उसकी पूर्ति उन अनेक साधनों से नहीं हुई जो हैमलेट के चंचल एवं शिथिल मस्तिष्क में चक्कर लगा रहे थे और एक एक करके जिनका त्याग किया जा चुका था। बल्कि उसकी पूर्ति हुई उन क्रमिक एवं आकस्मिक घटनाओं से, जिन्हें साधारण लोग केवल संयोग समझते हैं, परंतु जिनमें विचारपूर्ण मस्तिष्क दैवीशक्ति का संचालन देखता है। समस्या की पूर्ति हो गई और दुष्ट को दंड मिल गया, परंतु आह, कितना सौजन्य व्यर्थ गया और निर्दोष सौजन्य को कितना दुःख मिला। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों हुआ? महाकवि शेक्सपियर इसका कोई उत्तर नहीं देता और महाकवि की राय में यही दुःखांत घटना का कारण है।

कवि हमारे सामने सौजन्य को सौजन्य के रूप में और बुराई को बुराई के रूप में रख देता है। फिर संसार में उनपर चाहे कुछ भी बीते। इसके अतिरक्त तो मौन-ही-मौन है'।

हम इस लेखमाला के आरंभ में ही यह दिखला चुके हैं कि वनवास की दुःखांत घटनाओं में संयोग का स्थान क्या है। हम यह भी बता चुके हैं कि तुलसीदासजी रहस्य के भाव को किस प्रकार बराबर बनाए रखते हैं, और इसलिये हमने उचित स्थान पर महाराज दशरथ के इन वाक्यों की विवेचना भी की है—

> और करै अपराध कोउ और पाव फलभोग।
> अति विचित्र भगवंत-गति कोउ नहिं जानन जोग॥

हमने यह भी देखा है कि काल के दो पाटों के बीच बुरे के साथ भला भी, गेहूँ के घुन की तरह, पिस गया। यहाँ तक तो महाकवि तुलसी और महाकवि शेक्सपियर के सिद्धांतों की समानता है। परंतु तुलसीदास की व्यवस्था में मनुष्य परिस्थितियों का संचालक होता है, न कि संयोग के हाथों का खिलौना। पर इसका यह आशय नहीं कि तुलसीदासजी कर्तव्यपरायणता या आदर्शवाद को फूलों की सेज बना देते हैं। कर्तव्य-मार्ग कठिनाइयों से भरपूर है और आदर्शवाद का मार्ग भी कंटकाकीर्ण। इसी से करुणरस बराबर आदि से अंत तक वर्तमान है। महाकवि तुलसीदासजी का सिद्धांत लगभग वही है जो कविवर टेनीसन के इन शब्दों से प्रकट है कि 'कर्तव्य-मार्ग कीर्ति की मंजिल पर पहुँचा देता है'। महाकवि शेक्सपियर की शैली में अंधकाराच्छन्न भाग्यवाद ही मिलता है जिसमें हिंसा और प्रतिहिंसा का साम्राज्य है। हमारे महाकवि की शैली बिलकुल भिन्न है। मंथरा स्वार्थपूर्ण भौतिकतावाद की दासी है जो उसकी निम्न श्रेणी को देखते हुए स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थूल भावनाओंवाली स्त्री के लिये कुछ शारीरिक ताड़ना उचित थी जो शत्रुघ्न के

हाथों से उसे मिल गई थी। परंतु भरत को दया आ ही गई और उन्होंने उसे छुड़ा दिया। कैकेयी राजमहिषी और माता थी अतः उसे भरत के कटु शब्दों के साथ साधारण अपकीर्ति के रूप में ही दंड मिला। जब भरत राज्य को स्वीकार नहीं करते और जब कैकेयी माता कौशल्या का प्रेम भरत के प्रति देखती है तो उसकी आँखें खुलने लगती हैं। पहले उसका पश्चात्ताप गौणरूप धारण करता है और वह भी सबके साथ वनयात्रा के लिए तैयार हो जाती है जिसका उद्देश्य राम को वापस लाना था। सुधार की यह प्रथम श्रेणी है। अब कैकेयी में वह हठ बाकी नहीं। पश्चात्ताप शनैः शनैः चित्रकूट पहुँचने पर बिलकुल स्पष्ट हो जाता है और इसीलिये तुलसीदासजी वहाँ पर लिखते हैं—

गरै गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहै केहि दूषन देई॥

महाकवि की व्यवस्था में इसी पश्चात्ताप के कारण कैकेयी की आत्मा शुद्ध हो जाती है। भरत के शब्द भले ही कठोर रहे हों, परंतु राम और कौशल्या ने कैकेयी के प्रति शील एवं स्नेह का ही व्यवहार किया। इसीलिये कैकेयी के सुधार में किसी प्रकार की भी शारीरिक ताड़ना की आवश्यकता नहीं हुई। हम उस व्यवस्था में सत्य और शील का ही राज्य पाते हैं और त्याग एवं वैराग्य की ही प्रधानता। जहाँ महाकवि शेक्सपियर मूक रह जाता है वहाँ महाकवि तुलसीदासजी संसार के रहस्योद्घाटन में हमें बहुत कुछ सहायता देते हैं। इसी कारण इस महाकवि का करुणरस रसरूप आस्वादन का विषय बना रहता है, वह घोर एवं रौद्ररूप धारण नहीं करता, जैसा हैमलेट में मिलता है। इसीलिये अयोध्याकांड के अंत में आशा की झलक मौजूद है और हैमलेट के अंत में विनाश का रक्ताक्त दृश्य !

तुलसीदासजी का भरत-चरित्र-विषयक अंतिम निर्णय यों है—

सिय-राम-प्रेम-पियूष-पूरन होत जनम न भरत को।
मुनि-मन-अगम यम नियम सम-दम विषम व्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषण सुजस मिसु अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठहिं हठि राम-सनमुख करत को॥

व्याख्या कितनी व्यापक एवं संक्षिप्त है। इसी से तो मैं अनुभव करता हूँ कि मेरी आलोचना इतनी विस्तृत होती हुई भी कम है। मैंने विशेषतः साहित्यिक अंग पर ही विचार किया है और कहीं-कहीं नैतिक दृष्टिकोण को भी सामने रक्खा है। परंतु भरतजी के नाम-करण के समय गुरु वशिष्ठ ने उनको 'विश्व-भरण-पोषण' करनेवाला भगवान् का अवतार कहा है, जिससे स्पष्ट है कि अभी उनके चरित्र का एक बहुत बड़ा अंश शेष है। वह अंश आध्यात्मिक है और इस लेखमाला के उद्देश्य से बाहर। वस्तुतः भरतजी दिशा-सूचक यंत्र की सुई के समान हैं जिनका लक्ष्य हमें रामरूपी ध्रुव के सम्मुख करना है। तुलसीदासजी की व्यवस्था में रामजी 'सकल लोक दायक विश्राम' हैं जहाँ शांति का वह भांडार है जिसमें जाकर मन एवं भावों की चंचलता विलीन हो जाती है। उसी भांडार में भरत को भी शांति मिली थी।

लेखमाला के इस अंश को समाप्त करने के पूर्व मुझे पाठकों से दो शब्द और कहना है। मैंने तुलनात्मक व्याख्या अवश्य की है और महाकवि तुलसीदास को शेक्शपियर से बढ़ाचढ़ा दिखाया है। परंतु मेरा यह आशय न कभी रहा और न है कि शेक्सपियर की महानता को पाठकगण भूल जायँ। मुझे हैमलेट के पढ़ने का सौभाग्य पहले पहल सन् १९१४ ई० में मिला था जब मैं उसे निजी रीति पर एक बी० ए० के छात्र को पढ़ा रहा था। उस समय उसका जो प्रभाव मेरे हृदय पर पड़ा था वह अकथनीय है। सच तो यह है कि हैमलेट के अध्ययन ने ही मुझे अयोध्याकांड के अध्ययन की ओर प्रेरित किया और मेरा ध्यान भरत के

चरित्र की ओर गया। इसके पहले भी शेक्सपियर-कृत 'ओथेलो' के अध्य-यन से ही मुझे मंथरा और कैकेयी के चरित्र-संघर्षण के समझने में सहा-यता मिली थी और तत्पश्चात् 'मैकबेथ' तथा 'किंग लियर' के पढ़ने पर ही कैकेयी तथा दशरथ के चरित्रों को मैं समझ सका था। रामचरितमानस के बाद मैंने किसी साहित्यिक पुस्तक का अध्ययन इतनी बार नहीं किया जितनी बार 'हैमलेट' का। और आज भी जब उसे पुनः उठाकर पढ़ता हूँ तो कुछ न कुछ नई सामग्री ही मिलती है। यदि पाठकगण तुलना का पूर्ण आनंद उठाना चाहें तो अयोध्याकांड के साथ उपर्युक्त चारों दुःखांत नाटकों का या कम से कम 'हैमलेट' का अध्ययन अवश्य करें—चाहे वह अनुवाद रूप में ही हो।

व्याख्या इतनी सूक्ष्म और तुलना इतनी गहन थी कि मैं त्रुटियों के होने की संभावना का स्वयं अनुभव करता हूँ और तदर्थ क्षमा-प्रार्थी हूँ।

४—कविवर शेक्सपियर कृत 'ओथेलो' तथा रामचरित-मानस का अयोध्याकांड

क—केंद्रीय सिद्धांतों की तुलना

क्या हमारे लिये यह गौरव की बात नहीं है कि हमारी मातृभाषा के महाकवि तुलसीदासजी ने इस एक ही कांड में वे सारी बातें भर दीं जिनके लिये कविवर शेक्सपियर को चार दुःखांत नाटकों—हैमलेट, ओथेलो, मैकवेथ और किंग लियर—की रचना करनी पड़ी ? इसके अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में ऐसी और भी आधिदैविक एवं आध्यात्मिक विशेषताएँ हैं जिनका शेक्सपियर में कहीं पता नहीं। इसीलिये तो जब हम रामचरितमानस को नाटकीय महाकाव्य की दृष्टिकोण से पढ़ते हैं तो हमें इस अनुभव से बड़ा आनंद आता है कि मानस के चरित्र अयोध्याकांड की करुण परिस्थितियों की आँच से किस प्रकार तपकर चमक उठते हैं। और तभी तो वैसे चरित्र नाटकीय महाकाव्य की पूर्णता का हेतु बनते हैं। परंतु शेक्सपियर के दुःखांत नाटकों के चरित्रों का पतन हमारी निराशा का कारण होता है। यदि कभी कभी हमारी भौतिकवाद से धुँधली दृष्टि उन नाटकों के पढ़ते समय कुछ ऊपर उठती है तो केवल यहीं तक कि विश्व में कोई दैवी शक्ति ऐसी है जो हमारे बिगड़े कार्यों का परिणाम भी उत्तम बना देती है। परंतु हमें यह निश्चय नहीं होता कि उस शक्ति का अस्तित्व कैसा है। हाँ, कर्म और कर्मफल के सिद्धांत को शेक्सपियर ने भी अच्छा निभाया है, यद्यपि बहुधा गेहूँ के साथ घुन भी पिसता हुआ दिखाई देता है।

इस अंतर का कारण तो हमें शेक्सपियर का यह संकुचित सिद्धांत ही ज्ञात होता है कि नाटककार का काम केवल संसार के समक्ष दर्पण रखना है। चित्र सच्चे अवश्य हैं और कहीं कहीं तो भावों का स्पष्टीकरण कविता की उच्च से उच्च श्रेणी तक पहुँच गया है, परंतु उनसे न तो संसार की गुत्थियाँ सुलझती हैं और न 'विश्व-भव-भय' का हरण होता है, अपितु उलटे निराशा ही हमें चारों ओर से घेर लेती है। करुणरस से हमारी आत्मा ओत-प्रोत हो जाती है और इस प्रकार हकीम अरस्तू के सिद्धांत का एक अंश पूरा हो जाता है। परंतु उसी सिद्धांत के दूसरे अंश, अर्थात् आत्मशुद्धिकरण के निमित्त अधिक सहायता नहीं मिलती। पाश्चात्य नाटककारों की रचनाओं में कोरस (गायक संघ) का एक विशेष स्थान था जो अपनी संगीतात्मक आलोचना से घटनाओं और पात्रों पर विशेष प्रकाश डाल देता था, किंतु शेक्सपियर के नाटकों में स्वयं कवि भी हमारे सामने नहीं आता। हम कई बार बता चुके हैं कि तुलसीदास की रचना में कवि हमारे और रंगमंच के बीच में रहकर कोरस का का काम करता है। आधिदैविक एवं आध्यात्मिक गुत्थियों को सुलझाने के लिये शिव-पार्वती, काकभुशुंडि-गरुड़ तथा याज्ञवल्क्य-भरद्वाज यथा-समय रंगमंच के क्षितिज पर मानो किसी दिव्य लोक से क्षण भर के लिये आकर और अंधकाराच्छन्न मार्ग को आलोकित कर पुनः अंतर्धान हो जाते हैं। तुलसी की कला का यह अंश इतना सुंदर है कि जगत् में इसका जवाब नहीं।

हमने हैमलेट और भरत की बड़ी विस्तृत तुलना कर दी है जिसमें बहुत सी बातें स्पष्ट हो गई हैं, अतः अब उतनी विस्तृत व्याख्या न की जायगी। पर इतना कह देना आवश्यक है कि मुझे पहले पहल तुलसीदास की नाटक-कला के वैशिष्ट्य का अनुभव 'ओथेलो' और 'वनवास' की तुलना से ही हुआ था। कारण, जब मैं बी० ए० में पढ़ता था तो 'ओथेलो' मेरे कोर्स में था और रामचरितमानस तो दैनिक पाठ की

पुस्तक थी ही। मैंने अपने बोध के लिये अपने मस्तिष्क में इतनी विस्तृत तुलना की थी कि यदि सबको लेखबद्ध किया जाय तो एक पूरी पुस्तक बन जाय। उसके बाद भी कितनी ही बार 'ओथेलो' को पढ़ा है जिससे शेक्सपियर का आदर घटा नहीं, परंतु महाकवि तुलसीदास का आदर तो इतना बढ़ गया है कि उन्हें संसार का सर्वश्रेष्ठ कवि कहने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं होता।

तुलना के लिये यह आवश्यक है कि जो पाठक कविवर शेक्सपियर की रचना से अपरिचित हैं उनके सुविधार्थ कहानी को संक्षेप में लिख दिया जाय। 'ओथेलो' अफ्रिका के एक राज-कुल में उत्पन्न हुआ था और योरप के वेनिस राज्य की सेना में नौकर था। वह अपनी वीरता और परिश्रम से सेनानायक के पद पर पहुँच गया जिससे उसका बड़ा आदर-सत्कार होने लगा। यागो एक ईर्ष्यालु सेना-नायक था जिसे एक ओर तो यह संदेह था कि उसकी पत्नी और ओथेलो में कुछ अनुचित संबंध है और दूसरी ओर वह इस बात से कुढ़ा हुआ था कि केसियो नामक सेनानायक की पदोन्नति हो गई और वह रह गया। यागो इतना चतुर और बना हुआ मनुष्य था कि सब उसे भला आदमी समझते थे, यहाँ तक कि ओथेलो उसे 'ईमानदार यागो' कहा करता था। डेस्डिमोना वेनिस की राजसभा के एक बड़े प्रतिष्ठित सदस्य की कन्या थी। जब ओथेलो अपने जीवन की असाधारण घटनाओं का वृत्तांत कहता तो वह बड़े ध्यान से सुना करती और कभी कभी एकांत में उन वीर गाथाओं के संबंध में प्रश्न भी किया करती थी। परिणाम यह हुआ कि उस सुंदर योरपीय बालिका और उस असुंदर किंतु वीर सेनापति में प्रेम हो गया। बालिका अपने पिता की आज्ञा बिना ही छिपकर भाग आई और अपना विवाह ओथेलो से कर लिया। प्रेम और विवाह की घटनाओं में केसियो ओथेलो का सहायक था। अंततः ओथेलो एक टापू का शासक बनाकर भेज दिया गया जहाँ डेस्डिमोना भी जा पहुँची। राड-

रिगो एक मूर्ख धनी था जो डेस्डिमोना की सुंदरता पर आसक्त था। यागो ने अवसर पाकर तरह तरह के बहानों से उससे खूब धन लूटा; बहुत से रत्न-आभूषण यह कहकर ले लिए कि वे डेस्डिमोना को भेंट किए जायँगे और उससे अनुचित संबंध कराकर पीछे से विवाह करा दिया जायगा। केसियो निश्छल मनुष्य था पर थोड़ी भी शराब पी लेने पर वह आपे से बाहर हो जाता था। यागो ने उसे एक दिन थोड़ी शराब पिला दी, फलतः उसने ऐसा उपद्रव किया कि सारे टापू में हलचल मच गई। ओथेलो ने क्रोध में आकर उसे पदच्युत कर दिया। यागो को और भी मौका मिला। उसने अपना षड्यंत्र इस प्रकार रचा कि एक ओर तो केसियो को उभारा कि वह फिर नौकरी पाने के लिये डेस्डिमोना की बार बार खुशामद करे और दूसरी ओर ओथेलो को समझाया कि डेस्डिमोना तुम्हारी कुरूपता तथा विजातीयता के कारण अब तुमसे प्रेम नहीं करती, अपितु उसका अनुचित संबंध अपने स्वजातीय केसियो से है। एक समय जब केसियो यागो की प्रेरणा से डेस्डिमोना के पास जाकर उसकी खुशामद कर रहा था तो यागो ने ओथेलो को लाकर वहाँ खड़ा कर दिया और बड़ी शंका से कहा कि यह मुझे पसंद नहीं। ओथेलो का संदेह बढ़ चला। दूसरी ओर यागो ने अपनी पत्नी द्वारा उस रूमाल को चुरा मँगाया जिसे ओथेलो ने डेस्डिमोना को प्रेमोपहार के रूप में दिया था और फिर उस रूमाल को चतुरता से केसियो द्वारा उसकी प्रेमिका तक पहुँचा दिया और फिर ओथेलो को यह समझाया कि रूमाल को डेस्डिमोना ने केसियो को भेंट किया है। ऐसी और भी कितनी ही शंकाजनक कार्यवाहियाँ यागो ने कीं जिनका अंतिम परिणाम यह हुआ कि ओथेलो के बदन में आग लग गई और अंत में उसने क्रोधांध होकर डेस्डिमोना को गला घोटकर मार डाला। यागो की पत्नी को डेस्डिमोना से बड़ा प्रेम था, अतः उसने मृत्युघटना से प्रभावित होकर यागो की सब कलई खोल दी। ओथेलो ने पश्चात्ताप में आत्मघात कर

लिया परंतु यागो की राक्षसी प्रकृति को प्रगट करते हुए कहा कि इसमें और शैतान में केवल इतना अंतर है कि शैतान के खुर फटे होने से उसे सब जान जाते हैं, परंतु इसके पैर फटे न होने से वह छिपे रूप में शैतान से ज्यादा खतरनाक है।

भारतवर्ष के नैतिक वातावरण से प्रभावित पादरी डा० मिलर ने आलोचना करते समय यह लिखा है कि भारतवर्ष में प्रत्येक व्यक्ति अपने उच्च नैतिक आदर्श के कारण यह जानता है कि माता-पिता की आज्ञा बिना केवल रक्तावेग वश होनेवाले स्वच्छंद विवाहों का परिणाम क्या हो गया है। मैं भी जब जब इस नटाक को पढ़ता हूँ तो 'नसीम' का वह पद याद आता है—

उलफत है बराबरी में जेबा
निस्बत है बिरादरी में जेबा

अर्थात् प्रेम बराबरी में और विवाह बिरादरी में ही उचित है। इसलिये स्वामी दयानंद जैसे सुधारक ने भी सवर्ण विवाह को ही सर्वश्रेष्ठ कहा है। परंतु आज पाश्चात्य देशों की भौतिक सभ्यता की चकाचौंध में पड़े हुए हमारे देशवासियों में सिविल (कानूनी) विवाह का रोग बढ़ता जाता है। इस बात का प्रस्तुत प्रसंग से विशेष संबंध नहीं है, अतः इतना कह देना ही अलम् है।

प्रस्तुत लेखमाला के प्रारंभ में ही यह बतला दिया गया है कि बर्नार्ड-शा महोदय के विचारानुसार सबसे बड़ी दुःखांत घटना (ट्रैजेडी) यह है कि हम जान-बूझकर बुराई करते हुए अपने आत्मा को पतित करें, और सबसे बड़ी सुःखांत घटना (कमेडी) यह है कि हम जान-बूझकर किसी महान आदर्श की पूर्ति में अपना सहयोग दें। हमने वहीं शेक्स-पियर के सिद्धांतों को भी विस्तार से दिखलाते हुए दोनों का अंतर स्पष्ट कर दिया है। अस्तु, यदि हम एक बीच की धारणा भी लें तो हम केवल

भगवान राम को ही दुःखांत घटना संबंधी चरित्र नहीं कह सकते, अन्यथा इस सूची में और सभी आ जाते हैं—कोई कम और कोई ज्यादा, क्योंकि राम 'सुर-रंजन भंजन महि-भारा' की लीला कर रहे थे, शेष सभी कुछ न कुछ कर्म के चक्कर में थे। महाकवि तुलसीदास ने भगवद्विमुख पात्रों के प्रति घृणा की अपेक्षा करुणा उत्पन्न करने में जैसी सफलता प्राप्त की है वैसी सफलता शेक्सपियर को नहीं मिली। तुलसीदास ने मंथरा और कैकेयी तक को हमारी घृणा की पराकाष्ठा से बचा लिया है, क्योंकि मंथरा की मति सरस्वती ने फेर दी है और कैकेयी मंथरा के चंगुल में है। ब्रैडले महोदय को भी 'ओथेलो' की आलोचना करते हुए यह कहना पड़ा कि 'होनहार ने बुराई का साथ दिया है···हमें अंधकार में कोई मार्ग नहीं दिखाई देता···कोई पथ-प्रदर्शक शक्ति प्रतीत नहीं होती···कविवर शेक्सपियर ने यह नाटक लिखते समय अपने व्यक्तित्व के उस उच्च स्व-भाव को दबाया है जिसके द्वारा उसका संबंध संसार के महान रहस्यवादी कवियों एवं गायकों से हो सकता था।' यह आलोचना कितनी खेद-जनक है कि ऐसे उच्च कोटि के कवि को पाश्चात्य साहित्य के दुःखांत नाटक के संकुचित सिद्धांतों के कारण अपने आदर्श से नीचे उतरना पड़ा। तुलसीदासजी के सिद्धांत के अनुसार कवि हमारा पथ प्रदर्शक बनकर साथ-साथ रहता है और आध्यात्मिक एवं आधिदैविक रहस्यों का स्पष्टीकरण भी ऊपर लिखे अनुसार बराबर होता जाता है। बाह्य रूप से सरस्वती की शक्ति अयोध्या की बरबादी और दशरथ की मृत्यु का कारण बनती है, परंतु सरस्वती और देवताओं की वार्ता के दृश्य में तुलसीदास ने इस भ्रम को दूर कर दिया और सरस्वती तथा देवताओं का उद्देश्य साफ साफ बता दिया। महाकवि तुलसीदास ने संसार का झूठा चित्र नहीं खींचा। देखिए न, अयोध्या में कितना भयानक अंधकार है।

घोर जंतु इव पुर नर नारी, डरपहिं एकहिं एक निहारी।

क्योंकि कैकेयी के षड्यंत्र के कारण विश्वास का प्रकाश जाता रहा। रहस्यमयता भी पूरी तरह मौजूद है। दशरथजी भी कहते हैं--

> और करै अपराध कोउ, और पाव फल-भोग।
> अति बिचित्र भगवंत-गति, नहिं कछु जानन योग ॥

क्योंकि, उन्हें दोष तो अपना ही दीखता है, परंतु उसके फल के भोगी राम जान पड़ते हैं। आह, वे भूल रहे हैं कि राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं जो कमलपत्र की भाँति विषयों से अलिप्त हैं, यद्यपि यही बात शब्दरूप में दशरथ के मुख में है। यहाँ तक तो तुलसीदास और शेक्सपियर की शैलियों में कुछ कुछ मेल है, परंतु तुलसीदासजी रहस्यों को खोलकर धीरे धीरे हमें आधिदैविकता और आध्यात्मिकता के उस शिखर पर पहुँचा देते हैं जहाँ संसार के बड़े से बड़े रहस्यवादी कवि भी पहुँचा देने में बहुधा असफल ही रहे। देखिए, लक्ष्मण और निषाद की वार्ता में एक ओर राम के परब्रह्म होने का संकेत है तो दूसरी ओर हम उस नैतिक सिद्धांत तक पहुँच जाते हैं जिसका स्पष्टीकरण करते हुए लक्ष्मण ने कहा है—

> को काहू को दुख सुख दाता। निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता ॥

यह कथन कर्म और फल के सिद्धांत का द्योतक है। तुलसीदास की रचना में यदि मंथरा जैसी मंदमति चेरी को शारीरिक दंड मिला तो कैकेयी सी रानी को कलंक एवं वैधव्य इत्यादि। परंतु ऋषियों के आश्रम में पहुँचकर रहस्य खुल गया। ऋषि कहते हैं कि कैकेयी का दोष नहीं अपितु 'गई गिरा मति छूटि'। रामजी के विषय में उनकी लीला की प्रशंसा करते हुए ऋषि कहते हैं कि 'जस काछिए तस चाहिए नाचा'। कला की पराकाष्ठा यह है कि ये रहस्य अयोध्या में नहीं खोले गए अन्यथा करुण रस भंग हो जाता। हकीम अरस्तू के कथनानुसार तुलसीदासजी ने करुणरस की आँच से तपाकर पात्रों को पूर्ण रूप से निखार दिया है।

मंथरा के सुधार के लिये घूसे की चोट पर्याप्त थी। कैकेयी का सुधार भरत के कटु वाक्यों की ताड़ना से आरंभ हुआ, और चित्रकूट तक लोगों की खरी-खोटी बातों के द्वारा जारी रहा। जनक का आगमन सुनकर कैकेयी का आत्मा उसकी 'गरइ गलानि' से शुद्ध हो गया। तभी तो भगवान् राम ने अपने प्रेम से उसके 'सकुच सोच सब मेट' उसे अयोध्या वापस किया। कौशिल्या, लक्ष्मण एवं सीता के चरित्रों का विकास तो सब जानते ही हैं। सारे अयोध्यावासी भी नेमी और व्रती बन गए थे। कला की एक कोमलता विचारणीय है। अध्यात्म रामायण में कैकेयी और राम की चित्रकूटवाली वार्ता स्पष्ट रूप से दी हुई है। कैकेयी ने कहा है 'हे भगवन्! आप ही की प्रेरणा से मैंने सब कुछ किया, पर संसार मुझे दोषी कहता है'; और राम ने भी साफ कह दिया है कि 'तू निर्दोष है, जा और मेरा भजन कर।' तुलसीदासजी ने 'सकुच सोच सब मेट' में संकेत अवश्य दिया है पर वार्ता को स्पष्ट नहीं किया। कारण, ऐसा करने से नाटक-कला में दोष आ जाता और रहस्य के अधिक स्पष्टीकरण से घटनाओं की रहस्यमयता चली जाती। ऋषि के आश्रम में भी रहस्य का उल्लेख संकेत रूप में ही हुआ, जिसमें एक ओर तो करुणरस में कमी न हो और दूसरी ओर आध्यात्मिकताप्रिय दृष्टि को रहस्य का पता लग जाय। क्या यह गौरव की बात नहीं कि हमारे महाकवि को अपने उच्च भाव दबाने नहीं पड़े? उसने संसार का सच्चा चित्र अंकित कर दिया है और साथ ही साथ आध्यात्मिकता तथा आधिदैविकता के सुंदर राग भी हमें सुना दिए हैं।

अब तनिक विस्तार से उस आधिदैविक दृश्य को देखिए जिसके द्वारा हमारे और दैवी शक्तियों के बीच संबंध बताया गया है। एक जगह कवि लिखता है—

सकल कहहिं कब होइहि काली। बिघ्न मनावहिं देव कुचाली॥

सारे अयोध्यवासियों के हृदय में राजतिलक देखने की उत्कंठा है, परंतु देवताओं का षड्यंत्र और ही कुछ करना चाहता है। कला नाटकीय है, इस कारण आनंद में करुणा एवं शोक उत्पन्न करनेवाले देवताओं को तुलसीदासजी ने खूब खरी-खोटी सुनाई है। कही उन्हें स्वार्थी कहा है तो कहीं कुचाली। एक जगह तो इंद्र की उपमा कुत्ते से दी है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि तुलसीदास जी अपने को रंगमंच और द्रष्टाओं के बीच में रखते हैं और घटनाओं तथा वक्तृताओं पर आलोचना करते चलते हैं, परंतु द्रष्टाओं की मनोभावना से इतना आगे कहीं निकल जाते कि रंग में भंग हो जाय। इसी कारण उनकी आधिदैविक एवं आध्यात्मिक आलोचनाएँ बहुधा संकेत रूप में ही हैं। देखिए न, हम सबकी भावनाएँ राम और दशरथ की सहानुभूति में लगी हैं, अतः कवि भी देवताओं को कुचाली कह देता है। आगे कवि लिखता है—

> तिनहिं सुहात न अवध बधावा। चोरहिं चाँदनि रात न भावा॥
> सारद बोलि बिनय सुर करहीं। बारहिं बार पाँय लै परहीं॥

इस स्वार्थपूर्ण विनय को देखिए। पर सच पूछिए तो देवताओं की दशा राक्षसों के हाथों इतनी बुरी हो चुकी थी कि सहृदय पाठक को उनके साथ भी कुछ-न-कुछ सहानुभूति रहती है। परंतु अभी करुण रस की नाटकीय कला है इस कारण 'चोर' का विशेषण उनके निमित्त बुरा नहीं लगता। देवता कहते हैं—

> बिपति हमारि बिलोकि बड़ि, मातु करिय सोइ आज।
> राम जाहिं बन राज तजि, होइ सकल सुर-काज॥

आग्रह कितना प्रबल है और साथ ही सरस्वतीजी की समस्या कितनी कठिन। एक ओर अयोध्या के रस-भंग का कलंक, तो दूसरी ओर सुर-काज करने का यश। सरस्वतीजी सोचती हैं—

सुनि सुर-बिनय ठाढ़ि पछताती। भइउँ सरोज बिपिन हिम राती॥

इस परेशानी में वह कुछ उत्तर नहीं देतीं; देवताओं को भय होता है कि कहीं अनुरोध अस्वीकृत न हो जाय। वे कहते हैं—

........................। मातु तोहिं नहिं थोरिहु खोर॥
बिस्मय हर्ष रहित रघुराऊ। तुम जानहु सब राम प्रभाऊ॥

सच है, राम उन महापुरुषों में हैं जिनपर सुख-दुःख का प्रभाव नहीं पड़ता। अंतिम चरण में राम के स्वयं देव-काज करने की इच्छा संकेत रूप में कितने सुंदर ढंग से व्यक्त की गई है। कला के सौंदर्य की रक्षा इसी में है कि यहाँ यह व्यक्तीकरण संकेत रूप में ही हुआ है, अन्यथा करुणरस में विघ्न पड़ जाता। अब रही अन्य व्यक्तियों की बात जो जीव-कोटि में हैं। उनके संबंध में देवताओं का कथन है—

जीव कर्म बस दुख सुख भागी। जाइय अवध देवहित लागी॥

योगिराज श्री अरविंद घोष ने अपनी 'माता' नामक पुस्तक में देवि-शक्ति का बड़ा ही सुंदर दार्शनिक विवेचन किया है। उन्होंने बताया है कि अध्यात्मवाद में सरस्वती उस शक्ति का नाम है जो हमारे भावों को स्पष्ट करती और उन्हें वाकशक्ति प्रदान करती है। आशय यह है कि सरस्वती-शक्ति का प्रभाव वहीं पड़ता है जहाँ गुप्त रूप में कोई भाव मौजूद हो। वह शक्ति हमारी त्रुटियों को एक अच्छे चिकित्सक की तरह तनिक उभार देती है, जिसमें दुःख के नश्तर से बुराई के उभरे हुए फोड़े का मवाद आसानी से निकाला जा सके। उस शक्ति ने अयोध्या-कांड में भी यही किया है। परंतु जहाँ कोई ऐब ही न हो वहाँ उभारा क्या जाय? इसीलिये जब वही देवता भरत की मति फेरने का प्रश्न सरस्वतीजी के समीप रखते हैं तो वह साफ जवाब देती हैं कि जहाँ भानु का प्रकाश है वहाँ अंधकार का प्रवेश कहाँ? परंतु याद रखिए कि

तुलसी की दुःखांत-नाटक-शैली में बुराई या तो होमियोपैथिक दवा के रूप में है, जैसा मैं पहले बता चुका हूँ, या पुल्टिस के रूप में, जैसा ऊपर की उपमा से प्रगट है। दोनों का उद्देश शरीर का संशोधन ही है, न कि उसका नाश। उधर कविवर शेक्सपियर की शैली में करुणरस का घूँट इतना कड़ा है कि घोर नैराश्य में हमारे आत्मा का पतन हो जाता है। अयोध्या में सब आत्माओं का शुद्धीकरण होता है परंतु शेक्सपियर के अनेक पात्रों की आत्माएँ मर मिटती हैं। करुणरस का यह प्रयोग इतना सुंदर है कि संसार-साहित्य में इसका जोड़ नहीं। अब कवि लिखता है—

बार-बार गहि चरण सकोची। चली विचार बिबुध मति पोची॥

आह, देवताओं के बार-बार चरण पकड़ने से संकोच में पड़कर सरस्वतीजी चल तो देती हैं, परंतु करुणाजनक परिणामों को विचारते हुए देवताओं की मति को पोची ही कहती हैं जिसे और भी स्पष्ट करते हुए कवि ने कहा है—

ऊँच निवास नीच करतूती, देखि न सकहिं पराइ विभूती।

आगे कवि ने सरस्वती के विचारों का स्पष्टीकरण किया है। वह सोचती हैं कि राम के वनवास का अंतिम परिणाम 'होइ सकल सुरकाज' ही है, और इसीलिये वह कहती हैं कि इस अंतिम परिणाम की दृष्टि से कुशल कवि उनकी सराहना ही करेंगे। बर्नार्ड शा के विचारानुसार मानो वह सुखांत नाटकों की चरित नायिका हो जाती हैं। कवि लिखता है—'हर्ष हृदय दशरथ पुर आई'। परंतु तुलसीदासजी करुणरस को भंग नहीं करना चाहते, अतः दूसरे ही चरण में कहते हैं—'जनु ग्रह दशा दुसह दुखदाई'। किस सुंदरता से नाटक और महाकाव्य की कलाओं का मेल हो गया, यह विचारणीय है। मंथरा मंदमति चेरी थी ही,

इसीलिये उसी के द्वारा सरस्वती-शक्ति का प्रयोग हुआ। कला की दृष्टि से इस छोटे से दृश्य की बड़ी महिमा है। आध्यात्मिक एवं आधिदैविक रहस्यों का हमारे लिये उद्घाटन हो गया, पर अयोध्यावासी दुःखसागर में डूब गए। दृश्य इतना छोटा है कि थोड़े ही समय बाद हम भी उसे भूल जाते हैं और कवि भी चाहता है कि हम उसे भूल जायँ। इसीलिये तो अयोध्यावासियों के साथ हम भी मंथरा और कैकेयी को गालियाँ देने लगते हैं। राम और ऋषियों के सिवा और कोई भी गालियाँ देने में संकोच नहीं करता। इन आधिदैविक दृश्यों के प्रयोग का कुछ अनुकरण शा महोदय ने किया है, पर उनसे भी वह उतना सुंदर नहीं बन पड़ा।

ख—बुराई की समस्या

हम कविवर शेक्सपियर के साथ तुलना करते चले आ रहे हैं। उसके सभी आलोचकों ने कविवर के दुःखांत नाटकों की बुराई की समस्या पर विस्तृत विचार किया है। इससे हम भी तुलसी के साथ तुलना करते हुए उस समस्या पर विचार करेंगे। परंतु जैसे शेक्सपियर के आलोचक विचार करते समय कुछ-न-कुछ साहित्यिक आलोचना की सीमा से बाहर हो गए हैं वैसाही हमें भी करना पड़ेगा जो केवल अयोध्याकांड तक ही परिमित न रहेगा।

स्व० ठाकुर महोदय का कहना है कि बुराई केवल अपूर्णता का नाम है और सृष्टि की रचना ही अपूर्ण है। सच है, सीधी लकीर एक ही होती है पर टेढ़ी लकीरों की कोई गणना नहीं हो सकती। टेढ़ेपन का ही नाम बुराई है। यह केंद्रीय अंतर हमारे और दूसरे धर्मों में विचारणीय है। वहाँ बुराई शैतान के रूप में नित्य मानी गई है, मानो उनका सिद्धांत यह है कि बुराई और भलाई दो समानांतर रेखाओं के समान हैं जो मिल नहीं सकतीं। वे भूल जाते हैं कि असीम सत्ता में सभी द्वंद्व लीन हो सकते हैं,

नहीं तो असीमता ही नहीं। इसी असीम शांतिमय सत्ता का नाम परमात्मा राम[1] है। रावण रूप में बुराई अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गई है, परंतु उसकी मृत्यु पर उसका तात्विक तेज राम ही में लीन हो गया।

इस अंतर का परिणाम साहित्य पर भी पड़ा है। एक ओर संस्कृत साहित्य में दुःखपूर्ण नाटक तो हैं परंतु दुःखांत नाटक नहीं। बीच में चाहे जितनी भी करुण घटनाएँ हों और बुराई भलाई में चाहे जितना भी संघर्ष हो, पर अंततः किसी-न-किसी रूप में भलाई का आनंद आ ही जाता है। दूसरी ओर दुःखांत नाटक अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। मेरा अपना विचार तो यह है कि इन्हीं दुःखांत नाटकों तथा उपन्यासों के प्रभाव से पाश्चात्य जगत् में नैराश्य का राज्य है और आत्मघात जैसे अपराधों में वृद्धि होती जा रही है। हाँ, मुँह से वह भले ही अपने को आशावादी कहता रहे।

ब्रैडले महोदय बड़े गर्व के साथ लिखते हैं कि कविवर शेक्सपियर ने बुराई का जैसा पूर्ण चित्र यागो द्वारा खींचा है वैसा संसार-साहित्य में नहीं। बात भी ठीक है। महाकवि मिल्टन ने भी शैतान के चित्रण में उसके आत्मा का इतना पतन नहीं दिखाया जितना यागो में दिखाई पड़ता है। मिल्टन लिखता है कि शैतान का सारा तेज जाता नहीं रहा, प्रत्युत धुँधला पड़ गया है। उसमें अपने साथियों के साथ मैत्री:निर्वाह और दुखियों पर दया बाकी है, और उसे अब भी भलाई का रूप सुंदर ही दिखाई देता है। परंतु यागो में वैसी कोई बात नहीं। उसने सभी को धोखा दिया, यहाँ तक कि स्वपत्नी को भी नहीं छोड़ा, मानों विश्वासघात उसकी घुट्टी में ही पड़ा था। उसकी बहुत सी बुराइयों का कोई विशेष कारण भी हमें नहीं मिलता। इसीलिये कोलरिज का कथन है कि उस (यागो) की दुष्टता प्रेरणारहित थी, फिर भी वह प्रेरणा की खोज में था, हैजलिट और स्विनबर्न जैसे आलोचकों ने इस मत से कुछ

१—अखिल विश्व दायक विश्रामा।

भिन्न मत प्रगट किया है, पर मैं जितनी बार 'ओथेलो' पढ़ता हूँ उतनी बार कोलरिज का मत ही ठीक जान पड़ता है। जब मिल्टन का शैतान ही तुलना में न ठहरा तो रावण क्या ठहरेगा? जब शूर्पणखा की नाक कटने और खरदूषण-वध का समाचार रावण को मिलता है तो वह एकांत में सोचता है कि मेरी देह तामसी है, अतः उसे छोड़े बिना मेरा उद्धार न हो सकेगा। अगर राम राजा हैं तो विजय पाऊँगा और यदि वह भगवान् हैं तो उन्हीं के हाथों इस तामसी देह को मिटाकर बंधनमुक्त हो जाऊँगा। यह अगर-मगर ही राक्षस-वृत्ति का द्योतक है, परंतु उसके आत्मा का इतना पतन तो नहीं हुआ था कि उसे बुराई ही भलाई दिखाई पड़े, जैसा मैकबेथ के बारे में कहा जाता है। तुलसीदासजी ने रावण के विचारों का कितना सुंदर चित्र खींचा है——

खरदूषण मोहिं सम बलवंता। तिनहि को मारै बिनु भगवंता॥
सुर-रंजन भंजन महि-भारा। जो जगदीस लीन्ह अवतारा॥
तो मैं जाइ बैर हठि करिहौं। प्रभु सर प्राण तजे भव तरिहौं॥
होइ भजन नहिं तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥
जो नर रूप भूप सुत कोऊ। हरिहौं नारि जीत रण दोऊ॥

विचारने की बात है कि इस द्विविधा में भी रावण की निर्णय-शक्ति का झुकाव सत्य ही की ओर है जैसा कि 'मंत्र दृढ़' से स्पष्ट है। यह बात रावण में बराबर बनी रही। सीताहरण के समय की उसने सीता की कुछ खुशामद की है और कुछ धमकी दी है, परंतु वहाँ भी कवि ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि——

सुनत बचन दसकंध रिसाना। मन महँ चरण बंदि सुख माना॥

दूसरे पद से स्पष्ट हो गया कि रावण सीता को जगज्जननी ही मानता है, यद्यपि सारा स्वाँग शत्रुता का रचे हुए है। नाटक-कला के जानकार

इस चरण की पृथक् (असाइड) वार्ता का आनंद लें, परंतु स्मरण रहे कि तुलसीदासजी ने रावण-चरित्र के इस अंग को संकेतरूप में ही दिखाया है जिसमें उसके प्रतिनायकत्व के विरोधाभास को बट्टा न लगे। मैं तो कहता हूँ कि तुलसीदासजी संकेत-कला के आचार्य हैं। वह ऐसे सूक्ष्म संकेत करते हैं कि बात भी स्पष्ट हो जाय और रंग में भंग भी न हो। लंकाकांड पढ़ते समय हम यह संकेत भूल जाते हैं और कवि भी चाहता है कि हम उन्हें भूल जायँ। राम-रावण-युद्ध में दो विरोधी शक्तियों का वह संघर्ष है कि हमारा हृदय काँप उठता है। तुलसीदासजी ने प्रतिनायक के गौरव की अंत तक रक्षा की है। मरते मरते भी रावण के मुख से ये ही शब्द कहलाए हैं कि—'कहाँ राम रण हतौं प्रचारी?' परंतु यहाँ भी दोरुखी बात है—एक ओर रामनाम लेने का बहाना और दूसरी ओर विरोध की पराकाष्ठा।

ब्रैडले ने लिखा है कि 'यागो' की तुलना जर्मन महाकवि गेटे के 'मेफेस्टोफ़ीज' से हो सके तो हो सके, अन्यथा किसी अन्य पात्र से उसकी तुलना असंभव है। सोचने की बात यह है कि बुराई की पराकाष्ठा के चित्रण की शैली पाश्चात्य देशों में इतनी चल पड़ी है कि अनेक महाकवियों ने अपना समय उसी में लगाया है। मिल्टन ने शैतान का चित्रण किया, मार्लो ने फाउस्ट का और गेटे ने मेफेस्टोफ़ीज का। पाश्चात्य आलोचक इस शैली पर इतने मुग्ध हैं कि ब्रैडले और डा० मिलर दोनों ने बड़े गर्व के साथ कहा है कि यागो के जोड़ का अन्य पात्र दुनिया में मिलना कठिन है। यदि किसी ने भलाई के पूर्ण चित्रण का उद्योग किया तो उसकी रचना को काल्पनिक कहकर मखौल उड़ाया जाता है। इसी कारण विंसेंट स्मिथ जैसे बहुत से अँगरेज राम-चरित्र को भी काल्पनिक मानते हैं। हम इस समय इस विवाद में न पड़ेंगे कि इन महानुभावों के विचार सही हैं या गलत, पर क्या हम यह पूछ नहीं सकते कि आखिर पाश्चात्य देशों में वैसा ही पूर्ण भलाई का चित्रण क्यों न हुआ, जैसा यागो

आदि के रूपों में बुराई का ? राम का चित्रण काल्पनिक ही सही, पर वैसा ही चित्रण वहाँ भी क्यों न हुआ ? उत्तर स्पष्ट है। हमारी सभ्यता में भलाई अनादि है और बुराई सीमित। ओथेलो के आलोचकों ने अब यह बताने की चेष्टा की है कि कविवर शेक्सपियर ने यागो की बुराई का भी भंडाफोड़ कर ही दिया। मैं तो जब-जब ओथेलो को पढ़ता हूँ तो मुझे यह ज्ञात होता है कि शेक्सपियर ने यह भंडाफोड़ जान बूझकर किया है, नहीं तो डेस्डिमोना की मृत्यु पर नाटक की समाप्ति हो जाती। परंतु कवि स्पष्ट रूप में हमारे समीप नहीं है और पश्चिमी जगत् के दुःखांत नाटकवाले सिद्धांत संकुचित हैं, अतः बात स्पष्ट नहीं हुई और ब्रैडले जैसे आलोचक को लिखना पड़ा कि अंधकार में कोई मार्ग नहीं दीखता।

जब यागो की तुलना में शैतान आदि न ठहर सके तो कैकेयी और मंथरा किस गणना में हैं ? परंतु साहित्यिक दृष्टि से उभय कवियों की चित्रण-शैलियों में इतनी समानता है कि हम तुलना तो अवश्य ही करेंगे। पहले कैकेयी और ओथेलो की एक ओर और मंथरा और यागो की दूसरी ओर तुलना की जायगी, फिर महाराज दशरथ की तुलना डेस्डिमोना से होगी।

ग—कैकेयी और ओथेलो : मंथरा और यागो

ब्रैडले महोदय का कथन है कि 'ओथेलो' नामक नाटक में बुराई केवल एक चरित्र द्वारा प्रवेश करती है और फिर दूसरे चरित्रों की तनिक सी त्रुटियों तथा आकस्मिक घटनाओं की सहायता से इतनी बढ़ जाती है कि चारों ओर अंधकार छा जाता है। इस दृष्टि से 'ओथेलो' और वनवास-प्रकरण में बहुत अधिक समानता है। यदि हम तनिक देर के लिये महाकाव्यवाले दृष्टिकोण को पृथक् कर अपने विचार को केवल नाटक कला से संबद्ध रक्खें तो यह समानता और भी अधिक जान पड़ेगी। इस दृष्टिकोण से आधिदैविक शक्तियों ने केवल

बुराई की सहायता ही नहीं की, प्रत्युत उसे उत्पन्न भी किया है। देव-ताओं के षडयंत्र के चक्कर में बेचारी सरस्वतीजी भी पड़ गईं। इस षड्यंत्र की तुलना कुछ कुछ 'मैकबेथ' की भूतनियोंवाले षड्यंत्र से की जा सकती है जिसका विस्तृत उल्लेख यथासमय होगा। सामान्यतः मंथरा में 'मंदमति' के सिवा कोई और दोष कवि ने नहीं दिखाया। देखिए, तनिक देर के लिये भी अपने दृष्टिकोण को संकुचित बनाने में हमें अंधकार और नास्तिकता के सिवा और कुछ नहीं दिखाई देता, तो फिर कविवर शेक्सपियर कृत दुःखांत नाटकों की शैली के प्रभाव का कहना ही क्या है। अब हमें महाकवि तुलसीदास की कला का गौरव अवश्य स्पष्ट हो गया होगा। अस्तु, हमें तुलना के लिये इस प्रसंग में अपना नाटकीय दृष्टिकोण बनाए रखना है। बुराई मंथरा द्वारा अयोध्या में प्रवेश करती है और शनैः शनैः उसका प्रभाव इतना अधिक हो जाता है कि उसके निमित्त कवि को लिखना पड़ता है—

घोर जंतु जनु पुर-नर-नारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी॥
घर मसान परिजन जनु भूता। सुत-हित-मीत मनहुँ यमदूता॥

सोचने की बात है कि यह दशा उस अयोध्या की है जिसका रोचक वर्णन कवि ने यों किया था—

जब ते राम ब्याहि घर आए। नित नव मंगल मोद बधाए॥

सांसारिक सुख का कितना पूर्ण चित्र है!

भुवन चारि दस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरसहिं सुख बारी॥
रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमँगि अवध अंबुधि कहँ आई॥
मनिगन पुर नर नारि सुजाती। सुचि अमोल सुंदर सब भाँती॥
कहि न जाइ कछु नगर बिभूती। जनु इतनिहिं बिरंचि करतूती॥
सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद्र मुखचंद्र निहारी॥

मुदित मातु सब सखी सहेली। फलित बिलोकि मनोरथ बेली।
राम रूप गुन सील सुभाऊ। प्रमुदित होहिं देखि मुनि राऊ॥

सबके उर अभिलाष अस कहहिं मनाइ महेस।
आपु अछत युवराज पद रामहिं देहिं नरेस॥

अयोध्या का उपर्युक्त चित्र विशेषतः महाकाव्य संबंधी है, अतः उस की विशेष व्याख्या तुलसीदास की नाटकीय-महाकाव्य विषयक लेखमाला में की जायगी, जहाँ यह दिखाने का प्रयत्न किया जायगा कि स्वर्ग का वैदिक नाम 'अयोध्या' क्यों है। परंतु नाटकीय दृष्टिकोण से इतना कहे बिना नहीं रहा जाता कि हमारे यहाँ स्वर्ग को ऐसा शुष्क स्थान नहीं बताया गया जैसा फारसी कवि ने लिखा है—

बिहिश्त आँ जा कि आजारे न बाशद, कसे रा बा कसे कारे न बाशद।

अर्थात् स्वर्ग वह स्थान है जहाँ न कोई किसी को दुःख देता है और न किसी से किसी को वास्ता है।

पहला चरण तो ठीक है, परंतु दूसरे चरण पर विचार कीजिए तो स्वर्ग लटके मुँहवाले चुपचाप लोगों की बस्ती हो जाती है। इसीलिये तो बर्नार्ड शा ने उसकी हँसी उड़ाई है और नरक की चहल-पहल को उससे अच्छा बताया है। अस्तु। हमें अभी इतनी दूर की उड़ान नहीं लेनी है, पर इतना अवश्य कहना है कि इस सांसारिक अयोध्यारूपी स्वर्ग में प्रेम का बंधन ही विशेष आनंद का कारण है और अयोध्या की वह चहल-पहल बड़ी रोचक है।

हमने अयोध्या के चित्रपटों का उभय पक्ष ऊपर देख लिया और यह अनुभव किया कि एक दुश्चरित्र के कारण क्या से क्या हो गया! प्रो० डाउडेन कविवर शेक्सपियर की दुःखांत-नाटकशैली की व्याख्या में लिखते हैं—'उसका संबंध आत्मा के नाश और उसके पुनर्जीवन तथा

मानवी पुनर्जीवन से है। दूसरे शब्दों में उसका विषय इस संसार में भलाई और बुराई का पारस्परिक संघर्ष है।' यह सिद्धांत तुलसीदास की नाटकीय कला में जितना लागू होता है उतना शेक्सपियर में नहीं। तुलसीदास की शैली में आत्मा का परिष्कार स्पष्ट रूप से लक्षित होता है, परंतु शेक्सपियर में तो हमें बहुधा आत्मा का नाश अथवा लाचारी ही दृष्टिगोचर होती है। तुलसीदासजी ने अयोध्या में मंथरा द्वारा बुराई का प्रवेश कराकर जो उथल-पुथल पैदा की है उसकी भयानकता आप देख चुके। स्वर्ग रूपी अयोध्या भूतों की बस्ती बन चुकी है। इस वर्णन में करुणरस का वह प्रवाह है कि कठोर से कठोर हृदय भी द्रवित हुए बिना नहीं रहता। परंतु नाटक का पटाक्षेप यहीं नहीं होता और भरत द्वारा अयोध्या में बची हुई सारी आत्माओं का पुनर्जीवन साफ दिखा दिया जाता है। पूरे आनंद का चित्र तो महाकाव्य संबंधी उद्देश्य की पूर्णता के पश्चात् लंका से लौटने पर ही मिलेगा, परंतु करुणरस की आँच से तपाई और निखारी हुई अयोध्या का यह चित्र भी कितना सुंदर है—

नगर नारि नर गुरु सिख मानी। बसे सुखेन राम-रजधानी॥

'सुखेन' शब्द को विचारिए और राम-राज्य की स्थापना पर ध्यान दीजिए। आह, अयोध्या 'राम-रजधानी' बनी, परंतु किस प्रकार?

राम-दरस लगि लोग सब, करत नेम उपवास।
तजि तजि भूषण भोग सुख, जियत अवधि की आस॥

यहाँ आत्मा का विकास है, वियोग-दुःख 'तप' में परिणत कर दिया गया है। अयोध्या के साधारण मनुष्यों के नेम, व्रत और त्याग भरत के उस त्याग से कुछ कम नहीं जिसकी विस्तृत व्याख्या हो चुकी है। मुझे तो यह प्रतीत होता है कि उत्साह के प्रथम आवेग में ही डाउडेन महोदय ने उपर्युक्त सिद्धांत का उल्लेख कर दिया, परंतु अंततः उन्हें शेक्सपियर

के दुःखांत नाटकों के बारे में लिखना ही पड़ा कि 'उसमें परिस्थितियों से होनेवाले असफल मानवी संघर्ष का चित्रण है।' इस अंतिम वाक्य में कितना नैराश्य है। तुलसी का संसार भी पुष्प-शैया नहीं, परंतु वहाँ नैराश्य का घोर अंधकार भी नहीं है। और यदि कहीं है भी तो उसी प्रकार है जैसे प्रभात के किंचित् पूर्व रात्रि रहती है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि दोनों कवि इस बात में सहमत जान पड़ते हैं कि बुराई तनिक सी भी जगह पाने पर धीरे धीरे अपना घर बना लेती है और फिर तनिक-तनिक सी त्रुटियों तथा आकस्मिक घटनाओं का सहारा पाकर इतनी विस्तृत हो जाती है कि चारों ओर अंधकार छा जाता है। अब हमें कुछ विस्तार से इसकी व्याख्या करनी है। 'ओथेलो' में बुराई यागो द्वारा आई और परिणाम यह हुआ कि ओथेलो सा उदार सेनापति भी उसके फंदे में फँस गया। भला उस बेचारे ने कौन सा दोष किया था? यही न कि एक विजातीय कन्या से उसके माता-पिता से पूछे बिना ही विवाह कर लिया था। हमारे देश में, जहाँ अब भी सवर्ण विवाह सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, यह बड़ा दोष समझा जा सकता है पर पाश्चात्य जगत् में वैसा होना कोई अनोखी बात न थी। हाँ, सामाजिक नियमों का उल्लंघन कर, छिपकर शीघ्रतापूर्वक विवाह करना और माता-पिता से न पूछना, अवश्य त्रुटिपूर्ण था। इसी में बुराई को शंका उत्पन्न करने का एक स्थान मिल जाता है। बेचारी डेस्डिमोना तो बहुत ही सरल स्वभाव की लड़की जान पड़ती है जिसका पैर प्रेम के उमंग में सामाजिक नियमों के घेरे से निकल गया। हाँ, एक बात और थी कि ओथेलो का जीवन एक शुद्ध-हृदय सैनिक का जीवन था जो संसार से कुछ पृथक् व्यतीत हुआ था। उसे दुनिया के ऐंच-पेंच का पता न था। अब तनिक अयोध्या की ओर भी दृष्टि डालिए। मंथरा अवश्य एक 'मंदमति' लौंडी थी, पर रानी कैकेयी में अगर कोई ऐब था तो यही न कि उसे सेज और तुराई प्रिय थी और राजा की विशेष प्रेमपात्री होने से उसका जीवन

कुछ अलग व्यतीत होता था। देखिए न, राजतिलक की खबर रनिवास तक पहुँची और वहाँ इनाम भी बँटे, पर कैकेयी को इसकी सूचना न हुई। मुझे तो ऐसा जान पड़ता कि उसका प्रासाद ही रनिवास से कुछ अलग था। राजा दशरथ ने कोई अपराध किया था तो यही कि दो पत्नियों के होते हुए एक और विवाह कर लिया। परंतु उस समय, जब राम-राज्य की एक-नारि-व्रत वाली मर्यादा की स्थापना नहीं हुई थी, ऐसा करना कोई बड़ा अपराध नहीं था। हाँ, यदि कुछ दोष था तो यह कि दशरथजी में विचार-शक्ति की अपेक्षा भावुकता का आधिक्य था। तनिक बाल पके देखे और प्रेमावेग में राम को राज्य देने की तैयारी उतावलेपन से कर दी और इतना भी न ठहरे कि भरत आ जाते। हमें तो अयोध्या के वातावरण में उस समय प्रेम का उतावलापन सभी ओर दिखाई पड़ता है। हम अयोध्या के उपर्युक्त चित्र में देख चुके हैं कि राम के रूप, गुण, शील, स्वभाव का यह प्रभाव है कि प्रत्येक व्यक्ति उनको युवराज-पद पर देखना चाहता है। राजा के उतावलेपन को गुरु वशिष्ठ ने भी न रोका, वरन् उसमें और सहायता ही दी। सुमंत की मंत्रणा-बुद्धि भी प्रेम से कुंठित हो गई। उसने भी यह सम्मति न दी कि भरत और शत्रुघ्न के आ जाने पर ही राम को युवराज बनाना संगत होगा। इसी एक भूल-पर बुराई को बैठने का स्थान मिल गया। सूक्ष्मदर्शी महाकवि तुलसी-दास की कला का एक और अंग भी विचारणीय है। उन्होंने वाल्मीकि आदि बहुत से पूर्ववर्ती कवियों के उन विचारों का अनुकरण नहीं किया जिनकी सम्मति में भरत के न बुलाए जाने का निश्चय भलीभाँति सोच-विचार कर किया गया था, मानो दशरथजी यह चाहते थे कि सब काम पहले ही हो जाय और भरत तथा कैकेयी को विघ्न डालने का अवसर न मिले। यदि यह दृष्टिकोण वास्तविक होता तो राजा के प्रति करुणरस की वैसी उद्भावना न हो पाती जैसी तुलसीदास के काव्य में है। आह, मानवी जीवन इतना अस्थिर है कि तनिक सी असतर्कता होने पर

ही उसका नाश संभव हो जाता है। इतना ही नहीं, बुराईवाले विष के प्रभाव से हमारी भलाइयाँ भी बुराइयाँ बन जाती हैं। देखिए, ओथेलो के हृदय की उदारता और दूसरों के प्रति सहज-विश्वास की आदत ने उसे यागो पर संदेह न करने दिया और सैनिकोचित शौर्य ने उसे ऐसा दृढ़व्रत और कठोर बना दिया कि उसी के हाथों उसकी प्रेमिका का गला घोटा गया। कैकेयी भी एक वीर क्षत्राणी थी जिसने एक बार समर-भूमि में, रथ के धुरे में अपनी कलाई लगा देने और दूसरी बार राजा की 'विषैली' से पीड़ित उँगली को रात भर मुँह में रखे रहने के कारण राजा से दोनों वरदान पाए थे। जब वैसी वीर क्षत्राणी का निश्चय दृढ़ हो जाता है तो वह फिर टस-से-मस नहीं होती। हमें तो बार बार फारसी कवि का यह पद याद आता है कि—

ए रौशनिए-तबअ्तो बर मन बला शुदी।

अर्थात् ए मेरे स्वभाव की रोशनी! तू ही मेरे लिये बला हो गई। शेक्सपियर के आलोचकों ने तो यह भी लिखा है कि उसने नाटक के अंतिम अंश को इतनी शीघ्रता से इस कारण अंकित किया है कि बुराई का उद्घाटन न होने पाए और डेस्डिमोना का गला घुट जाय। परंतु अयोध्याकांड में कैकेयी की कठोरता इतनी पक्की है कि भरत के आने से पहले उसपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। लगभग सभी ने तो उसे समझाया पर वह तनिक भी न डिगी। भरत का युवराज होना भी राजा ने मान लिया, पर वह राम-वनवास पर ही अड़ी रही। अगर राजा में हृदय की प्रधानता का दोष था तो कैकेयी में मस्तिष्क की प्रधानता थी। उसे राम से प्रेम था और बड़ा प्रेम था, परंतु उसमें प्रेम-परीक्षा की आदत भी थी और बस मंथरा की कूटनीति को यही स्थान मिल गया। स्व० ठाकुर महोदय का यह कथन ठीक ही है कि 'प्रेम के बही खाते में हानि और लाभ एक ही ओर लिख कर जोड़े जाते हैं।'

सच है, जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ तनिक तनिक सी बातों में शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। अब हम कुछ विस्तार से इस विषय पर विचार करगे कि दोनों कवियों ने भलाई बुराई का संघर्ष किस सुंदरता से अंकित किया है। ओथेलो और कैकेयी दोनों ने बड़ी वीरता के साथ यागो और मंथरा के रूप में बुराई का सामना किया। पराजय भलाई की हुई, परंतु हमारी सहानुभूति बुराई से नहीं हुई और साथ ही ओथेलो के प्रति हमारा दया-भाव भी थोड़ा बहुत बना ही रहा। हाँ, उस विस्तृत व्याख्या से पूर्व दो बातें बता देना आवश्यक है। बेचारी मंथरा को यदि सरस्वती का साहाय्य न मिलता तो उसका यागो की तुलना में ठहरना कठिन था और कैकेयी के साथवाले संघर्ष में भी उसकी पराजय ही होती। दूसरी बात यह कि दोनों कवि यह स्वीकार करते हुए जान पड़ते हैं कि—

जैसी हो होतव्यता वैसी मिलइ सहाय

यदि 'ओथेलो' में रूमाल का गिर जाना गजब हो गया तो उतावलेपन में भरत का न बुलाया जाना अयोध्या के बिगाड़ का कारण बना। दोनों घटनाएँ आकस्मिक थीं, निश्चित नहीं।

मंथरा और कैकेयी के वाद-विवाद के रूप में बुराई और भलाई के संघर्ष का चित्र आलोचनात्मक रीति पर नीचे दिया जाता है। अँगरेजी जाननेवाले पाठकों से निवेदन है कि वे ओथेलो और यागोवाले संघर्ष से इसको मिलाते चलें। हमें यहाँ केवल संकेत कर देने की आवश्यकता है, क्योंकि शेक्सपियर के बड़े-बड़े अवतरण हिंदी पाठकों के लिये बेकार से होंगे। कवि दृश्य को यों आरंभ करता है—

दीख मंथरा नगर बनावा, मंजुल मंगल बाजु बधावा।
पूछेसि लोगन काह उछाहू, राम तिलक सुनि भा उर दाहू॥

करैं विचार कुबुद्धि कुजाती, होइ अकाज कौन बिधि राती।
देखि लागि मधु कुटिल किराती, जिमि गौं तकै लेहुँ केहि भाँती॥

ऊपर के चित्रण से स्पष्ट है कि मंथरा और कैकेयी का रहन-सहन और निवास-स्थान कुछ पृथक् था, नहीं तो कितनी ही शीघ्रता से तैयारी क्यों न होती, पर कैकेयी को न सही, तो क्या मंथरा को भी पता न लगता? नगर बन-सँवर गया, उत्साह का प्रारंभ हो गया और तब एक आकस्मिक भ्रमण में ही मंथरा को पता लगा। राम-तिलक की सूचना मिलते ही उसके हृदय में दाह उत्पन्न हो गई। कवि नाटकीय दृष्टिकोण को आगे रखना चाहता है, अतः अब सरस्वती की याद नहीं दिलाता बल्कि मंथरा के कुबुद्धि और कुजाति होने पर ही जोर देता है जिसके कारण ईर्ष्या की आग जल उठती है। सूक्ष्मदर्शी पाठक देखें कि अब मंथरा केवल 'मंदमति' के दोष से संबोधित नहीं की जाती, अपितु 'कुजाति' होने के कारण उस में 'कुबुद्धि' का दोष उभार के साथ दिखाया जाता है। उसके साथ 'किराती' की उपमा कितनी ठीक है। जैसे किराती अपने स्वार्थवश सहस्रों मधुमक्खियों की हिंसा का कुछ भी विचार नहीं करती, वैसे ही मंथरा को अयोध्या के सर्वनाश का तनिक भी ध्यान नहीं होता। 'गौं तकै' शब्दों को प्रयुक्त करके तो कवि ने कमाल ही कर दिया। हमारे सामने मंथरा के कुटिल मस्तिष्क के विचारों का एक अस्पष्ट दृश्य आ जाता है। यागो की स्वगत वार्ताओं में उसकी चालों को अधिक स्पष्ट कर दिया गया है, इसलिये आगे चलकर उन्हीं चालों के प्रगटीकरण में कुछ विशेष आनंद नहीं रह जाता। पर यहाँ हमारी उत्कंठा बराबर बनी रहती है और जब तक मंथरा दोनों वरदानों को स्पष्टतः बता नहीं देती तब तक हम स्वयं इस विचार में पड़े रहते हैं कि क्या होनेवाला है और विघ्न कैसे होगा। मानो हमारा आश्चर्य संबंधी अनुभव कुंठित नहीं होता। हाँ, एक और अंतर स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ यागो की स्वगत वार्ताओं में चतुराई के लिये प्रेरणा की खोज दिखाई पड़ती है वहाँ मंथरा में कैकेयी और भरत के प्रति

स्वाभाविक प्रेम जान पड़ता है और इसीलिये रामाभिषेक के समाचार से उसके हृदय को स्वाभाविक ठेस लगती है। और सबसे बड़ा अंतर यह है कि यागो बुराई करने में बहुत प्रसन्न जान पड़ता है, मगर मंथरा नहीं। कविवर शेक्सपियर ने एक जगह यागो के मुख से कहलाया है कि 'अगर परिणाम मेरे विचारानुसार हुआ तो क्या कहना, मेरी नौका हवा और लहरों दोनों के साथ खूब चलेगी'। दूसरी जगह वह फिर कहता है कि 'अहा, यही तो ढंग है। देख, मेरी चाल में सुस्ती या देरी से कहीं कमी न आ जाय।"

अंत में मंथरा ने सोच विचार कर चाल निकाली। कवि लिखता है—

भरत-मातु पहँ गइ बिलखानी, का अनमन हसि कह हँसि रानी।

खूब! कवि ने किस सूक्ष्मता के साथ 'भरत-मातु' से मंथरा की चाल की ओर संकेत कर दिया है, मानो रामाभिषेक में 'भरत-मातु' द्वारा सौतिया डाह से काम लिया जायगा, परंतु इतना अधिक स्पष्ट नहीं किया कि हमारी उत्कंठा चली जाय। इस संकेत में और शेक्सपियर के निम्न उदाहरण में कितना अंतर है, यह पाठकगण स्वयं ही विचार लेंगे और तब मेरे उपर्युक्त कला-संबंधी कथन की पुष्टि आप ही आप हो जायगी। यागो कहता है—'इधर मैंने केसियो को उभार दिया है कि वह तरह-तरह से डेस्डिमोना की खुशामद करे (यह खुशामद अपनी नौकरी के बारे में है) और उधर मैं ओथेलो को ऐसे मौके से ला खड़ा करूँगा कि वह ओथेलो की खुशामद का कुछ और ही अर्थ समझे (और ईर्ष्या भड़क उठे)।' मुझे तो इसके पीछेवाला दृश्य सारी चाल के खुल जाने के बाद फीका सा लगता है। 'बिलखानी' शब्द द्वारा मंथरा का बनावटी रोना आदि सब सामने आ जाता है। परंतु रानी को अपनी सरलता के कारण किसी बड़ी बुराई की संभावना इस 'बिलखाने' में भी नहीं दिखाई देती। वह सरल, हँसमुख स्त्री है, अतः हँस-हँस कर

केवल यही पूछती है कि तेरे अनमने होने का क्या कारण है। 'अनमन' शब्द से किसी बड़ी बुराई की शंका भी उत्पन्न नहीं होती, बल्कि किसी सामान्य बात से मन का मोटा हो जाना ही भासित होता है। हास्यरस के पुट से पता लगता है कि रानी यह समझ रही है कि किसी के तनिक छेड़ने से मंथरा अप्रसन्न हो गई है जिसका निवारण हँसी की चुटकी से हो जायगा। आह, ऐसे सरल मस्तिष्क में विष भर देना ऐसा दुष्कर्म है जिससे कैकेयी के प्रति करुणा और मंथरा के प्रति घृणा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

उतर देइ नहिं लेइ उसाँसू। नारि-चरित करि डारइ आँसू॥

चाल कैसी ठीक है। जवाब नदारद। मगर लंबी साँस और बनावटी आँसुओं की हद नहीं। उसपर रानी की हँसी ने और भी आग पर घी का काम किया होगा। अँगरेजी जाननेवाले पाठक यदि इसकी तुलना ओथेलो के उस दृश्य से करें जिसमें उपर्युक्त उदाहरण वाली चाल के बाद डेस्डिमोना और केसियो एक जगह थे तथा यागो ओथेलो के साथ वहाँ पहुँचकर सशंक रीति से 'हा! यह मुझे पसंद नहीं' कहकर चुप हो जाता है और ओथेलो के प्रश्नों का या तो उत्तर ही नहीं देता या देता भी है तो बिलकुल ऊटपटाँग, तो उन्हें बड़ा आनंद आएगा।

हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे। दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे॥

इस पद ने कैकेयी के हृदय की स्वच्छता को और भी स्पष्ट कर दिया। उसके ध्यान में केवल यह बात आती है कि चंचल स्वभाववाले लक्ष्मण ने किसी शरारत पर सिखावन देने के लिये मंथरा के फूले गालों पर एक थप्पड़ रसीद किया है। रानी का लक्ष्मण के प्रति प्रेम इससे विदित हो जाता है कि उसने एक प्रकार से लक्ष्मण की सफाई पहले ही दे दी। साथ ही मंथरा की तनिक सी बात पर चिढ़कर गाल फुलाने की आदत

और लक्ष्मण की चंचलता का चित्र भी सामने आ जाता है। सूक्ष्मदर्शी पाठक तुलसीदास के चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मता पर विचार करें। यदि यह पद रामचरितमानस से निकाल दिया जाय तो लक्ष्मण के चरित्र का एक अंग ही अचित्रित रह जायगा। एक सूक्ष्मता और विचारणीय है। अब शंका उत्पन्न हो चली, और इस पद में हँसना केवल एक ही बार है, दो बार नहीं, मानो हँसी की मात्रा घटती जाती है।

तबहुँ न बोलि चेरि बड़ी पापिनि। छाँड़ै स्वाँस कारि जनु साँपिनि॥

सच है, मंथरा बड़ी ही कुटिल लौंड़ी है। रानी के इतनी बार पूछने पर भी उत्तर नहीं देती। कैकेयी की शंका को उभारने के लिये कुटिलता की चाल में यह रोक आवश्यक थी। देखिए, अब लंबी साँस काली नागिन की फुफकार की सीमा तक पहुँच गई, क्योंकि कैकेयी की चुटकी ने मंथरा के भावों को और भी उत्तेजित कर दिया। साहित्य-मर्मज्ञ दूसरे चरण के 'स' और 'छ' में शब्द-चित्र का रूप देख ही लेंगे और काव्य-कला की शब्द-शक्ति की प्रशंसा करेंगे। नाट्यकला के मर्मज्ञ उपर्युक्त चौपाइयों में रंगमंच के निर्देश की सूक्ष्मता पर विचार करेंगे और यह भी सोचेंगे कि यहाँ कवि की उपस्थिति कितनी आवश्यक है। उन्हें विशेष आनंद तो तब आएगा जब वे इन सरस चौपाइयों की तुलना बर्नार्ड शा की रूखी-सूखी व्याख्याओं से करेंगे।

सभय रानि कह कहसि किन कुसल राम महिपालु।
लखन भरत रिपुदमन सुनि भा कुबरी उर सालु॥

तनिक देर के सन्नाटे का प्रभाव आपने देखा? काली नागिन की फुफकार ने अंततोगत्वा रानी को 'सभय' बना ही दिया। कवि भावों का चित्रण करने में इतना सतर्क है कि उसने भय को किसी विशेष कारण की ओर उन्मुख नहीं किया। कैकेयी के विचार चारों ओर दौड़ रहे हैं।

अभी वह केवल 'भरत-मातु' नहीं बनी बल्कि उसके प्रेम-पात्र सबसे अधिक राम हैं और उसके बाद महाराज दशरथ, तब लक्ष्मण, और इन सबके बाद ही भरत का नाम आता है और फिर साथ ही भरत के अनुयायी शत्रुघ्न का। मंथरा अवश्य तिलमिला गई होगी, क्योंकि वह भरत के प्रति प्रेम और राम के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न करना चाहती थी और यहाँ परिणाम उलटा हुआ। मंथरा की कठिनाइयाँ और कैकेयी के प्रेमपात्रों की श्रृंखला स्पष्ट हो गई। आह, ऐसी माता द्वारा राम को वन-वास दिलाना और ऐसी पतिव्रता स्त्री को अपने पति की मृत्यु का कारण बनाना कितने गर्हित कार्य हैं। इसीलिये तो हमारे हृदय में करुण भावों का प्रवाह बढ़ता चला जाता है। साहित्य-मर्मज्ञ मंथरा के प्रति प्रयुक्त विशेषणों के चढ़ाव की ओर भी अवश्य ध्यान दें और कवि की काव्यकला की सराहना करें। अब मंथरा की कुरूपता भी हमारे सामने लाई जाती है और वह 'कुबरी' कही जाती है, मानो जैसे उसका शरीर टेढ़ा है उसी तरह उसका आत्मा भी है। अँगरेजी-पढ़े पाठक इस भय की अवस्था की तुलना ओथेलो की वैसी ही अवस्था से करें, पर यह याद रखें कि तुलसीदासजी ने संकेत-कला में कमाल किया है और थोड़े में बहुत से भावों को भर दिया है, अन्यथा यह हो कैसे सकता था कि कि एक ही कांड में कविवर शेक्सपियर के चारों दुःखांत नाटकों की विशेषताएँ आ जातीं और कितने ही ऐसे आधिदैविक एवं आध्यात्मिक प्रश्न भी साथ ही साथ हल हो जाते जिनका उन नाटकों में कहीं पता भी नहीं? भयभीत रानी काली नागिन की सी फुफकार मारनेवाली कुबरी के सामने सशंक बैठी है, मानो चाल की पहली मंजिल तै हुई।

कत सिख देइ हमहिं कोउ भाई। गालु करब केहिकर बल पाई॥
रामहिं छाँड़ि कुसल केहि आजू। जेहि जनेसु देहिं युवराजू॥
भयउ कौसलहिं बिधि अति दाहिन। देखत गरब रहत उर नाहिन॥
देखहु कस न जाइ सब सोभा। जो अवलोकि मोर मन छोभा॥

पूत बिदेस न सोच तुम्हारे। जानति हहु बस नाहु हमारे ॥
नींद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखहु न भूप कपट चतुराई ॥

मंथरा के मुख से उत्तर निकला तो विष से बुझा हुआ। वाक्य-कला (रेटरिक) के मर्मज्ञ उत्तर की प्रश्नात्मक शैली की चाल से परिचित हैं। इस छोटी सी वक्तृता में कैकेयी की प्रत्येक बात का उत्तर मौजूद है; मानो मंथरा कहती है कि जब गाल करने का कोई अवलंब ही मुझे नहीं है तो मुझे कोई क्या सिखावन देगा। संकेत यह है कि न तुम्हारा बल बाकी रहेगा और न उस बल पर मैं गाल कर सकूँगी। कैकेयी के शब्दों को लेकर और उन्हीं को विष में बुझाकर वापस करने में कितना साहित्यिक मर्म है। सिखावन भी किसी कलक से दिया जाता है और मानो मंथरा कहती है कि मेरे लिये किसे कलक होगा। कैकेयी की हँसी का संकेत माख से फूले हुए गालों की ओर था। पर मानो मंथरा उत्तर में कहती है कि गाल करना (माख) किसी बल पर हुआ करता है और यहाँ बल ही नदारद है। दोनों प्रश्न शंका और कटाक्ष से भरे हुए हैं। दूसरे पद का प्रश्न तो और भी विकट है। कैकेयी ने सरलता से प्रेमावेग में राम का कुशल सबसे पहले पूछा था। मंथरा ईर्ष्या मिश्रित शब्दों में उस कुशल को बताते हुए, कैकेयी के गर्व को कैसा उभारती है और कहती है कि भाई, राम से बढ़कर कुशल आज किसका होगा जिसे राजा युवराज बना रहे हैं। ऐसी दशा में और कौन गर्व कर सकता है? कैकेयी के चरित्र की कितनी अच्छी पहचान है। मंथरा जानती है कि कैकेई को राजा की प्रेमपात्री होने का और अपनी सुंदरता का गर्व है। आज मंथरा उसी दोप को उभार कर अपना काम निकालना चाहती है। उधर राम-प्रेम को कौशल्या के प्रति सौतियाडाह से दबाती हुई कहती है कि आज कौशल्या के प्रति विधाता हर प्रकार से दाहिने हैं। गर्व के निमित्त प्रयुक्त शब्दों को वह इस सौतियाडाहवाले प्रसंग में प्रयुक्त करती है, मानो संकेत करती है कि अब तुम्हारा राजा की

प्रेमपात्री होने का गर्व गया, अब तो विधाता कौशल्या के साथ हैं जिस-का पुत्र युवराज होने जा रहा है। कटाक्ष की धार इसके परवर्ती पद में और भी पैनी हो जाती है जहाँ वह कहती है कि तुम्हें राम से प्रेम है तो जाकर उत्साह की सारी शोभा को क्यों नहीं देखतीं? मेरे हृदय में तो उससे क्षोभ ही उत्पन्न हुआ है। काव्य-मर्मज्ञ 'सोभा' और 'छोभा' के विरोध पर विचार कर कुशल कवि के इस असंगतालंकार की सराहना करें। आगेवाले पद के कटाक्ष में इस क्षोभ का कारण भी बता दिया गया है। मानो मंथरा कहती है कि मुझे तो तुम्हारी चेरी होने के कारण तुम्हारे पुत्र के प्रति इतना कलक है और तुम्हें इसकी तनिक भी परवा नहीं कि तुम्हारा पुत्र विदेश में है। तुम समझती हो कि राजा तुम्हारे वश में हैं परंतु यह विचार ठीक नहीं है, अन्यथा तुम्हारे पुत्र की अनुपस्थिति में यह आयोजन क्यों किया जाता? राजा के कपट और चतुराई को तुम देख नहीं सकतीं, तुम्हें तो सेज और रजाईवाली आराम-तलबी से अवकाश नहीं, तनिक उठकर चारों ओर देखो तो पता लगे। संभव है यदि 'पूत बिदेस' तथा कौशल्या के मुकाबिले में कैकेयी का गर्व चूर्ण हो जानेवाला विचार उपस्थित न किया जाता तो मंथरा असफल-कार्य रहती। गर्व के साथ माता का प्रेम और सौतियाडाह कैकेयी में इस प्रकार उभार दिए गए कि किसी ओर से बचाव का कोई मार्ग न रहने पाए। सारी वक्तृता में एक स्त्री की ईर्ष्याजनित भाषा का बड़ा ही सुंदर नमूना है। मानो सरस्वती स्वयं कटाक्ष की भाषा बोल रही हैं। मेरी दृष्टि में इतनी संक्षिप्त, साथ ही इतनी विषैली वक्तृता आज तक किसी भी साहित्य में नहीं आई।

सुनि प्रिय बचन मलिन मन जानी, झुकी रानि अब रहु अरगानी।

रानी का हृदय इतना निष्कलुष है कि अब भी मंथरा का वार खाली चला गया। इतना ही नहीं बल्कि प्रेमावेग में रानी की प्रतिक्रिया-

शक्ति जागृत हो गई। वह मंथरा की ओर झुकी और रोष-भरे शब्दों में डाँटकर बोली कि बस अब चुप रह। परंतु दूसरी ओर विष का प्रभाव भी सूक्ष्म रूप में वर्तमान है। वचन कटाक्ष के थे, यद्यपि उन में राजतिलक की शुभ सूचना भी थी। पर रानी को कटाक्ष का भाग भूल जाता है और वह सारी वक्तृता को प्रिय समझती है। यदि कैकेयी को कटाक्षवाले भाग की कुछ स्मृति है तो वह उसे मंथरा के मन की अस्थायी मलिनता ही समझती है। पर रोष का आवेग बढ़ता जाता है और दूसरे पद में कैकेयी कहती है—

पुनि असि कबहुँ कहसि घरफोरी, तौ धरि जीभ कढ़ावहुँ तोरी।

रोष कितना स्पष्ट है! मंथरा की कुटिलता का मर्म 'घरफोरी' से स्पष्ट हो जाता है। कैकेयी का आत्मा कितना निर्मल है जो विष को पहचान कर वापस फेंक देता है, जैसे शुद्ध शरीर किसी विष को मलत्याग अथवा वमन द्वारा बाहर फेंक दे। रोष का यह अंश जिसे हम माख (इंडिग्नेशन) कह सकते हैं, हमारे नैतिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है। अंग्रेजी पढ़े पाठक इस अंश को ओथेलो के रोष के उस अंश से मिलाएँ जिसमें उसने यागो से डेस्डिमोना की दुश्चरित्रता के प्रमाण माँगे थे। परंतु संकेत रूप से इस पद में भी विष काम करता हुआ दिखाई देता है क्योंकि मंथरा की ओर झुकने के बाद भी क्षत्राणी का हाथ नहीं उठा प्रत्युत आगे के लिये धमकी देकर रुक गया। ऐसी सूक्ष्मताएँ ही हमारे कवि को ऊपर उठा देती हैं।

काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि,
तिय विशेषि पुनि चेरि कहि भरत-मातु मुसकानि।

देखिए, रोषावेग में मंथरा की कुटिलता के निमित्त एक के बाद दूसरा विशेषण निकलता चला आता है। परंतु इस बार सारा

विष बाहर नहीं निकला, मानों वे ही विशेषण कैकेयी के हृदय में मंथरा की मलिनता के लिये बहाने बन जाते हैं। यह बात 'काने' के प्रयोग से स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि वह मंथरा पर लागू नहीं होता और पद एक कहावत सा बन जाता है। जैसे किसी को सुई चुभ जाय और कोई कह उठे कि भई सूजी-सुआ-सुनार तो ऐसे होते ही हैं। मनोभावों के चित्रण में कवि की सूक्ष्मदर्शिता देखिए। वक्तृता मात्र से आरंभ होकर रोषावेग तक पहुँचती है, मगर वही कटु विशेषण आगे बहाना बनकर रोष के उतार का कारण बन जाते हैं। यहाँ तक कि कवि ने पद के अंत में रानी को मुस्कुराने की दशा में लौटा दिया। यहाँ 'मातु' शब्द को दुहराकर कवि ने कमाल किया है। मानो कवि हमें बता देना चाहता है कि विष कुछ रुक गया है जिसने कैकेयी को 'भरत-मातु' बना दिया। यही बचा हुआ विष है जिसने सूक्ष्मता से मंथरा की मलिनता के लिये बहानों की खोज की। मैं तो इस पद को कैकेयी के चरित्र में मार्मिक-परिवर्तन-काल मानता हूँ। इसी समय से रोग की विजय प्रारम्भ हुई।

प्रियवादिनि सिख दीन्हेहुँ तोहीं। सपनेहुँ तोपर रोष न मोहीं॥

मनोभावों का आवर्तन अब स्पष्ट लक्षित होता है। पहले राजतिलक की सूचना देने के कारण 'प्रिय' शब्द वक्तृता के लिये प्रयुक्त किया गया था, तो अब मंथरा स्वयं 'प्रियवादिनि' कही जाती है, मानो रानी कहती है कि तू मेरे हित के लिये प्रिय बात ही सदा कहा करती है। अपने रोष का कारण बताते हुए कैकेयी कहती है कि मैंने जो कुछ कहा वह तुझे सुमार्ग दिखाने के लिये, रोष से नहीं, क्योंकि जिसे तू अच्छा समझती है वह मार्ग अच्छा नहीं। ध्यान रहे कि रोग की विजय अभी केवल आरंभ हुई है और कैकेयी के हृदय की नैतिक प्रबलता अभी शेष है। वह कहती है—

सुदिन सुमंगल दायक सोई, तोर कहा फुर जा दिन होई।
राम-तिलक जो साँचेहु काली, देहुँ माँग मन भावति आली।
कौसिल्या सम सब महतारी, रामहिं सहज स्वभाव पियारी।
मोपर करहिं सनेह बिसेषी, मैं करि प्रीति परीछा देखी।
जो बिधि जनम देइ करि छोहू, होहिं राम-सिय पूत-पतोहू।
प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे, तिन के तिलक छोभ कस तोरे।

भरत सपथ तोहिं सत्य कहु परिहरि कपट दुराव,
हर्ष समय बिस्मय करसि कारण मोहिं सुनाव।

मंथरा में वाह्य संघर्ष है तो कैकेयी में आंतरिक संघर्ष भी बराबर होता रहता है। इस वक्तृता के पहले प्रेम का कितना प्राबल्य है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। राम को प्राण से भी अधिक प्रिय बताया जाता है और उनके मातृ-प्रम को सहज एवं स्वाभाविक कहा जाता है; साथ ही यह भी बताया जाता है कि राम बार बार परीक्षा की कसौटी पर खरे उतरे हैं। कैकेयी का नैतिक स्वास्थ्य बड़े जोर के साथ रोग पर विजय पाने की चेष्टा में रत है, परंतु अंत के प्रश्न यह निर्देश कर रहे हैं कि शंका तो उत्पन्न हो ही गई। उसके हृदय में यह जानने की उत्कंठा है कि मंथरा को परेशानी क्यों है, यद्यपि वह मंथरा से यह भी कहती है कि कपट और दुराव छोड़कर कारण बताना। भरत की शपथ दिलाना यह बता रहा है कि वह यह समझती है कि मंथरा का भरत-हित चाहनेवाला हृदय भरत-हित पर ही अवलंबित है। इन प्रश्नों से यह भी पता चलता है कि उसमें 'क्यों' और 'किसलिये' की उधेड़-बुन की आदत है जिसने उसके प्रेम क्षेत्र को भी सहज नहीं रहने दिया बल्कि उसमें भी प्रीति-परीक्षा की बात उत्पन्न कर दी। एक और शंका जिसकी ओर मंथरा ने भी संकेत नहीं किया था, रानी के हृदय में गुप्त रूप से उत्पन्न हो गई, मानों बुराई का जो बीज उसके हृदय में पड़ गया

है वह दूसरी ओर भी अंकुरित होना चाहता है। कैकेयी को यह विश्वास नहीं होता कि वस्तुतः राजतिलक होनेवाला है। वह सोचती है कि यदि ऐसा होता तो उसे सूचना दी जाती। इसीलिये ऊपर के दूसरे पद में वह राजतिलक की बात 'जो' शब्द से शुरू करती है। आह, उतावलेपन के आवेग में कैकेयी को सूचित न किया जाना वस्तुतः बड़ी भयानक भूल है। संभव है वह जान बूझकर न की गई हो, क्योंकि रनिवास में तो सूचना भी हुई और इनाम भी बँटे।

एकहिं बार आस सब पूजी, अब कछु कहब जीभ करि दूजी।

कैसी चातुरी से मंथरा पुनः उत्तर नहीं देती, अपितु कैकेयी के जीभ कढ़ानेवाले प्रस्ताव को व्यंग में परिवर्तित कर देती है और कहती है कि एक बार मैंने जो कुछ कहा उसके लिये तो जीभ कटा लेने का दंड है; और मेरे मुँह में एक ही जीभ है, सो अब तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देने के लिये दूसरी जीभ कहाँ से लाऊँ? नाटक-तत्व के मर्मज्ञ कथोपकथन के इस यथार्थ-चित्रण की सराहना करें जिसमें स्त्रियों की कटाक्षपूर्ण भाषा को ऐसी स्वाभाविकता से चित्रित किया गया है जैसे फोनोग्राफ का रिकार्ड। मंथरा कितनी चतुर है कि तार्किक प्रश्नों का केवल तार्किक उत्तर देकर मस्तिष्कीय वादविवाद नहीं करना चाहती। वह जानती है कि कैकेयी के हृदय में कितना ही तर्क-वितर्क क्यों न हो, फिर भी वह स्त्री ही है। अतः उसके तर्क को भी उसके हृदय द्वारा ही पराजित करना चाहिए और इसके लिये यह आवश्यक है कि उसकी शंका को और भी उभारा जाय और शीघ्र उत्तर न दिया जाय। मंथरा कहती है—

फोरै जोग कपार अभागा, भलेउ कहत दुख रौरेहिं लागा।

'वरफोरी' का कितना सुंदर उत्तर है। पहला चरण ऐसा सुंदर है कि उसमें न केवल स्त्रियों द्वारा व्यवहृत भाषा का यथार्थ रूप है,

प्रत्युत सिर पर हाथ दे मारने की स्त्रियोचित क्रिया का भी चित्रण है, जो नाटक के अंतर्गत निर्देशन-कला का काम भी करता है। वह कहती है कि मैंने तो तुम्हारी भलाई की बात ही कही थी, पर तुम उससे दुःखी हो गईं और मुझे 'घरफोरी' कह दिया। मैं 'घरफोरी' तो नहीं हूँ पर मेरा कपाल अवश्य फोड़ने योग्य है। अब भी उत्तर न देकर मंथरा कहती है—

कहहिं झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुमहिं करुइ मैं माई।

आह, उत्तर तो नहीं है पर प्रत्येक पद इतना प्रभावशाली है कि मंथरा की पूर्वकथित बातों को और अधिक बल मिलता चला जाता है। मानों वह कहती है कि मैंने जो कहा, सच ही कहा, अब तुम मानो या न मानो और चाहे प्रसन्न हो या अप्रसन्न। मैं तुम्हें कड़ुई लगती हूँ तो क्या उपाय है। तुम्हें वही प्रिय है जो झूठ-सच बात बनाकर कहे। अच्छा, तो अब मैं अपना स्वभाव ही बदल दूँगी और—

हमहुँ कहब अब ठकुरसुहाती, नाहिं त मौन रहब दिन राती।

यह चौथा जोर है। मंथरा कहती है कि या तो स्वभाव बदलकर मैं भी खुशामद की बातें किया करूँगी अथवा यदि स्वभाव न बदल सकी तो फिर मौन ही रहा करूँगी। पद बड़े मार्के का है। 'ठकुरसुहाती' ने यहाँ कैसी सजीवता ला दी है। कैकेयी की उत्कंठा को इतना जाग्रत करने के उपरांत चुप रहनेवाला प्रस्ताव तो उसे और भी भड़का देने वाला है।

करि कुरूप विधि परबस कीन्हा, बवा सो लुनिय लहिय जो दीन्हा।

कैकेयी ने मंथरा में जो जो बुराइयाँ बताई थीं उन्हीं के आधार पर मंथरा करुणा उत्पन्न करना चाहती है, मानों कहती है कि यदि मैं

कुरूप हूँ तो इसमें मेरा क्या दोष है । यह तो विधाता की कृति है । चेरी होना भी भाग्य की बात है जिसने मुझे 'परबस' बनाया, हाँ यह भाग्य यदि मेरे ही कर्मों का फल है तो उसे सहन करूँगी । इतना ही नहीं, बल्कि चेरी ही होने से अपना निःस्वार्थ वह इस प्रकार सिद्ध करती है—

कोउ नृप होइ हमहिं का हानी, चेरी छाँड़ि न होवै रानी ।

मैं तो निस्स्वार्थी हूँ, क्योंकि राज्य-परिवर्तन से मेरा न कुछ बनेगा न बिगड़ेगा, मैं तो चेरी की चेरी ही रहूँगी । परंतु संकेत स्पष्ट है कि तुम्हारा भविष्य अवश्य बने या बिगड़ेगा । यह पद इतना उत्तम है कि प्रत्येक हिंदी-भाषी की जिह्वा पर रहता है, परंतु इसका प्रयोग अधिकतर ठीक अर्थ में नहीं होता । सच है, नाटककार कवियों के पदों का बहुधा गलत प्रयोग ही किया जाता है। इस पद का प्रयोग इस प्रकार होता है मानो इसमें कवि ने अपना कोई राजनीतिक सिद्धांत बताया है। इसका ध्यान नहीं रक्खा जाता कि यह पद एक कुटिल चेरी का कहा हुआ है और ऐसे समय पर कहा गया है जब वह एक षड्यंत्र की रचना कर रही थी । वह बड़ी चालाक है और यद्यपि मुँह से वैसा कहती है फिर भी वह राज्य-परिवर्तन का ही षड्यंत्र रचने जा रही है । इसीलिये मैं कहता हूँ कि नाटक पढ़नेवालों को बहुत सतर्क रहना चाहिए और किसी वाक्य का अर्थ ग्रहण करने में देश, काल और पात्र को न भूल जाना चाहिए । यह पद पोप कवि के उस पद की तरह कवि के विचार को प्रगट नहीं करता जिसमें उसने कहा है कि शासन के वाह्य रूप के लिये मूर्खों को लड़ने दो क्योंकि जिस शासन-प्रणाली का सर्वोत्तम प्रयोग होगा वही सर्वोत्तम है ।

जारै जोग सुभाव हमारा, अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ।

इसमें मेरा स्वार्थ नहीं, पर मैं अपने स्वभाव को क्या करूँ। वही जलाने योग्य है, क्योंकि मैं तुम्हारा अहित नहीं देख सकती। स्त्रियोचित भाषा का कितना यथार्थ और प्रभावोत्पादक रूप है। मंथरा आगे कहती है—

तातें कछुक बात अनुसारी। छमिअ देवि बड़ि चूक हमारी।

यह फिर दूसरी बार चुप हो जाना गजब की चाल है। कैकेयी के हृदय पर उसका कितना प्रबल प्रभाव पड़ा होगा, यह पाठक स्वयं सोच लें। मानो एक हितैषी बार-बार कुछ कहना चाहता है पर भय से कुछ रुक सा जाता है। कवि ने उस प्रभाव का कितना सुंदर चित्र अंकित किया है और सारे प्रबंध की कितनी सुंदर आलोचना की है! सच है, तुलसीदासजी अपने काव्य के स्वयं ही सर्वोत्तम आलोचक भी हैं।

गूढ़ कपट प्रिय बचन सुनि तीय अधर बुधि रानि,
सुर माया बस बैरिनिहिं सुहृद जानि पतियानि।

मंथरा के वाक्य गूढ़ कपट से भरे हुए हैं पर सुनने में प्रिय हैं। बेचारी रानी स्त्री-स्वभाव वाली है ही जिसमें हृदय-पक्ष की प्रधानता है। दूसरे दैव-माया वश! अतः वह उस कपट को ताड़ नहीं सकी और अपनी 'बैरिनि' को ही हितकारिणी समझ बैठी। 'रानी' शब्द आशय को और भी उभार देता है। राजस-गुण में राग-द्वेष का होना तो स्वाभाविक ही है। फिर कैकेयी पर प्रभाव क्यों न पड़े जिसके राज्ञी-पद में परिवर्तन होने की संभावना है? फिर भी कवि यह कहकर कैकेयी के लिये बचाव का एक मार्ग रहने देता है कि यदि वह दैव-माया के वशी-भूत न होती तो कदाचित अब भी एकदम लाचार न हो जाती।

[यहाँ कवि की उपस्थिति कितनी आवश्यक है जो परिस्थियों तथा चरित्रों और उनके भाषणों की इतनी सुंदर व्याख्या करता है कि हम

भ्रम में नहीं पड़ सकते। यह नहीं कि शेक्सपियर की भाँति वह प्रत्यक्ष न हो और उसके आलोचकों को यह कहना पड़े कि हमें अंधकार में मार्ग ही नहीं दिखाई देता।]

सादर पुनि पुनि पूछति ओही, सबरी गान मृगी जनु मोही।

मंथरा के फंदे में अब रानी इस प्रकार उलझ गई है कि उसकी सुध-बुध शेष नहीं रही। मोह ने बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया है। उपमा इतनी अच्छी है उसमें मंथरा की चाल और उसका रानी पर प्रभाव तथा दुष्परिणाम, सभी सामने आ जाते हैं। आह, मंथरा की चुप्पी विलक्षण है। कितनी बार रानी ने हँस-हँस कर पूछा, फिर रुष्ट होकर पूछा, उसके बाद तार्किक प्रश्न किए और अब बार बार सादर पूछती है, परंतु उत्तर नहीं मिलता। और यदि मिलता भी है तो ऐसा कि उससे भय और शंका बढ़ती ही जाय।

मुझे तो यह संपूर्ण प्रसंग ओथेलो और यागो के पारस्परिक प्रश्नोत्तर आदि से भी अधिक सूक्ष्म और सबल दिखाई देता है।

तसि मति फिरी अहै जसि भावी, रहसी चेरि घात जनु फावी।

मंथरा की चाल चल गई अतः उसका प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है। अँगरेजी-पढ़े पाठक इसकी तुलना यागो की उस प्रसन्नता से करें जिसकी ओर ऊपर संकेत हो चुका है। परंतु एक अंतर भी स्मरण रखें कि यागो की प्रसन्नता वह शैतानी प्रसन्नता है जो चाल के प्रबल होने के कारण उसके प्रयोग से पूर्व ही उत्पन्न हो जाती है।

तुम्ह पूछहु मैं कहत डराऊँ, धरेउ मोर घरफोरी नाऊँ।

देखिए, मंथरा 'घरफोरी' वाले लांछन को एक बार पुनः स्पष्ट कर देती है जिससे प्रतीति में संदेह बिलकुल न रहे। पर यह स्पष्टीकरण

किस प्रकार होता है, यह विचारणीय है। वह कोई तर्कपूर्ण उत्तर नहीं देती ; और तर्कपूर्ण उत्तर होता ही क्या ? अब तो रानी में तर्क-बुद्धि ही निष्क्रिय हो चुकी है अतः व्यंगरूप में उस दोष का कह देना ही उस लांछन का सटीक उत्तर बन जाता है। कवि कहता है—

सजि प्रतीति बहु बिधि गढ़ि छोली, अवध साढ़साती तब बोली।

'सजि', 'गढ़ि' और 'छोली'—तीनों साफ बता रहे हैं कि मंथरा की चाल और उसके वाक्य बड़ी ही तैयारी से प्रयुक्त हुए हैं। हाँ, इस तैयारी को कविवर शेक्सपियर की भाँति यागो की स्वगत वार्ताओं की तरह समय से पहले व्यक्त नहीं कर दिया गया, अन्यथा हमारी उत्कंठा मंद पड़ जाती। 'साढ़साती' शनैश्चर की उपमा 'जनु' के साथ कितनी संकेतात्मक है। आधिदैविक प्रबंध की झलक एक बार फिर सामने आ जाती है, परंतु इस प्रकार नहीं कि हमारी करुणा और दया पर आवश्यकता से अधिक प्रभाव पड़े। आह, अब अयोध्या का 'साढ़साती' शनैश्चर अपना प्रहार करने के लिये सामने खड़ा है और जिस रानी कैकेयी द्वारा वह प्रहार होनेवाला है वह निर्बल-मोहित-मृगी सी सामने उपस्थित है।

अब हम ऐसे स्थान पर पहुँच गए हैं जहाँ से अयोध्या का भविष्य स्पष्टतः अंधकारमय दिखाई पड़ता है। उपर्युक्त पद में कवि ने कितनी स्पष्टता से कह दिया है कि मंथरा की चाल मस्तिष्कीय विचार का ही परिणाम है और भाषा भी खूब गढ़-छील कर बनाई गई है। 'सजि' शब्द से यह भी स्पष्ट है कि उसकी 'प्रतीति' दुष्टता का रूपांतर और केवल दिखाने के लिये है। सामाजिक मनोवैज्ञानिक उपन्यास कला का यह कितना सुंदर उदाहरण है और साथ ही कितना संक्षिप्त एवं सरस।

स्मरण रहे कि कैकेयी स्त्री है, इसलिये चाहे उसका मस्तिष्क कितना ही सबल क्यों न हो, उसमें हृदय-पक्ष की ही प्रधानता है । मंथरा इसे भली भाँति जानती है और इसीलिये तार्किक शैली को छोड़ राग-द्वेष के भावों को उभारकर ही काम लेती है । वह कैकेयी की तार्किक शैली को तनिक मस्तिष्कीय प्रयत्न द्वारा ऐसी सुंदरता के साथ फेर देती है जैसे पेंच घुमाया जाता है । प्रयत्न इतने सफल तथा मार्मिक हैं और उनमें बुद्धि की इतनी तीव्रता है कि एक साधारण राज-सखी से बन पड़ना असंभव है । इसी कारण नाटकीय महाकाव्य-कला की दृष्टि से मंथरा के मस्तिष्कीय साहाय्य के हेतु सरस्वती का सहयोग अत्यावश्यक है । पाठकगण अप्रसन्न न हों, स्त्रियों में हृदय-पक्ष की प्रधानता दोष नहीं प्रत्युत गुण ही है । स्त्री हृदय की देवी है, और इसी कारण स्वर्गीय ठाकुर महोदय ने कहा है कि स्त्री ने मानव जाति की पाशविकता का संशोधन अपने प्रेम एवं त्याग द्वारा किया है । हाँ, यदि यह भाव किसी बुराई की ओर लगे या लगा दिए गए तब वह निःसंदेह पिशाचिनी का रूप धारण कर लेती है । यही अवस्था मनुष्य की है, जिसमें मस्तिष्क-पक्ष की प्रधानता है । यह मस्तिष्कीय रुझान यदि भलाई की ओर हुआ तो उसने शास्त्रीय विवेचन तथा वैज्ञानिक आविष्कारों से मानवीय ज्ञान के भांडार को भर दिया । परंतु इसी शक्ति के दुरुपयोग से नास्तिकता एवं पाशविक वैज्ञानिक सभ्यता आज संसार में हाहाकार उत्पन्न कर रही है । अस्तु ।

अब तनिक पेंच के घुमाने का प्रथम उदाहरण ही देखिए—

प्रिय सिय-राम कहा तुम रानी, रामहिं तुम प्रिय सो फुर बानी ।

यह बात सच है कि तुमको राम से प्रेम है, पर क्या इससे यह बात भी तर्कसम्मत सिद्ध हो सकती है कि तुम भी राम को प्रिय हो ? अर्थ तो यही है, परंतु दूसरे अंश को कितना मार्मिक और प्रभावपूर्ण रूप दिया

गया है। 'रामहिं तुम प्रिय' ये शब्द कहकर मंथरा रुकती और अपनी वाणी को संदेहात्मक और धीमी बनाकर कहती है—'सो फुर बानी'। कितना सुंदर श्लेष है। इस पद ने केवल कैकेयी के मस्तिष्कीय प्रवाह को ही नहीं पलटा, प्रत्युत अयोध्या के भाग्य को भी पलट दिया !

कदाचित कैकेयी के मस्तिष्क में ऐसी संभावना का कोई अंश बच रहा हो कि आखिर राम का मेरे प्रति स्नेह होना तो वैसी कोई अनहोनी बात नहीं है, क्योंकि अब तक उनके आचरण से भी वैसा ही प्रगट होता रहा है, अतः मंथरा पुनः कहती है—

रहा प्रथम अब ते दिन बीते। समौ फिरे रिपु होहिं पिरीते॥

प्रीति-परीक्षा वाली कैकेयी की उक्ति का कितना अच्छा उत्तर है। परंतु है यह उसी शैली पर कि मस्तिष्कीय प्रयत्न से प्रारंभ कर के भाव पर ही विशेष जोर दिया जाय। अन्यथा कैकेई की तर्क-प्रधान बुद्धि में यह बात आसानी से आ जाती कि बिना वास्तविक उदाहरण के यह कैसे मान लिया जाय कि राम को उसके प्रति स्नेह नहीं। पर वहाँ तो प्रयत्न यह है कि संदेह पैदा करके मस्तिष्क की कल्पना शक्ति को सामान्य उदाहरणों से कुंठित कर दिया जाय जिसमें विशेष अवस्था पर विचार करने की सामर्थ्य ही शेष न रहे। इसकी आवश्यकता इस कारण और भी है कि राम के आचरण पर दोष लगाना कठिन ही था। इसलिये मंथरा एक चतुर वकील की तरह राम के पूर्व प्रेम-मय व्यवहार को 'रहा प्रथम' कह कर मानो एक प्रकार से मान लेती है और फिर उसी चतुराई से 'परंतु' के साथ पासे को पलटते हुए यह दिखाती है कि समय के फेर से अपने मित्र भी किस प्रकार शत्रु बन जाते हैं। इसके निमित्त वह प्रकृति से कितना अच्छा उदाहरण देती है—

भानु कमल-कुल पोषणहारा, बिनु जल जारि करै सोइ छारा।

सूर्य के लिये पहले भी कहा गया है कि—

'पंकज कोक लोक सुख दाता।'

वही सूर्य जल के बिना कमल को जलाकर भस्म कर देता है।

कदाचित् फिर भी राम पर पूरा अविश्वास न होता, अतः स्त्री-हृदय के सबसे प्रबल भाव अर्थात् सौतियाडाह से सहायता ली जाती है और मंथरा मानो यह कहती है कि तुम अपना सारा ध्यान राम पर ही क्यों जमाए हो? असल बात तो यह है कि कौशल्या ने राजा को प्रभावित करके सारा षड्यंत्र रचा है—

जरि तुम्हारि यह सवति उखारी, रूँधहु करि उपाय बर वारी।

देखिए, कैसी चतुराई से मंथरा कैकेयी को प्रभावित कर और अधिक विचार का अवकाश न देते हुए आई हुई विपत्ति के दूर करने का उपाय बताती है और फिर कौशल्या और दशरथ के संबंध में कहती है—

तुमहिं न सोच सुहाग बल निज बस जानहु राउ।
मन मलीन मुँह मीठ नृप राउर सरल सुभाउ॥

मंथरा कहती है कि तुम तो ऐसी सीधी सादी हो कि राजा के कपट को पहचान नहीं सकतीं, क्योंकि वह मुँह के मीठे हैं। तुम अपने सुहाग के घमंड में हो और समझती हो कि राजा तुम्हारे वश में हैं। यही तुम्हारी भूल है।

आह! विष काम कर चुका है। पहले जिन बातों पर कैकेयी अप्रसन्न हुई थी और उसने जीभ कढ़ाने की बात कही थी, उन्हीं को अब वह ध्यान से सुन रही है। प्रश्न होता है कि आखिर कौशल्या ने क्या किया। इस मस्तिष्कीय प्रश्न को चतुर कैकेयी एक संदेहजनक भूल कह कर टाल देती है। देखिए—

चतुर गँभीर राम-महतारी, बीच पाइ सब बात सँवारी।
पठए भरत भूप ननिऔरे, राम-मातु-मत जानहु रौरे॥

कितनी विकट चाल है ! भरत साधारण रूप से अपनी ननिहाल गए थे परंतु उसे कौशल्या के सिर मढ़ दिया जाता है। हाँ, शीघ्रता में राजा से इतनी भूल अवश्य हुई थी कि उन्होंने भरत को उस समय बुलाया नहीं था। हम जानते हैं कि इसमें राजा का कोई कपट न था, परंतु इस आकस्मिक भूल पर ही मंथरा संदेह की पूरी दीवार खड़ी कर देती है। इसीलिये दुःखांत नाटकीय कलाकारों का सिद्धांत है कि बड़े लोगों की तनिक सी आकस्मिक भूल भी बहुधा बड़ी शोचनीय घटनाओं का कारण बन जाती है। शेक्सपियर के पाठक यदि मंथरा की चालों की तुलना यागो की उन चालों से करें जिनके द्वारा उसने डेस्डिमोना के प्रति उसके पति के हृदय में शंका उत्पन्न की है, तो उन्हें बड़ा आनंद आएगा। वहाँ भी एक रूमाल का गिर जाना ही अनर्थ का कारण हो गया। लोग हैमलेट को 'बिलंब का दुःखांत परिणाम' कहते हैं। मैं अयोध्याकांड के आरंभिक अंश को 'आतुरता का दुःखांत परिणाम' मानता हूँ।

'साकेत' में श्री मैथिलीशरणजी ने इस प्रसंग का बहुत सुंदर वर्णन किया है। मंथरा कहती है—

भरत को करके घर से त्याज्य, राम को देते हैं नृप राज्य।
भरत से सुत पर भी संदेह, बुलाया तक न उन्हें जो गेह।

अतः यह बात थी जो कैकेयी के हृदय में लग गई। मंथरा फटकारी अवश्य गई, परंतु विष का जो बीज वह कैकेयी के हृदय में बो गई थी, वह अंकुरित हुए बिना न रहा—

गई दासी, पर उसकी बात, दे गई मानो कुछ आघात—
'भरत से सुत पर भी संदेह, बुलाया तक न उन्हें जो गेह।'
पवन भी मानो उसी प्रकार, शून्य में करने लगा पुकार—...

'भरत से···गेह'

गूँजते थे रानी के कान, तीर सी लगती थी वह तान—

'भरत से···गेह'

इतना ही नहीं, यही विचार अनेकानेक भाँति से कैकेयी के मस्तिष्क में चक्कर काट रहा था, पर गुप्त जी ने कैकेयी को सब बातों से अभिज्ञ रखा है। वर्णन बड़ा अच्छा है, पर अधिक दोष उसमें कैकेयी का ही प्रतीत होता है और कला का वह आनंद नहीं मिलता जो रामचरित-मानस में है। मानस की कैकेयी निर्दोष है। मंथरा ने स्वयं कहा है कि नगर को सजते हुए पंद्रह दिन हो चुके और तुम्हें आज मुझसे सूचना मिली है। इससे कैकेयी की अनभिज्ञता प्रगट होती है। मंथरा की चतुराई और कैकेयी पर उसका प्रभाव, इनका जिस सुंरदता से मानस में वर्णन है, वही शेक्सपियर कृत 'ओथेलो' नामक नाटक में यागो द्वारा ओथेलो के प्रति किए गए व्यवहार की तुलना में ठहर सकता है। फिर मानस में कैकेयी के चरित के दुःखांत पतन की विवेचना भी बड़ी सुंदर है। गुप्तजी के काव्य की सराहना हम अवश्य करेंगे, परंतु तुल-नात्मक व्याख्या के संबंध में तुलसीदास जी की सूक्ष्मदर्शिता की सराहना किए बिना नहीं रह सकते। शेक्सपियर और गुप्तजी, दोनों ने किसी अमानुषिक सत्ता की सहायता नहीं ली। शायद इसीलिये गुप्तजी ने दोष को थोड़ा थोड़ा दोनों में बाँट दिया है। कविवर शेक्सपियर ने तुलसीदासजी की तरह उस दोष को एकांगी ही रखा है। इसीलिये अंत में ओथेलो के मुँह से कुछ ऐसे शब्द कहलाए गए हैं जिनका अर्थ यह होता है कि यागो और शैतान में केवल इतना अंतर है कि शैतान की तरह यागो के पैरों में फटे हुए खुर नहीं हैं। हम तो यही कहेंगे कि शेक्सपियर ने भी यह अनुभव किया है कि ऐसे षड्यंत्र के हेतु अमानु-षिक शक्ति की ही आवश्यकता है, फिर चाहे वह आसुरी हो या दैवी। शेक्सपियर के नाटक में वह शक्ति अवश्य ही आसुरी जान पड़ती है

क्योंकि उसने सर्वथा नाश ही नाश किया है। तुलसीदास के राम-चरितमानस में सरस्वती का प्रभाव है अतः कुछ बाह्य कष्ट एवं दुःख अवश्य है पर अंततः सभी का कल्याण हुआ है। राजा की मृत्यु भी उनकी प्रेमाकांक्षा की ही पूर्ति में हुई है, क्योंकि उन्होंने वैसा ही वर माँगा था।

सालु तुम्हार कौसलहि भाई, कपट चतुर नहिं परै लखाई।
राजहिं तुमपर प्रेम बिसेषी। सवत सुभाव सकहि नहिं देखी॥

इस सौतियाडाह वाली बात को मंथरा बार-बार दुहराती है क्योंकि यही कैकेयी के प्रभावित होने का मर्म-स्थान है। यहाँ चोट पर चोट लगाई जाती है। राजा के विशेष प्रेम को किस चतुराई से उस डाह की वृद्धि का कारण बताकर दूषित किया जाता है--

रचि प्रपंच भूपहिं अपनाई। राम-तिलक हित लगन धराई॥

उपर्युक्त पदों में कैकेयी की तार्किक बुद्धि को किस सुंदरता से सौतिया-डाह के 'सुभाव' तक पहुँचा दिया गया है, क्योंकि स्वभाव के आगे फिर तर्क की गुंजाइश नहीं। और उस स्वभाव की दृढ़ नीव पर अयोध्या की सारी घटनाओं को पडयंत्र का रूप दिया गया है।

यह कुल उचित राम कहँ टीका। सबहिं सुहाइ मोहिं सुठि नीका॥

पद के द्वितीय दल में ध्वनि-परिवर्तन की व्यंजना बड़ी मार्मिक है। कैकेयी के तर्क का उत्तर नहीं। किंतु यह व्यंजना तो तर्क को ही उड़ा देती है।

आगिलि बात समुझि डर मोहीं। देउ दैउ फिर सो फल ओही॥

रचि पचि कोटिन कुटिलपन कीन्हेसि कपट प्रबोध।
कहेसि कथा सत सवति कै जेहि बिधि बाढ़ बिरोध॥
भावी बस प्रतीति उर आई। पूछ रानि पुनि सपथ देवाई॥

शेक्सपियर ने बहुत ठीक कहा है कि वर्तमान भय उतना बुरा नहीं जितनी भावी भय की कल्पना। कैकेयी का मस्तिष्क राम के और कुल के पूर्व आचार पर लगा हुआ था जिसमें त्रुटि निकालना असंभव था। इसीलिये भावी भय की कल्पना कर और सैंकड़ों सौतों की कथाएँ सुनकर कैकेयी का विरोध-भाव बढ़ गया और उसकी तर्क-बुद्धि का मानों बलिदान हो गया। मंथरा का यह उद्योग भी गुप्तजी की कविता में वर्णित नहीं है, पर इसके बिना न तो कैकेयी निर्दोष होकर ओथेलो की समानता कर सकती है और न मंथरा ही यागो के साथ टक्कर ले सकती है। फिर भी कवि अंतिम पद में यही कहता है कि यह सब भावी के वश हो रहा है, केवल मानवी षड्यंत्र का परिणाम नहीं। पद के अंतिम चरण से यह पता लग गया कि अब कैकेयी को मंथरा पर कुछ भरोसा अवश्य हो गया है, पर शपथ दिलाना तो स्पष्टतः यही सिद्ध करता है कि अब भी कुछ संदेह शेष है। धन्य है तुलसीदास की भाव-मर्मज्ञता!

शंका का कारण मंथरा का यह न बताना जान पड़ता है कि राम के राजतिलक से क्या हानि होगी। उसकी संपूर्ण वक्तृता में केवल आगामी भय की संभावना या दूसरी सौतों की कथाएँ ही थीं।

का पूछहु तुम अबहुँ न जाना। निज हित अनहित पसु पहिचाना॥

रानी की सरलता पर कितनी विष-बुझी आलोचना है। पर ध्यान देने की बात है कि यह तर्क-बुद्धि से अपील नहीं की गई, प्रत्युत स्वाभाविक जानकारी की ही ओर तर्क को मोड़ दिया गया है। हाँ, इसकी आड़ में तर्क-बुद्धि की चाल मंथरा ने अब भी नहीं छोड़ी—

भयउ पाख दिन सजत समाजू । तुम पाई सुधि मोसन आजू ।।

यदि वस्तुतः जान-बूझकर यह सारी सजावट कैकेयी से छिपाई गई होती तो क्या उसकी सहज-बुद्धि को भी उसमें 'अनहित' की गंध न आती ? यही मंथरा की तार्किक चाल है । हम जानते हैं कि मंथरा झूठ कह रही है, क्योंकि अयोध्या में यह काम बड़ी शीघ्रता से हुआ । यदि पंद्रह दिन का अवकाश होता तो भरत को बुलाना कैसे रह जाता ?

शेक्सपियर के पाठक यदि अयोध्या के इस षड्यंत्र की तुलना यागो वाले षड्यंत्र से करें तो उन्हें बड़ा आनंद आएगा । दोनों में कुटिलता ने प्रवंचना और मिथ्यात्व का सहारा लिया है और इस प्रकार प्रेम-संबंध को शत्रुता में परिवर्तित कर दिया है ।

देखिए, राम-राजतिलक के भावी परिणाम को किस भयानक रूप में रखा जाता है--

खाइय पहिरिय राज तुम्हारे । सत्य कहे नहिं दोष हमारे ।
रामहिं तिलक कालि जो भयऊ । तुम कहँ विपति-बीज बिधि बयऊ।
रेखा खींच कहौं बल भाषी । भामिनि भयउ दूध की माखी ।

प्रारंभ किस चतुराई से हुआ है कि अभी तो तुम्हारे राज्य में खाती-पहिनती हूँ, पर कल यह बात न रहेगी । पर यह बात भी इस तरह कही गई है कि राम की बुराई करने का उद्देश्य भी सिद्ध हो जाय और अपना अधिक स्वार्थ भी प्रत्यक्ष न हो । वक्तृत्व-कला के मर्मज्ञ इस 'रेखा खींच' और 'बल भाषी' की सराहना अवश्य करेंगे । क्या आपने सार्वजनिक भाषणों में नहीं देखा कि जब वक्ता को किसी बात पर बड़ा जोर देना होता है तो वह अपनी मुट्ठी जोर से मेज पर दे मारता है और अपनी आवाज को भी जोरदार बना देता है ? मंथरा लौंडी है, इसलिये रानी के सामने हाथ दे मारना धृष्टता होती, अतः यह रेखा खींचने वाली चाल बड़ी ही अच्छी है । ऐसा जोर देने के बाद वक्तृत्व कला यही चाहती

है कि बात भी ऐसी हो जो श्रोताओं के कानों में गूँजकर रह जाय। अंतिम पद का अंतिम चरण इसी कला का बड़ा सुंदर उदाहरण है। इस चरण में भविष्य की कितनी भयानक कल्पना है। एक रानी के सामने समस्या इस रूप में रखी जाती है कि वह आज रानी है और कल दूध की मक्खी की भाँति निकाल दी जायगी। मंथरा कैसी दुष्टता के साथ केवल एक उपाय की संभावना बताती है—

जो सुत सहित करहु सेवकाई, तौ घर रहहु न आन उपाई।

सच है, दूध की मक्खी की तरह निकाल दिया जाना भी उतना बुरा नहीं जितना रानी का लौंडी बनकर रहना।

कद्रू बिनतहिं दीन दुख तुमहिं कौसिला देव,
भरत बंदिगृह सेइहैं लखन राम के नेव।

मंथरा किस चतुराई के साथ एक ऐतिहासिक घटना का वर्णन कर भविष्य की भयानक कल्पना की ओर मुड़ जाती है। कैकेयी के लिये अपना घर से निकाला जाना या लौंडी बनकर रहना उतना भयानक भविष्य नहीं है जितना भरत का बंदीगृह में रहना और उनके स्थान में अनधिकारी लक्ष्मण का नायब बनना। कुटिलता की चतुराई यही है कि ऐसी कल्पना असंभव नहीं।

कैकय सुता सुनत कटु बानी, कहि न सकहि कछु सहमि सुखानी।
तन पसेव कदली जनु काँपी, कुबरी दसन जीभ तब चाँपी।

'रेखा खींच' से लेकर इन पदों तक 'टाकी'-कला का बड़ा ही सुंदर नमूना है जिसमें प्रगति का सूक्ष्म उलट-फेर बड़ा ही उत्तम है। शेक्सपियर के जीते-जागते चित्रों पर मोहित पाठक इन चित्रों पर

भी ध्यान दें। प्रथम पद में 'स' की प्रधानता कितनी सुंदरता से शब्दों में 'सकते' और 'सन्नाटे' की अभिव्यक्ति कर रही है। दूसरे पद के प्रथम चरण में मानव-प्रकृति का कितना सूक्ष्म प्रदर्शन है।

हिंदी पिंगल के जानकार कैकेयी-मंथरा की उपर्युक्त पारस्परिक वार्ता में विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव, संचारी भाव इत्यादि के विभागों को समझकर इस समस्त प्रसंग से अपूर्व आनंद उठाएँगे। मुझे तो पिंगल शास्त्र से बढ़कर अँगरेजी, उर्दू, फारसी, किसी भाषा में भी भावों तथा अलंकारों का इतना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन नहीं मिला। क्या बताएँ, हम लोगों की आदत ही ऐसी पड़ गई है कि पिंगल में थोड़े शब्दों वाले संकेतों से आनंद नहीं आता और इसीलिये लंबी-लंबी आलोचनाओं की आवश्यकता होती है। अस्तु।

अंतिम पद का अंतिम चरण स्पष्टतः इस बात का द्योतक है कि कैकेयी के 'सकते' और शरीर के काँपने तथा पसीना निकलने से मंथरा यह समझ गई कि विष की मात्रा आवश्यकता से अधिक हो गई है और इसीलिये उसने दाँतों-तले जीभ दबाई। उसे भय हुआ कि यह दशा कैकेयी को हतोत्साह और अकर्मण्य न बना दे। अतः अब वह विष उतारने का भी थोड़ा उद्योग करती है, परंतु इस चतुराई से कि आशा की झलक भी दिखाई पड़ जाय और कुटिलता भी न जाय; बल्कि यों कहिए कि कुटिलता के साथ आशा मिल जाय जो आगे सारे उद्योग का कारण बने—

कहि कहि कोटिक कपट-कहानी। धीरज धरहु प्रबोधेसि रानी॥

शब्द-गुण के रसिक यहाँ अनुप्रासों का आनंद लेंगे और भावों के मर्मज्ञ जन अनेकानेक कपट और धूर्तता की कथाओं से ढारस बँधाने की चतुराई की सराहना करेंगे। कवि स्वयं लिखता है—

कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू। जिमि न नवै फिर उकठा काठू॥

मुझे तो कैकेयी की दशा की इससे सुंदर, सूक्ष्म तथा संक्षिप्त आलोचना ध्यान में भी नहीं आ सकती।

शेक्सपियर के मर्मज्ञ इसपर विचार करें कि ओथेलो में इस विष के उतार की दशा का वर्णन नहीं है। संभवतः यदि यह उतारवाला भाव वहाँ भी होता तो डेस्डिमोना की जान न जाती। क्योंकि वहाँ यागो की किसी बात से यह नहीं प्रतीत होता कि वह उसकी जान लेना चाहता था, पर वह समझ नहीं सका कि जब विष अधिक हो जाता है तो काम और का और हो जाता है। इसीलिये तो मैं कहता हूँ कि मंथरा की चतुराई यागो से भी बढ़ी हुई है, भले ही दुष्टता बढ़ी हुई न हो।

इस पद की उपमा तुलसीदासजी की उन अनूठी उपमाओं में से है जिनके द्वारा उन्होंने साधारण बातों को भी सरस बना दिया है।

फिरा करम प्रिय लागि कुचाली, बकहिं सराहत मनहुँ मराली।

परिस्थिति की कितनी अच्छी आलोचना और सामाजिक मनोवैज्ञानिक उपन्यास कला का कितना सुंदर उदाहरण, एवं नाटकीय महा काव्य-कला का कितना उत्तम संकेत है

संदेहात्मक अवस्था से, जिसमें कैकेयी ने शपथ दिलाकर मंथरा से पूछा था, अब कैकेयी उस अवस्था में आ गई है जिसमें मंथरा पर पक्का भरोसा है। वह मंथरा की प्रशंसा ही नहीं करती अपितु अपने अनुभवों से उसके कथन का समर्थन भी करती है, जैसा आप आगे देखेंगे। शेक्सपियर ने भी ओथेलो के मुँह से यागो के संबंध में बार-बार 'ईमानदार यागो' जैसे प्रशंसात्मक शब्द ही कहलाए हैं।

सुनु मंथरा बात फुर तोरी, दहिन आँख नित फरकइ मोरी।
दिन प्रति देखहुँ रात कुसपने, कहौं न तोहिं मोह बस अपने।

नाटकीय विरोधाभास का सौंदर्य देखिए। 'कुसपने' होना और दाहिनी आँख का फड़कना भावी अमंगल की सूचना देनेवाली वास्तविक

घटनाएँ हैं। परंतु आह, कैकेयी इस समय यह समझ रही है कि राम-राजतिलक ही उस अमंगल का कारण बनेगा। उसे नहीं मालूम कि वास्तविक कारण इससे भिन्न है, अन्यथा वह अपने पैर में आप कुल्हाड़ी क्यों मारती ?

काह करौं सखि सूध सुभाऊ, दाहिन बाम न जानहुँ काऊ।
अपने चलत न आज लगि अनभल काहुक कीन्ह,
केहि अघ एकहिं बार मोहिं दैव दुसह दुख दीन्ह।

मंथरा अब 'सखी' के प्रिय शब्द से संबोधित की जा रही है और उससे अपने हृदय के सरल भावों का प्रगटीकरण किया जा रहा है।

दोहे के अंतिम चरण में कितना जोरदार अनुप्रास है, शब्द गुण के मर्मज्ञ इसका आनंद लेंगे। भावों के विवेचक इन पक्षों में निर्दोष कैकेयी के आज तक के सरल चरित का चित्र देखेंगे और तब भावी के करुणाजनक उलट-फेर का विरोधाभास और भी युक्तियुक्त जान पड़ेगा। परंतु है यह सब नाटकीय विरोधाभास के साथ ही। आज तक तो कोई स्पष्ट दुष्कर्म कैकेयी ने नहीं किया, परंतु आज वह कुपाठ पढ़कर ऐसा काम करने जा रही है जिससे दैव का दुःसह दुःख देना साधारणतः अकारण न प्रतीत हो।

कैकेयी के भाव-परिवर्तन का श्रेणीबद्ध वर्णन देखिए। पहले शून्यावस्था, फिर पसीना निकलना, देह काँपना, मंथरा के विष उतारने पर जबान का खुलना, आगे आनेवाले दुःखों की कल्पना, अपनी सिधाई पर पछताना और विधाता को दोष देना—ये श्रेणियाँ कितनी सूक्ष्म पर कितनी वास्तविक हैं।

रानी का स्वभाव अब भी इतना शुद्ध है कि उसमें दुराग्रह की भावना नहीं। न वह राजतिलक में विघ्न डालना चाहती है और न दूसरे को कष्ट देना। एक सीमा तक वह सत्याग्रही की भाँति स्वयं दुःख

सहन करना चाहती है। हाँ, विष का वह अंश अवश्य अपना काम कर चुका है जिसमें सौतियाडाह है। देखिए—

नैहर जन्म भरब बरु जाई, जियत न करब सवत सेवकाई।
अरि बस देव जियावत जाही, मरन नीक तेहि जिवन न चाही।

मायके में जन्म भर पानी भरना पसंद है परंतु शत्रु की अधीनता में रहना पसंद नहीं। एक क्षत्राणी से इससे अधिक अहिंसा की आशा करना भी ठीक न होगा। देखिए, कवि स्वयं कैकेयी की सारी वक्तृता की क्या आलोचना करता है—

दीन बचन कह बहु बिधि रानी,

आलोचक यदि तनिक भी असावधानी करे तो उसे कैकेयी की वक्तृता में अभिमान और आत्म-प्रशंसा दिखाई पड़ेगी। यदि असावधानी में कुछ और वृद्धि हुई तो कायरता का लांछन तक लगा देना वर्तमान आलोचकों के लिये कठिन न होगा। परंतु तुलसीदास केवल कवि ही नहीं सच्चे आलोचक भी हैं; इसीलिये उनकी समालोचना केवल आलोचना नहीं जो भाव के केवल एक अंग को देखती है, अपितु वह वास्तविक समालोचना है जो मर्मस्थल तक पहुँच जाती है। देखिए कैकेयी के भावों की व्याख्या 'दीन' शब्द से कितनी सुंदर हुई है। पद में कवि ने संकेत से यह भी बता दिया है कि वह उदाहरण मात्र दे रहा है, नहीं तो कितने ही और भी दीन वचन कहे गए हैं।

हाँ, हमें यह अवश्य प्रतीत होता है कि अब विष का पूरा प्रभाव पड़ चुका है और कैकेयी भावों की कठपुतली बन गई है। जो भाव उठता है, वही सीमा से बाहर हो जाता है। दीनता जाग्रत हुई तो उसने नैहर भाग जाने का विचार उत्पन्न किया। परंतु इससे भी मंथरा का काम नहीं बन सकता था। अतः हम आगे देखेंगे कि उसने किस चतुराई से फिर इस भाव-सूत्र का संचालन किया है।

हमने कविवर गुप्तजी के 'साकेत' के इस अंश को बड़े प्रेम से पढ़ा है और खड़ी बोली की शायद यही एक काव्य-पुस्तक है जिसे पढ़कर मेरे हृदय में आशा और गौरव के भाव उत्पन्न हुए हैं। इसलिये कहीं कहीं उसके अवतरण दिए बिना नहीं रहा जाता। तुलनात्मक व्याख्या से पाठकगण कहीं यह न समझें कि मेरा आशय गुप्तजी की कविता पर कटाक्ष करने का है, प्रत्युत वे जैमिनी के उस सिद्धांत को ध्यान में रखें जिसका उल्लेख मैं पहले एक बार शेक्सपियर के संबंध में कर चुका हूँ, कि तुलना में बहुधा बड़े की प्रशंसा ही इष्ट होती है, न कि छोटे की अप्रशंसा। हीरे की तुलना तो हीरे से ही की जायगी, काँच से नहीं, फिर चाहे हम 'कोहेनूर' हीरे को ही सर्वश्रेष्ठ कहें, अस्तु। देखिए, गुप्तजी कैकेयी का कैसा चित्र अंकित करते हैं—

> उठी आँधी-सी होकर भ्रांत,
> ... ...
> एड़ियों तक आ छूटे केश,
> हुआ देवी का दुर्गा—वेश।
> ... ...
> मत्त करिणी सी दलकर फूल,
> घूमने लगी आपको भूल।

चित्र कितना रौद्र है! उपमाएँ कैसी सुंदर हैं! परंतु इन पदों में दूसरे को दुःख देने का विचार कैकेयी में स्वयं उत्पन्न हुआ है। पूरे चित्रण में गुप्तजी ने उसका मस्त हथिनी जैसा रूप, ऐसी सूक्ष्मता से अंकित किया है कि घर का साज-सामान भी तोड़-फोड़ से बचा नहीं। वहाँ दीनता का पता नहीं, इसलिये कैकेयी के प्रति करुण-भाव भी उत्पन्न नहीं होता जो दुःखांत नाटकीय कला के लिये आवश्यक है। तुलसीदास जी ने भी इस अवस्था को छोड़ा नहीं है; आगे चलकर हमें इसका

मर्यादित रूप मिलेगा। परंतु उस समय हमारी करुणा के पात्र दशरथजी होंगे, मानो करुणा का पासा पलट जायगा। कब और किस अवस्था में यह पासा पलटेगा, इस विषय पर यदि पाठकगण सूक्ष्म दृष्टि से विचार करेंगे तो उन्हें बड़ा ही आनंद आएगा।

हाँ, मुझे गुप्तजी की एक बात पसंद नहीं, और वह है श्री दुर्गाजी से तुलना। आसुरी रौद्र रूप की तुलना दैवी रौद्र रूप से अनुचित है। हम आधुनिक कवियों से सविनय प्रार्थना करेंगे कि उन आधिदैविक सत्ताओं को नीचे न गिराएँ जिनकी हम पूजा करते हैं। इसी कारण तुलसीदासजी ने 'बाघिन', 'किरातिन' आदि से ही उपमा दी है। अस्तु।

अब मंथरा की चतुराई देखिए कि वह किस प्रकार इस निराशाजनक दैन्य भाव को पलटती है और उसमें आशा की झलक लाती है—

अस कस कहहु मान मन ऊना। सुख सुहाग तुम कहँ दिन दूना॥
जेहि राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यह फल परिपाका॥
जब तें कुमति सुना मैं स्वामिनि। भूख न बासर नींद न जामिनि॥
पूछेउँ गुनिन रेख यह खाँची। भरत भुवाल होहिं यह साँची॥
भामिनि करहु तो कहहुँ उपाऊ। है तुम्हरे सेवा बस राऊ॥

अब तर्क के थोड़े उद्योग की भी आवश्यकता शेष नहीं, अतः मंथरा भाव को भाव से ही फेर देती है और कहती है कि घबड़ाओ नहीं, तुम्हारा सुख और सुहाग नित्य दूना होगा और तुम्हारे शत्रु को ही उसकी करनी का पूरा और पक्का फल मिलेगा। वादे में कितनी आशा है। उसकी पूर्ति के लिये भी किसी तर्कपूर्ण युक्ति का आश्रय नहीं लिया जाता, अपितु झूठ के सहारे गुणी, सयानों की शकुनैती का नतीजा सामने रख दिया जाता है। मर्मज्ञ पाठकगण नाटकीय विरोधाभास का तो आनंद उठा

ही रहे होंगे। देखिए न, मंथरा कितनी झूठी है, पर कैकेयी पर विष का इतना प्रभाव है कि वह झूठ को ताड़ न सकी। अभी कल तक मंथरा आनंद से खूब खाती-पीती और सोती थी और आज यह ढोंग रचा है कि मुझे न दिन को भूख और न रात को नींद लगती है, और फिर वह भी 'जब ते' शब्दों के साथ, जिससे ज्ञात हो कि मानो बहुत दिन हो चुके।

अंतिम पद बड़ा ही मार्मिक है। इसका निश्चय कराते हुए कि भरत भुवाल होंगे, मंथरा उस गुणी का चित्र ही सामने रख देती है जिसने रेखा खींचकर यह बताया था।

यदि वस्तुतः गुणियों से पूछा गया था तो शेक्सपियर के पाठकों को उनकी तुलना 'मैकबेथ' वाली चुड़ैलों से करने में बड़ा आनंद आएगा। यहाँ मानवी भविष्य-सूचक-विज्ञान और मैकबेथ में पैशाचिक शक्तियाँ परिणाम तो बता देती हैं पर वह कैसे मिलेगा, यह छिपा हुआ है, और इसी से सारी गड़बड़ी पैदा होती है। फिर परिणाम भी संदेहात्मक शब्दों में ही बताया जाता है। मैकबेथ के राजा होने की भविष्य-वाणी भी ठीक थी और यहाँ भरत के भुवाल होने की भी, मगर हुईं वे बातें ऐसी दुर्घटनाओं के बाद, जिससे हमारा हृदय काँप उठता है। भरत भुवाल हुए सही, पर उस आशाजनक रीति से नहीं जिसकी आशा मंथरा यहाँ दिला रही है। उसके लिये कैकेयी द्वारा ही राजा की मृत्यु हुई और राम को वन जाना पड़ा। 'भुवाल' शब्द भी संदिग्ध ही है। साधारण बोल-चाल में तो वह 'युवराज' का पर्याय है, परंतु यथार्थतः वह 'भूपाल' का अपभ्रंश है जिसका अर्थ 'राजा' है।

मैंने यह तुलना 'यदि' शब्द से जान-बूझकर आरंभ की है क्योंकि अयोध्या में राम के विरुद्ध जब कोई था ही नहीं, तब वे सारी बातें बताईं किसने? फिर कहीं संकेत भी तो नहीं कि मंथरा किसी गुणी से मिली। यद्यपि नाटक-कला में यह असंभाव्य नहीं कि बीच का एक प्रसंग छोड़ दिया जाय और उसका परिणाम मात्र दूसरी जगह दिखा दिया जाय।

परंतु अधिक संभव यही है कि मंथरा ने वे सारी बातें स्वयं ही गढ़ ली हैं। जो भी हो, आनंद दोनों में है।

हम पहले भी बता चुके हैं कि विष के उतारने और उसकी तीव्रता को कम करने में हम मंथरा को यागो से बढ़कर कह सकते हैं। एक बात में वह और भी बढ़ी चढ़ी है। वह यह कि षड्यंत्र की सारी व्यवस्था मंथरा स्वयं बताती है और वहाँ ओथेलो को निःसहाय छोड़ दिया गया है, क्योंकि यागो ने कोई उपाय नहीं बताया। अंतिम पद में इसी उपाय का संकेत है। मंथरा किस मजे से कहती है कि यदि तुम उपाय करना चाहो तो मैं बताऊँ, क्योंकि राजा तुम्हारी सेवा के वश में हैं और तुम्हारे फंदे में फँस सकते हैं।

इसके पूर्व कि विषाद की समाप्ति होकर उद्योग का प्रारंभ हो, इतनी चेतावनी दे देना ठीक होगा कि शेक्सपियर ने संकेत रूप से और तुलसीदासजी ने स्पष्टतः यह बता दिया है कि मानवीय तथा पैशाचिक चतुराई भावी के प्रवाह को सर्वथा बदल नहीं सकती। राम की 'रचना' किसी भी षड्यंत्र से परिवर्तित नहीं हो सकती।

भामिनि करहु तो कहहुँ उपाऊ। हैं तुम्हरे सेवा बस राऊ॥

इस पद को उपर्युक्त पद-समूह से पृथक् करने का कारण यह है कि ऊपर इसकी उचित व्याख्या हो नहीं सकी।

पद बड़ा मार्मिक है। जब कैकेयी को कोई उपाय सूझता न था, उस समय इस पद से आशा दिलाई गई। परंतु चतुर मंथरा सारा उपाय एक साथ नहीं बता देती, अपितु ऐसे प्रश्न रूप में कहती है जिससे कैकेयी की उत्सुकता और बढ़े। 'करहु तो' एक क्षत्राणी की उद्योग-शक्ति को उभारने के लिये पर्याप्त है। फिर दूसरी ओर संकेत रूप से यह भी बता देते हैं कि मंथरा को अब भी शंका थी कि कहीं कैकेई की वह आत्मशक्ति जाग्रत न हो जाय जिसने एक बार 'जीभ काढ़ने' की चेतावनी दी थी।

भाव-प्रवाह की सूक्ष्म अवस्थाओं का कितना सुंदर निरीक्षण है। देखिए, इस तनिक सी रुकावट ने कैकेयी के उद्योग-भाव को कितना तेज कर दिया। अब फिर वही अवस्था हो गई है कि उद्योगवाले भाव अपनी सीमा से बाहर होते जान पड़ते हैं—

परौं कूप तव बचन पर, सकौं पूत पति त्यागि।
कहसि मोर दुख देखि बड़, कस न करब हित लागि॥

वस्तुतः उसकी बुद्धि सौतियाडाह से मारी गई है और आज वह केवल एक लौंड़ी के बहकाने पर 'पूत' और 'पति' तक के त्याग के लिये तैयार है! नाटकीय विरोधाभास का आनंद उठाइए और देखिए कि सचमुच पूत और पति दोनों का ही त्याग होगा परंतु किसी अन्य रीति पर, न कि उस प्रकार जिसकी वह कल्पना कर रही है। मंथरा चुप है और रानी की व्याकुलता बढ़ती जाती है। ऐसे अवसर पर कवि स्वयं परिस्थिति का व्याख्याकार बनकर किस सुंदरता से हमारे सम्मुख आता है। देखिए—

कुबरी करी कुबलि कैकेयी। कपट छुरी उर पाहन टेई॥

प्रथम चरण और दूसरे चरण के प्रथम शब्द में 'क' का अनुप्रास कितना सुंदर है, मानो कैकेयी कुबलि होने और कुबरी कपट के लिये ही बनी थी। 'कुबलि' शब्द एक प्रकार से संकेत रूप में द्वयर्थक भी है। यहाँ तो कैकेयी को पूर्णतः मंथरा के वश में होना व्यक्त कर रहा है, पर आगे के लिये यह संकेत भी है कि अब कैकेयी अबला से कुबला होने जा रही है।

लखै न रानि निकट दुख कैसे। चरै हरित तृण बलि पशु जैसे॥

मंथरा की चतुराई ने कैकेयी को बलि-पशु की भाँति ही विवश बना रखा है। मंथरा की दिलाई हुई आशा हरी घास की तरह है। पर वस्तुतः कैकेयी का भाग्य पलट रहा है और भावी दुष्परिणाम उसे उसी

प्रकार नहीं दिखाई देता जैसे बलिपशु को बलिदान का कष्ट। कवि पहले ही कह चुका है कि मंथरा चुप नहीं है, प्रत्युत अपने कठोर हृदय रूपी पत्थर पर कपट की छुरी तेज कर रही है।

यदि शेक्सपियर के पाठक इस छुरी टेनेवाले रूपक की तुलना शाइलाक के अपने तलवे पर छुरी टेनेवाली घटना से करें और यह ध्यान रखें कि उस समय शाइलाक पर कटाक्ष करते हुए कहा गया था कि—'ओ कठोर यहूदी! तू छुरी को अपने तलवे पर नहीं, बल्कि अपने आत्मा के पत्थर पर टे रहा है' तो उन्हें बड़ा आनंद आएगा। इस वाक्य की जो प्रशंसा की जाती है वह सर्वथा उचित है। यदि आप इसका ध्यान रखें कि वहाँ लोहे की छुरी भी थी और वस्तुतः एक मनुष्य का हृदय काटने का प्रश्न भी सामने था तो आपको तुलसीदास की काव्य-कल्पना की अवश्य सराहना करनी पड़ेगी जिसने इस रूपक के रूप में घटना की वास्तविक व्याख्या की है। आगे जो बात मंथरा कहनेवाली है उसका परिचय देते हुए कवि लिखता है—

सुनत बात मृदु अंत कठोरी। देत मनहुँ मधु माहुर घोरी॥

उपमा कितनी सरल पर कितनी मार्मिक है। हम कई बार कह चुके हैं कि तुलसीदासजी की नाटक-कला में कवि का व्यक्तित्व बहुत ही आवश्यक वस्तु है। इन पदों का आनंद लेते समय हमारे प्रिय पाठक भी हमसे अवश्य सहमत होंगे।

कहै चेरि सुधि अहै कि नाहीं। स्वामिनि कहेउ कथा मोंहि पाहीं॥
दुइ बरदान भूप सन थाती। माँगहु आजु जुड़ावहु छाती॥
सुतहिं राज रामहिं बनबासू। देहु लेहु सब सवत हुलासू॥

सारा उपाय मंथरा ने बता दिया, परंतु बारबार उसी सौतियाडाह पर ही जोर देती रही। लेन-देन की आलंकारिक युक्ति का भी खूब निर्वाह हुआ है।

श्री मैथिलीशरणजी ने मंथरा के मुँह से ये उपाय नहीं कहलाए और न कैकेयी को ही कोई युक्ति सूझी, क्योंकि वह तो क्रोध से पागल सी हो रही थी। गुप्तजी की कला में वरदानवाली बात आकस्मिक रीति पर स्वयं राजा के मुख से निकली है, जिसमें नाटकीय विरोधाभास का आनंद अवश्य अधिक आता है, क्योंकि अपने पैर में आप कुल्हाड़ी मारने की बात चरितार्थ हो जाती है। कारण यह जान पड़ता है कि गुप्तजी ने किसी अमानुषिक सत्ता की प्रेरणा का प्रश्न ही नहीं रखा और वास्तविक दोषों को भी थोड़ा-थोड़ा सभी पात्रों में बाँट दिया है। शेक्सपियर और तुलसीदास की कला में बुराई एक ओर से आती है और फिर समूचे वातावरण को घेर लेती है। इसलिये इन उभय कवियों की कलाओं में औरों के प्रति करुण-भाव अधिक रहता है और घृणा-भाव दो एक व्यक्ति तक ही सीमित रहता है। इन कवियों की कला में हमें बुराई-रूपी रोग की प्रत्येक अवस्था के विश्लेषण और विवेचन का अवसर मिलता है। तुलसीदास की कला में तो हमें आगे चलकर उस रोग संबंधी चिकित्सा की विवेचना भी मिल जाती है। अस्तु इस विषय में हम विस्तार से आगे कहेंगे। यहाँ इस प्रश्न का उत्तर देना है कि फिर तुलसीदासजी ने राजा के संबंध में वह नाटकीय विरोधाभास कैसे उत्पन्न किया जो हमें गुप्तजी की कविता में आनंद देता है। इसे विस्तृत रूप से आप आगे देखेंगे अतः यहाँ केवल संकेत कर देना ही अलम् होगा। कवि ने बड़ी सुंदरता से राजा दशरथ के मुँह से सत्य की लंबी-चौड़ी सराहना कराई है और फिर सरल स्वभाव के कारण उनके मुँह से यह भी कहला दिया है कि—

दुइ के चार माँग किन लेहू।

बस, नाटकीय विरोधाभास का आनंद उमड़ आता है। सोचिए तो सही कि चार वरदानों की कौन कहे एक राम-वनवास वाले बरदान से ही राजा की मौत हो गई। गुप्तजी के काव्य में सत्य की सराहना भी नहीं,

अतः आत्मिक तथा नैतिक दृष्टि से तुलसीदास का चित्रण बड़े महत्व का है। उसका पूर्ण गौरव आप स्वयं देखेंगे, पर यदि आप नीचे लिखी बात पर ध्यान रक्खेंगे तो आप को अधिक आनंद आएगा—

शेक्सपियर के आलोचक बड़े गर्व से कहते हैं कि ओथेलो की मृत्यु और डेस्डिमोना की हत्या वस्तुतः कीर्ति की वेदी पर बलिदान ही है। दशरथ जी ने भी सत्य की वेदी पर पुत्र-त्याग रूपी बलिदान किया तो प्रेम की वेदी पर अपने को भी बलिदान कर दिया। कवि ने स्वयं बड़े गौरव से लिखा है कि—

तन परिहरेहु प्रेम-पन राखा।

अंतिम पद बड़ा मार्मिक है। चतुर चेरी पहले भरत के राज्य की बात कहती है जिससे उसी लालच में और उसी की पुष्टि के लिये राम-वनवास वाला वरदान माँग लिया जाय। साथ ही वह सौतियाडाह का भी स्मरण एक बार पुनः करा देती है, जिसमें राम-प्रेम बाधक न बन सके।

भूपति राम सपथ जब करई, तब माँगेहु जेहि बचन न टरई।

चेतावनी अत्यावश्यक है। राम पर राजा का स्नेह इतना प्रगाढ़ था कि साधारण शपथ पर राजा का पलट जाना भी संभव था, क्योंकि सत्य की सराहना और राम-शपथ के बाद भी उनका हृदय पीपल के पत्ते सा काँपता था और वह चाहते थे कि किसी प्रकार राम का वन जाना रुक जाय। वियोग-व्यथा के सन्निपात ने कम से कम सुमंत को तो कहला ही दिया था कि राम को समझा-बुझाकर दो चार दिन वन की सैर करा के यहाँ लौटा लाना। वाल्मीकिजी ने तो राजा के मुँह से यहाँ तक कहला दिया है कि हे राम! तुम मुझे वंदी बना लो कि तुम्हारा अधिकार भी न जाय और मेरी सचाई भी न मिटे। श्री गुप्तजी ने यही बात लक्ष्मण द्वारा कहलाई है। तुलसीदास जी का वर्णन इन दोनों से

बढ़ कर है। यह प्रसंग कुछ आगे का है, पर बात छिड़ जाने पर कुछ व्याख्या भी आवश्यक जान पड़ती है। उन्होंने जितना भी आग्रह-अनुरोध कराया है, वह सब कैकेयी के प्रति। ये आग्रह बड़े करुणाजनक हैं। जब कैकेयी इतने पर भी नहीं मानती तब राजा कहते हैं कि जान पड़ता है मेरी मृत्यु पिशाच रूप से तुझको लग रही है। तदनंतर उन्होंने बड़ी दृढ़ता से डाँट कर कहा है कि मालूम नहीं होता, तू कौन है। तू जो कोई भी हो, अब मेरी आँखों के सामने से हट जा और कोई दूसरी बात मत कह! इसके उपरांत राजा की दशा सन्निपात पीड़ित मनुष्य की सी हो गई है। इसकी विवेचना आगे होगी। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त है कि सुमंत से कहते समय भी सत्य का विचार राजा के मस्तिष्क से बिल्कुल चला नहीं गया था, क्योंकि उन्होंने तुरंत ही कहा था कि यदि सत्य के व्रती राम लौटना न पसंद करें तो सीता को ही लौटा लाना क्योंकि उनको तो वनवास नहीं दिया गया। गुप्तजी तथा वाल्मीकिजी की युक्तियाँ राजनीतिक दृष्टि से भले ही अच्छी लगें परंतु धार्मिक दृष्टि से तो उनमें सत्य का केवल शाब्दिक व्यवहार है। श्री लौटूसिंह गौतम, एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० आर० ए० एस० ने 'कल्याण' के रामांक में प्रकशित अपने 'रामायण और राजनीति' शीर्षक लेख में ठीक ही लिखा है कि रामायण की राजनीति का आधार धर्म है। मेरी समझ में तो राजनीति की दृष्टि से भी वे युक्तियाँ ठीक नहीं, क्योंकि हत्या और कैद के दुष्परिणामों को हम मुगल इतिहास में भी भली भाँति देख चुके हैं। फिर जिसे हम निरायुध स्वशासन का पर्याय समझते हैं, वह अयोध्या तो अयोध्या रह ही न जाती और महाभारत की घटनाएँ भी वहीं आरंभ हो जातीं। इसीलिये तुलसीदास जी ने अपनी कल्पना में भी उन युक्तियों को स्थान नहीं दिया। कैसी प्रशंसनीय सतर्कता है!

होहि अकाज आज निसि बीते, बचन मोर प्रिय मानहु जी ते।

शेक्सपियर के मर्मज्ञ यागो के षड्यंत्र से ओथेलो के अनभिज्ञ रहने का कारण यही बताते हैं कि अंतिम घटनाएँ एक दूसरे के पश्चात् बड़ी शीघ्रता से हुईं। बात भी सच है। धोखा और झूठ अधिक टिकाऊ नहीं होता। इसीलिये मंथरा पुनः जोर देती है कि आज रात को तुमने असावधानी की तो कल सारा मामला ही बिगड़ जायगा। राम राजा होंगे और तुम्हारे दुर्भाग्य का आरंभ होगा। वह यह भी स्पष्ट रूप से कह देती है कि मेरी बात जी से मानना। संकेत है कि मस्तिष्कीय उधेड़-बुन छोड़ दो। मंथरा अपनी चाल के संबंध में कोई भी बात बताने से नहीं चूकती और कहती है—

बड़ कुघात कर पातकिन कहेसि कोप गृह जाहु।
काज सँवारेहु सजग सब सहसा जनि पतियाहु॥

शीघ्र विश्वास न करनेवाली चेतावनी बड़ी मार्मिक है। हम पहले कह आए हैं कि कैकेयी ने मंथरा की बड़ी प्रशंसा की है। उस समय जो प्रशंसा हुई वह उतनी अधिक न थी, किंतु अब तो तारीफ के पुल बाँधे जाते हैं। देखिए—

कुबरी रानि प्रानप्रिय जानी। बार बार बड़ि बुद्धि बखानी॥

दूसरे चरण में 'ब' के अनुप्रास का आनंद तो है ही, परंतु अधिकतर स्वर और व्यंजन (आ, र, ड़) इस प्रकार प्रयुक्त हुए हैं कि आप उस चरण को शीघ्र पढ़ नहीं सकते। एक एक शब्द पर रुकना पड़ेगा, जिसमें यह बात भले प्रकार हृदयंगम हो जाय कि कई बार बड़ी बड़ी तारीफ की गई। कवि तो एक-आध उदाहरण देगा और उदाहरण देने से पहले उसने इस पद में भी मंथरा की बुद्धि की बड़ाई का बखान कराया है। बुद्धि का दुरुपयोग भले ही कहा जाय, परंतु बुद्धि की बड़ाई की व्याख्या तो हम भी ऊपर कर चुके हैं। इसीलिये दुःखांत नाटक-कला का

एक सिद्धांत यह भी है कि बुराई जहाँ एक बार पैदा हुई कि वह अच्छे से अच्छे गुण को भी अपने ही रंग में रँग लेती है। इसीलिये नाटकीय-कला हमें चेतावनी देती है कि हम बुराई को पास न आन दें—चाहे वह कितनी ही छोटी क्यों न हो। यही उस कला का नैतिक आशय भी है।

तोहि सम हित न मोर संसारा। बहे जात कर भयसि अधारा।

द्वितीय चरण में कैकेयी की उस दीन दशा का वर्णन है जिसकी व्याख्या हम पहले कर चुके हैं और संकेत रूप में यह भी बता चुके हैं कि मंथरा ने किस प्रकार उसमें आशा की झलक उत्पन्न की थी। समयानुसार यह प्रशंसा भी कुछ बहुत अनुचित नहीं है।

समय का उलट फेर देखिए और मंथरा द्वारा दिए गए विष का प्रभाव भी। ये तारीफ के पुल उसी मंथरा के निमित्त हैं जिसे 'घरफोरी' कहा गया था।

जो बिधि पुरव मनोरथ काली। करहुँ तोहिं चकपूतरि आली॥

'जो' से आरंभ होनेवाली यह उक्ति बड़ी मार्मिक है। एक ओर तो यह कैकेयी के हृदय की शंका प्रगट करती है और दूसरी ओर उससे भी अधिक हमें नाटकीय विरोधाभास का आनंद देती है, क्योंकि मंथरा का जो वास्तविक प्रयोजन है वह पूरा न होगा। होगा वही जो विधाता ने रचा है। महाकाव्य-कला का यह बड़ा ही सुंदर संकेत है और इतना सूक्ष्म है कि नाटक-कला में कोई गड़बड़ी नहीं होती। परंतु हमारे सामने 'मेरे मन कछु और है विधना के मन और' वाली बात आए बिना नहीं रहती। अस्तु। इस समय तो दोनों अपने-अपने मन-मादकों के स्वाद में मग्न हैं—एक राज-माता बनने के और दूसरी 'चखपूतरि।'

बहु बिधि चेरिहिं आदर देई। कोपभवन गवनी कैकेई॥

जिन हाव-भावों से मंथरा का आदर किया गया होगा उनका अनुमान फिल्म देखनेवाले पाठक खूब कर सकगे और कवि के इस संकेत की सराहना करेंगे। अस्तु, कैकेयी कोप-भवन को चली और नाटक का पटाक्षेप हुआ।

इसके बाद मंथरा केवल एक बार और हमारे सामने आएगी जिसकी व्याख्या यथास्थान होगी। परंतु इस समय तो वह हम से विदा हो रही है, अतः यहाँ उसके संबंध में एक बात और कह देना उचित जान पड़ता है। वह सरस्वती की सहायता से यागो की अपेक्षा अधिक चतुर अवश्य हो गई थी और उसने अपनी चतुराई का प्रयोग सामयिक कुटिलता के लिये ही किया था, पर वह दैवी शक्ति के अधीन है अतः उसमें वह पैशाचिक हर्ष नहीं जो यागो में या अपने षड्यंत्र की थोड़ी-बहुत सफलता पर मैकबेथ वाली चुड़ैलों में पाया जाता है। कवि ने इस विदा के समय मंथरा के मुख से कोई हर्षसूचक बात नहीं कहलाई और न उसके हाव-भाव के निमित्त ही कोई संकेत किया।

अब दृश्य-पट परिवर्तित होता है और मंथरा के स्थान में कैकेयी मुख्य अभिनेत्री बनती है। आगामी अंश की तुलना में कैकेयी का चरित अधिकांशतः मैकबेथ और उसकी स्त्री से मिलता है, इसलिये उसकी तुलना 'मैकबेथ' की तुलना के साथ की जायगी। इसी तरह महाराज दशरथ की तुलना किंग लियर से की जायगी। यहाँ हम आगेवाले अंश में महाराज दशरथ की कुछ तुलना डेस्डिमोना से करेंगे, क्योंकि जिस प्रकार यागो से प्रभावित होकर ओथेलो ने अपनी स्त्री डेस्डिमोना का गला घोंट दिया था उसी प्रकार कैकेयी मंथरा से प्रभावित होकर अपने पति की मृत्यु का कारण बनी। परंतु वह अंश आरंभ करने के पूर्व कैकेयी और ओथेलो की तुलना के निमित्त दो-एक आवश्यक बातें हमें और कहनी हैं।

हम पहले कह आए हैं कि जब बुराई उत्पन्न हो जाती है तो वह हमारे सद्गुणों को भी अपने ही रंग में रँग लेती है। बैडले महोदय बिलकुल ठीक कहते हैं कि ओथेलो. जैसे वीर महारथी के लिये एक बार दृढ़ निश्चय कर लेने पर पुनः किसी प्रकार डिग जाना असंभव था। कैकेयी भी एक क्षत्राणी है जिसने किसी समय समर-भूमि में रथ के धुरे की जगह अपना हाथ लगा दिया था। ऐसी क्षत्राणी की दृढ़ता का क्या कहना। परंतु आह, हमें वही गुण अवगुण रूप में दिखाई देगा और दृढ़ता हठ बन जायगी। ओथेलो को समझाने का तो किसी को अवसर ही नहीं मिला पर कैकेयी को समझाने वाले एक नहीं सैकड़ों थे। फिर भी उसने अपनी हठ न छोड़ी।

ब्रैडले ने ओथेलो की क्रुद्ध अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसकी क्रोधाग्नि इस प्रकार धधकती है जैसे गंधक की खान। उन्होंने उसकी उपमा 'तत्वों के प्रबल उद्वेग' से दी जाती है। गुप्तजी ने भी, जैसा ऊपर कहा गया है, कैकेयी का आसुरी रौद्र रूप बहुत सूक्ष्मता से अंकित किया है। तुलसीदासजी ने भी उस रूप का वर्णन कई बार किया है। यहाँ केवल एक उदाहरण दिया जायगा। पर स्मरण रहे कि अभी क्रुद्धावस्था के उत्पन्न होने के लिये बहुत सी श्रेणियाँ शेष हैं और उन सबका वर्णन किए बिना हमारा महाकवि वह अवस्था उत्पन्न न करेगा। अस्तु उस अवस्था की उत्पत्ति के कारण का भी थोड़ा दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

राजा ने जब सत्य की बड़ी लंबी चौड़ी सराहना की, पर बरदान देने में आगा-पीछा करने लगे तब कैकेयी के क्रोध का उद्दीपन हुआ। उसने कहा—

सत्य सराहि कह्यो बर देना। जानेहु लेइहि माँगि चबेना।
भरत कि राउर पूत न होहीं। आनेहु मोल बिसाहि कि मोहीं॥

अब कैकेयी के क्रोध का चित्र देखिए।

असं कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहु रोष तरंगिनि बाढ़ी।
पाप पहाड़ प्रगट भई सोई। भरी क्रोध जल जात न जोई॥
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी बचन प्रचारा॥
ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला।
लखी नरेस बात सब साँची। तिय मिसु मीच सीस पर नाची॥

परंतु स्मरण रहे कि तुलसीदासजी ने इस आसुरी रौद्रावस्था की उपमा 'किरातिन', 'भिल्लिन', 'बाघिन-भूखी', 'करिनि', नंगी तलवार आदि से ही दी है। इसी कारण हमें गुप्तजी की 'दुर्गा' वाली उपमा पसंद नहीं, क्योंकि देवी रौद्र रूप 'दैत्यानां देह नाशाय भक्तानामभयाय च' ही होता है।

घ—महाराज दशरथ और डेस्डिमोना

आइए, अब हम दशरथ के चरित के उस अंश की तुलना डेस्डि-मोना से करें जिसमें वह अपने प्रेम और विश्वास के कारण अपनी प्रेमिका के ही हाथों मौत के घाट उतारे गए। ब्रैडले महोदय ने ठीक ही कहा है कि डेस्डिमोना की परेशानी और आपत्ति ठीक उस असहाय प्राणी की तरह है जिसे ऐसे व्यक्ति से दुःख पहुँचता है जो उसे बहुत ही प्रिय है। इसी भाँति महाराज दशरथ की मृत्यु का कारण वही रानी बनी है जो उन्हें सर्वाधिक प्रिय थी। आह, दशरथ की विवशता के कारण स्वयं उन्हीं के वचन और धर्म के बंधन हैं। और जब हम देखते हैं कि यही सत्याचरण और धर्मपरायणता उनकी मृत्यु का कारण हुई तो करुणा की सीमा नहीं रहती। राजा का यह प्रस्ताव कि यदि कैकेयी राम-वनवास वाले वरदान को वापस ले ले तो भरत को प्रसन्नता-पूर्वक राज्य दे दिया जाय, इस बात का साक्षी है कि वे कैकेयी द्वारा आरोपित इस

दोष के भागी नहीं हो सकते कि वे राम और भरत में अंतर मानते हैं। उन्हें यदि कोई शोक है तो राम के प्रति अन्याय और स्वयं कलंकित होने का। किंतु जब उनकी यह बात नहीं चली तब उन्होंने कितनी करुणापूर्ण वाणी में आग्रह किया है, इसपर ध्यान दीजिए—

लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवन लेइय मोरा।
बोले राउ कठिन करि छाती। बानी सविनय तासु सुहाती॥

आह, आज राजा विवश होकर विनय कर रहे हैं और यह उद्योग करते हैं कि जो कैकेयी को सुहाए वही कहा जाय। परंतु 'कठिन करि छाती' से यह स्पष्ट व्यक्त होता है कि यह उद्योग अधर्म के साथ संघर्ष का अंतिम उद्योग है और ज्ञात होता है जैसे उन्हें अपनी मृत्यु और अयोध्या के अंधकारपूर्ण भविष्य का आभास मिल गया है। राजा और डेस्डिमोना में अंतर यही है कि उस बेचारी में छाती कठिन करने की शक्ति नहीं। वह अल्पायु है और एक कोमल वृक्ष की भाँति सूखकर रह जाती है। यदि तनिक भी शक्ति होती तो यागो वाले षड्यंत्र का भंडाफोड़ हो जाता, क्योंकि हमने देखा है कि यागो की स्त्री की एक झड़प में सारा भेद खुल गया। परंतु हम देखेंगे कि कैकेयी ओथेलो से कितनी अधिक कठोर है। बेचारा ओथेलो तो एक झिड़क में बात कह देता है और डेस्डिमोना के मरने पर तत्काल रोने लगता है। उसकी चेष्टाओं और बातों से भी यह प्रगट होता है कि उसका हृदय प्रेम से सर्वथा रिक्त नहीं है और इसलिये डेस्डिमोना का गला घोंट देने का कारण उसकी क्षणिक उत्तेजनापूर्ण कठोरता ही प्रतीत होती है। परंतु कैकेयी की कठोरता पर तो राजा का विनीत आग्रह, उनकी झिड़क, तर्कपूर्ण विवाद और सबके समझाने का क्या, राजा की मृत्यु तक का भी कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। वह भरत से बड़े हर्ष के साथ मिलती और पति-मृत्यु का लांछन विधाता पर रख देती है। यह तुलना हमने संक्षेप में

पहले ही इस हेतु कर दी है कि पाठकों को यह ज्ञात हो जाय कि क्यों ओथेलो का आत्मा थोड़े से आँसुओं से शुद्ध हो गया और फिर उसने किस प्रकार अपना बलिदान एक वीर सैनिक की भाँति कर दिया एवं क्यों कैकेयी की आत्म-चिकित्सा में देर लगी। आगे आनेवाले प्रसंग में निहित भावों की सूक्ष्मता का वास्तविक आनंद लेने के लिये यह आवश्यक है कि पाठक कृपया ऊपर कही हुई बातों को ध्यान में रक्खें। अस्तु, राजा की पहली अपील देखिए—

प्रिया बचन कस कहति कुभाँती, भीरु प्रतीत प्रीति करि हाँती।
मोरे भरत राम दोउ आँखी, सत्य कहौं करि संकर साखी।
अवसि दूत मैं पठउब प्राता, ऐहैं बेगि सुनत दोउ भ्राता।
सुदिन सोध सुभ साज सजाई, देहुँ भरत कहँ राज बजाई।

लोभ न रामहिं राज कर, बहुत भरत पर प्रीति,
मैं बड़ छोट बिचार जिय करत रहेउँ नृप नीति।

राम सपथ सत कहहुँ सुभाऊ, राम मातु कछु कहेउ न काऊ।
मैं सब कीन्ह तोहिं बिनु पूछे, ताते परेउ मनोरथ छूछे।
रिसि परिहर, अब मंगल साजू, कछु दिन गए भरत जुवराजू।
एकहि बात मोहिं दुख लागा, बर दूसर असमंजस माँगा।
अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा, रिसि परिहास कि साँचेहु साँचा।
कहु तजि रोष राम अपराधू, सब कोउ कहै राम सुठि साधू।
तोहु सराहसि करसि सनेहू, अब सुनि मोहिं भयउ संदेहू।
जासु सुभाव अरिहु अनुकूला, सो किमि करै मातु प्रतिकूला।

प्रिया हास रिसि परिहरहि माँगु बिचार बिबेक,
जेहिं देखहुँ अब नैन भरि भरत राज अभिषेक।

सारी वक्तृता माधुर्य से भरी हुई है और इतनी सुंदर है कि यदि आचार्य द्विवेदी जी की चेतावनी ध्यान में न होती तो कुछ

पदों की शाब्दिक व्याख्या किए बिना रहा न जाता। अस्तु। यह बात ध्यान देने की है कि इस माधुर्यमय चाटुकारिता में भी राजा का विवेक जाता नहीं रहा और इसीलिये कैकेयी की सभी बातों का उत्तर इस वक्तृता में निहित है। जो बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं वे क्रमानुसार निम्नलिखित हैं--

(१) भरत को राज्य देने का प्रस्ताव राजा ने सहर्ष स्वीकार किया।

(२) राजा ने बड़े जोर के साथ राम की सफाई दी और उन्हें युवराज पद दिए जाने का कारण राजनीति का दृढ़ सिद्धांत ही बताया।

(३) राम-शपथ के साथ कौशल्या की सफाई दी।

(४) अपनी यह भूल मान ली कि इस संबंध में उन्होंने कैकेयी से कुछ पूछा नहीं।

परंतु विष इतना चढ़ गया है कि यद्यपि मंथरा ने यह कह दिया था कि राम-शपथ होने पर राजा की बात मान लेना, तथापि राजा की बात कैकेयी ने नहीं सुनी। राजा को आभास हो चुका है कि 'सत्य कि जीवन लेइय मोरा' परंतु अब भी उन्हें कुछ आशा अवश्य है, जिसका पता उनकी इस प्रश्नात्मक उक्ति से चलता है। इसीलिये वे कैकेयी की सभी बातों को क्षणिक क्रोध तथा परिहास से संबद्ध करते हैं। परंतु साथ ही स्पष्ट चेतावनी देते हुए संकेत रूप से कह देते हैं कि दूसरा वरदान विचार-पूर्वक ही माँग जिसमें मैं भी भरत का राज्याभिषेक देखने के लिये जीवित रहूँ।

राजा तनिक देर रुकते हैं जिसमें यह देख सकें कि उनके आग्रह का क्या प्रभाव हुआ। कैकेयी मौन है। इसीलिये राजा अब स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

जिअइ मीन बरु बारि बिहीना, मनि बिनु फनिक जिअइ दुख दीना।
कहहुँ सुभाउ न छल मन माहीं, जीवन मोर राम बिनु नाहीं।
समुझि देखु जिय प्रिया प्रवीना, जीवन राम दरस आधीना।

कोमल वचन आग में पड़ती हुई घृताहुति के समान कैकेयी के क्रोध को और भी बढ़ा देते हैं। कवि लिखता है—

सुनि मृदु बचन कुमति अस जरई, मनहु अनल आहुति घृत परई।

उपमा कैसी सुंदर और कैसी मार्मिक तथा कवि की भाव-विवेचना कितनी सरस एवं काव्यमयी है! कैकेयी कहती है—

कहहु करहु किन कोटि उपाया, यहाँ न लागहिं राउर माया।

ऐसे करुणा पूर्ण आग्रह को माया-जाल कहा जाता है!

देहु कि लेहु अजसि करि नाहीं, मोहिं न बहुत प्रपंच सुहाहीं।

आह, परिस्थिति की विवेकपूर्ण विवेचना प्रपंच हो गई।

राम साधु तुम साधु सयाने, राम मातु सब भल पहिचाने।

यहाँ 'साधु' शब्द की आवृत्ति द्वारा जो भाव-व्यंजना हुई है वह वक्तृत्व-कला का बहुत सुंदर उदाहरण है। तनिक ध्वनि-परिवर्तन से ही मानो राजा की तत्संबंधी संपूर्ण युक्तियों का मखौल उड़ा दिया जाता है। 'कुमति' अब अपना सारा बल दूसरे वरदान पर ही रखेगी, जिसका मूल कारण सौतियाडाह है और इसीलिये वह कहती है कि यह मैं भली भाँति जानती हूँ कि तुम कौशल्या को बहुत अच्छी तरह पहचानते हो। राजा ने अपनी मृत्यु की आशंका प्रकट की थी अतएव कैकेयी उसका भी उत्तर तत्क्षण प्रस्तुत करती है। वह कहती है—

जस कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हैं देहुँ करि साका॥

होत प्रात मुनि वेष धरि, जौ न राम बन जाहिं।
मोर मरन राउर अजसु, नृप समुझिय मन माहिं॥

राजा के अनुरोध का और उलटा प्रभाव पड़ा। अब सारा बल दूसरे वरदान पर है और 'कुमति' उसके लिये पहले पद में एक कारण ढूँढ़ ही लेती है कि यदि राम को वनवास न हुआ तो कौशल्या को दंड ही क्या मिला? दूसरे, उभय पदों में कैकेयी मानो कहती है कि आप अपनी मृत्यु की धमकी देते हैं, पर स्मरण रखिए कि यदि आपने यह दूसरा वरदान न दिया तो मेरी मृत्यु तो होगी ही, साथ ही साथ आपका अपयश भी होगा।

डेस्डिमोना और ओथेलो के पारस्परिक वार्तालाप में माधुर्य एवं कठोरता का कुछ विरोधाभास अवश्य है, परंतु डेस्डिमोना बहुत कोमल थी अतः चरित-संघर्ष का वह आनंद वहाँ नहीं मिलता जो कैकेयी और दशरथ की पारस्परिक वार्ताओं में है। इसीलिये शेक्सपियर ने विषय को संक्षेप में ही लिखा है। डेस्डिमोना की अंतिम बात उस पक्षी की चीख सी है जिसके गले पर छुरी चल रही हो। परंतु उसके हृदय में अब भी अपने पति के प्रति प्रेम है, अतएव वह अंतिम चीख भी अपने ही विरुद्ध है और इसलिये है कि पति को आँच न लगे।

अब तनिक डाँट-डपट वाली वार्ता का उदाहरण देखिए। डाँट-डपट आरंभ करने के पूर्व राजा ने अनुनय विनय करने में कुछ उठा नहीं रक्खा; यहाँ तक कि—

गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी।

पर यह उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि—

माँगु माथ अब ही देउँ तोहीं। राम बिरह जनि मारसि मोहीं॥
राखु राम कहँ जेहिं तेहिं भाँती। नाहिं त जरहि जन्म भर छाती॥

देखिए, डाँट का कुछ अंश अंतिम चरण में है, पर अभी वह केवल चेतावनी रूप में दैन्य-भाव के साथ ही है। इतना कहने पर भी जब

कैकेयी ने कुछ ध्यान न दिया तो राजा का दुःख और चिंता और बढ़ी, जिसका वर्णन तुलसीदास जी ने इस प्रकार किया है—

देखी ब्याधि असाध नृप परेउ धरनि धुनि माथ।
कहत परम आरत बचन राम राम रघुनाथ।

हमारे हृदय में करुणा की सीमा नहीं रहती। यह दोहा बोलपट-कला का भी बड़ा सुंदर उदाहरण है। शेक्सपियर के पाठक जानते हैं कि बहुधा एक ही शब्द या उसी की तनिक उलट-फेर कर आवृत्ति करने से कोई पद या चरण बनता है तो उसका विशेष प्रभाव होता है। इसी कला का प्रभाव अंतिम चरण में दिखाई देता है। परंतु देखिए निष्ठुरता की मूर्ति कैकेयी इस दशा की आलोचना किस प्रकार करती है—

जनि अबला इव करुणा करहू।

आपने देख लिया, अब शनैः शनैः राजा के प्रति करुणा और कैकेयी के प्रति घृणा बढ़ती जाती है। राजा की बुद्धि अभी बनी हुई है। वह इन वचनों के मर्म को ताड़ जाते हैं और कहते हैं—

मरम बचन सुनि राउ कह कहु कछु दोष न तोर।
लागेहु तोहिं पिशाच जिमि काल कहावत मोर॥

देखिए, फिर भी राजा को शिष्टाचार का इतना ध्यान है कि उसे स्वयं पिशाचिनी न कहकर केवल यही कहा है कि मेरी मृत्यु तुझे पिशाच होकर लगी है। परंतु अब राजा में कुछ क्रोध की झलक भी आती जा रही है। देखिए—

चहत न भरत भूपतहिं मोरे। बिधि बस कुमति बसी जिय तोरे॥
सो अब मोर पाप परिनामू। भयउ कुठाहर जेहिं बिधि बामू॥

डेस्डिमोना की भाँति महाराज दशरथ भी प्रेम के कारण दोष को अपने भाग्य पर ही आरोपित करते हैं। उनकी बुद्धि और विवेचन-शक्ति अब भी इतनी ठीक-ठिकाने है कि उन्होंने भविष्य का जो चित्रण किया है उससे सर्वथा दूरदर्शिता ही प्रगट होती है। देखिए—

सुबस बसहिं फिर अवध सुहाई। सब गुन धाम राम-प्रभुताई॥
करिहैं भाइ सकल सेवकाई। होइहि तिहुँ पुर राम बड़ाई॥
तोर कलंक मोर पछिताऊ। मुएहु न मिटिहि न जाइहि काऊ॥

अंतिम पद में कैकेयी की कुटिलता का परिणाम कितना मार्मिक एवं सत्य है। अब क्रोधावेग और अधिक होता है, यद्यपि नम्रता को हाथ से नहीं जाने दिया गया —

अब तोहि नीक लागि करु सोई। लोचन ओट बैठु मुँह गोई।
जब लगि जियहुँ कहौं करजोरी। तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी॥
फिरि पछतैहसि अंत अभागी। मारेसि गाय नाहरू लागी॥

राजा के धैर्य के परियाचक और उनके क्रोध को प्रगट करनेवाले ये अंतिम शब्द हैं—इनमें रेखांकित चरण विशेष विचारणीय हैं।

इन शब्दों में तनिक भी हिचक नहीं है। राजा का सतेज गौरवपूर्ण व्यक्तित्व हमारे सामने है। हाँ, अंतिम पद से उनका हृदय द्रवित होता हुआ जान पड़ने लगता है।

इसके बाद राजा की करुण अवस्था और हृदय की चोट उन्हें पूर्णतः सन्निपात-ग्रसित प्राणी जैसा बना देती है। इसीलिये मेरी समझ में इस अवस्था के उपरांत राजा पर कटु कटाक्ष करना निर्दयता ही है। राजा की अवस्था का चित्र देखिए—

परेउ राउ कहि कोटि विधि काहे करसि निदान।
कपट सयानि न कहत कछु जागति मनहुँ मसान॥

राम राम रट विकल भुवालू। जनु बिनु पंख विहंग बिहालू।

इसके पश्चात् कुछ ऐसे शब्द भी कहे गए हैं जिनसे राजा की दीन दशा का और प्रगटीकरण होता है। शेक्सपियर के पाठक इस दीन दशा की तुलना डेस्डिमोना की उस अवस्था से करें जिसमें उस बेचारी ने कहा है कि कुछ दिनों तक मुझे और जीने दो, इत्यादि।

इसीलिये हम आगामी अंश की तुलना किंग लियर से करेंगे। हाँ, दो बातों का उल्लेख यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। एक तो यह कि बेचारी डेस्डिमोना एक कोमल पुष्प की पंखड़ी सी है जो जरा सी चोट में ही दल-मल जाती है। उसमें न तड़पने की शक्ति ही है और न तड़पने का अवसर ही। परंतु राजा दशरथ की व्याकुलता और छटपटाहट, जो कई दिनों तक चलती है, हमारे हृदय को हिला देती है। यह तो हम पहले ही कह आए हैं कि ओथेलो निष्ठुरता में कैकेयी की तुलना में ठहरता ही नहीं और इसीलिये हम कैकेयी के चरित्र के उस अंश की तुलना 'मैकबेथ' नामक नाटक की तुलना के अंतर्गत मैकबेथ और लेडी मैकबेथ से करेंगे।

ङ—स्फुट

मैं पहले भी कई बार कह चुका हूँ कि डा० मिलर, जिनका भारत-स्थित पादरियों में विशेष उच्च स्थान है। इस देश के नैतिक तथा आध्यात्मिक वातावरण से इतने प्रभावित हुए हैं कि उन्होंने शेक्सपियर कृत चारों दुःखांत नाटकों से बहुत से नैतिक तथा आध्यात्मिक परिणाम निकालने का उद्योग किया है, जो सर्वथा सराहनीय है और जिसमें उन्हें बहुत अंश तक सफलता भी प्राप्त हुई है। कविवर टेनीसन ने, जो स्वयं गंभीर प्रकृति के कवि थे, सुविज्ञ कवियों के संबंध में लिखा है कि वे कलाकार भी होते हैं और विचारक भी। मिलर महोदय शेक्सपियर की गणना भी उन्हीं कवियों में करते हुए लिखते हैं कि इन चारों दुःखांत नाटकों में भावों की इतनी गहराई, विचारों की इतनी गंभीरता और आशा की इतनी

प्रभावपूर्णता है जिसका जोड़ अन्य नाटकों में नहीं मिलता। हमारे उचित गर्व की सीमा रहती जब हम यह देखते हैं कि ये बातें महाकवि तुलसी दास के निमित्त बहुत सत्य हैं। सोचने की बात है कि आध्यात्मिक तथा नैतिक परिणामों के निकालने के लिये हमारे महाकवि को किसी डा० मिलर की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं हमारे साथ रहता है और हमें धोखा खाने की आशंका ही नहीं रहती। शेक्सपियर को कला में कवि का व्यक्तित्व अप्रगट रहने के कारण ही यह संभव हो सका है कि 'हैमलेट' के पढ़नेवाले आदर्शवाद के विरोधी बनें। वहाँ कला एकदेशीय भी है, क्योंकि दुःखांत नाटकों का आदर्श संकुचित रखा गया है। इसीलिये शेक्सपियर को सफल आदर्शवाद के चित्रण का वह अवसर नहीं मिला जो हमारे महाकवि को भरत के चरित-चित्रण में मिला है। इसी एक-देशीय कला का परिणाम यह भी है कि शेक्सपियर में आध्यात्मिक तथा नैतिक रोगों की विवेचना अवश्य है परंतु उनकी चिकित्सा की कोई विवेचना नहा।

मिलर महोदय ने 'ओथेलो' नाटक की प्रशंसा करते हुए यह लिखा है कि इसमें नाटकीय समताओं का निर्वाह बहुत सुंदर हुआ है। समताओं का निभाना इतना कठिन है कि शेक्सपियर आदि स्वातंत्र्यवादी (रोमैंटिक) नाटककारों ने उन्हें बहुधा त्याज्य ही माना है। जब हम यह सोचते हैं कि तुलसीदासजी ने शेक्सपियर कृत चारों दुःखांत नाटकों का विषय ही नहीं प्रत्युत उससे भी कुछ अधिक अयोध्याकांड में भर दिया है और फिर भी समताओं का निर्वाह 'ओथेलो' से कम नहीं हुआ, तब हमें कहना पड़ता है कि उस कांड में गागर में सागर भर देने की ही बात है।

डा० मिलर यह बिलकुल ठीक कहते हैं कि दुःख-स्रोत हमारी किसी-न-किसी त्रुटि में ही होता है। लक्ष्मणजी ने भी निषाद वाली वार्ता में इसी बात पर जोर देते हुए कहा है कि—

को काहू को दुख सुख दाता। निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता ॥

परंतु यदि इस अंश पर अधिक जोर दिया जाय तो करुणरस का लोप हो जाता है। इसीलिये शेक्सपियर के आलोचक सदा इसी बात पर जोर देते हैं कि उसने समस्याओं को इस प्रकार रखा है जिसमें हमें बराबर यह अनुभव होता रहे कि उनका रहस्य बड़ा गंभीर है और मानवीय मस्तिष्क उसे ठीक ठीक ग्रहण करने में अशक्य है। तुलसीदासजी ने इन दोनों कलाओं का एकीकरण बड़ी ही सुंदरता से किया है। महाराज दशरथ के मुँह से रहस्य की यह गूढ़ता किस सुंदरता से प्रगट कराई गई है—

और करै अपराध कोउ और पाव फल भोग।
अति बिचित्र भगवंत गति नहिं कोउ जानन जोग ॥

सारे अयोध्यावासियों की करुण अवस्था इसी एक विचार पर निर्भर है। लक्ष्मण जैसे प्रमुख पात्र जब निषाद के साथ कुछ एकांत में होते हैं, तभी कवि को

'को काहू को दुख सुख दाता'

आदि सिद्धांतों के प्रगट कराने का अवकाश मिलता है और वहीं

'राम ब्रह्म परमारथ रूपा'

वाले वाक्य से इसका स्पष्टीकरण होता है कि राम जैसे अवतारी पुरुष संसार के माया-मोह से उसी प्रकार अलिप्त हैं जैसे जल से कमलपत्र। परंतु स्मरण रहे कि ये सारे रहस्य शनैः शनैः उद्घाटित हुए हैं, और वह भी सर्वसाधारण के सामने नहीं। सरस्वती वाले छोटे से आधिदैविक दृश्य का तो किसी को पता ही नहीं। हम दर्शकों को पता अवश्य है, परंतु कवि की करुणरस संबंधी कला ऐसी अपूर्व है कि उसके प्रवाह में हम भी उसे भूल सा जाते हैं।

'राम ब्रह्म परमारथ रूपा' के स्पष्टीकरण का स्थान तो शेक्सपियर की नाटकीय-कला में हो ही नहीं सकता था, हाँ मिल्टर ने अपनी काव्य-कला में कुछ उद्योग अवश्य किया, परंतु उसे केवल आंशिक सफलता ही हुई, क्योंकि मिल्टन के आलोचक भी बहुधा कहते हैं कि देव-पुत्र और शैतान के चित्रण में प्रायः यह भ्रम हो जाता है कि चरितनायक शैतान है या देव-पुत्र ।

५—'मैकबेथ' और अयोध्याकांड

क—'मैकबेथ' की संक्षिप्त कथा

जिन महानुभावों ने 'मैकबेथ' की कहानी नहीं पढ़ी, उनके लिये संक्षेप में उसका वर्णन कर देना आवश्यक है। स्काटलैंड देश का राजा डंकन बड़ा दयालु और प्रजापालक था। उसे अपने मैकबेथ और बैंको नामक सेनानायकों पर बड़ा भरोसा था। एक बार जब ये दोनों एक लड़ाई जीतकर लौट रहे थे वे तब उन्हें मार्ग में कुछ भयावनी बूढ़ी स्त्रियाँ मिलीं। [इन्हें शेक्सपियर ने जादूगरनी (विचेज) कहा है, परंतु उनका वर्णन आगे इस प्रकार हुआ है कि हम उन्हें चुड़ैल कहेंगे।] इन स्त्रियों ने मैकबेथ को ऐसी दो उपाधियों से संबोधित किया जो उसे अभी मिली न थीं और अंत में यह कहा कि वह स्काटलैंड का राजा होगा। साथ ही बैंको की ओर भी मुड़कर उन्होंने कहा कि उसकी संतान स्काटलैंड पर शासन करेगी।

मार्ग में ही उन दोनों को राजदूत मिले जिनसे ज्ञात हुआ कि मैकबेथ को उन उपाधियों में से एक उपाधि राजा की ओर से मिल चुकी है। इस सूचना ने मैकबेथ के आंतरिक भावों में उथल-पुथल मचा दी और उसके मस्तिष्क में यह विचार चक्कर काटने लगा कि वह किस प्रकार स्काटलैंड का राजा बने। उन चुड़ैलों के संबंध में मैकबेथ ने बैंको से कुछ बात चीत की पर बैंको ने स्पष्ट कह दिया कि यदि राज-भक्ति और आत्मस्वच्छता के साथ काम बन सके तब तो वह उन स्त्रियों की दी हुई सूचना के संबंध में उद्योग करने को प्रस्तुत है अन्यथा नहीं। पर मैकबेथ को इस उत्तर से संतोष न हुआ। उसने अपनी स्त्री को एक

पत्र लिखा जिसमें विस्तार से सारी घटना का वर्णन कर दिया। उसकी स्त्री बड़ी दृढ़ स्वभाव की और पतिव्रता, पर साथ ही कुटिल भी थी। अतः उसके मस्तिष्क में कुविचारों की उत्पत्ति हो चली।

राज-दरबार में उपस्थित होने पर मैकबेथ और बैंको का बड़ा आदर-सम्मान हुआ और मैकबेथ को दूसरी उपाधि भी मिल गई। राजा ने यह भी कहा कि वह मैकबेथ के घर जाकर कुछ दिनों तक उसका आतिथ्य ग्रहण करना चाहता है। इस कारण मैकबेथ स्वयं राजा के स्वागत-सत्कार का प्रबंध करने के लिये चला गया। अभी वह घर पहुँचा ही था और उसके प्रबंध का श्रीगणेश हुआ ही था कि उसे सूचना मिली कि राजा बैंको सहित आ रहे हैं। बस, फिर क्या था, लेडी मैकबेथ ने अपने मस्तिष्क में पूरे षड्यंत्र की रचना कर ली और यह निश्चय कर लिया कि उसी रात राजा की हत्या कर दी जाय।

लेडी मैकबेथ ने यह प्रबंध किया कि दावत देर तक उड़ती रहे जिसमें शराब खूब चले। इधर राजा के कमरे के रक्षकों को भी इतनी शराब पिलाई गई कि वे आपे में न रहे। जब राजा डंकन अपने कमरे में सोया तो वह भी बेहोश था। लेडी मैकबेथ स्वयं कटार लेकर राजा की हत्या करने के लिये उस कमरे में गई, परंतु राजा की सूरत उसके पिता से मिलती-जुलती थी, अतः वह हाथ न उठा सकी।

वह अपने पति के कमरे में आई और उसे हत्या के लिये प्रेरित करने लगी। मैकबेथ पहले हिचकता था पर स्त्री के कटाक्षों और आक्षेपों से विवश होकर वह इस जघन्य कृत्य के लिये तैयार हो गया और उसने जाकर राजा की हत्या कर दी। पर वह अपनी स्त्री की भाँति धीर न था; रक्ताक्त कटार लिए वह अपनी स्त्री के पास चला गया। इसपर वह बहुत बिगड़ी और जब मैकबेथ ने दुःख प्रगट किया तो उसने अप्रसन्न होकर कहा कि तनिक सा रक्त हाथ में लग जाने से यह चीख-पुकार व्यर्थ है। हाथ तो थोड़े पानी में धुलकर स्वच्छ हो सकते हैं। पत्नी ने

वह कटार उसके हाथ से लेकर राजा के रक्षकों के पास धर दिया तथा उनके चेहरों और हाथों में रक्त मल दिया।

प्रातःकाल जब हो-हल्ला हुआ तो मैकबेथ और उसकी पत्नी अन-जान की भाँति सबके सामने आईं। मैकबेथ ने बड़ी चतुराई से कृत्रिम क्रोध दिखाकर और दोनों रक्षकों को सबके सामने मारकर मानो अपनी राजभक्ति प्रमाणित कर दी। परंतु राजा का लड़का मैकडफ ताड़ गया और भाग निकला। बैंको को भी संदेह अवश्य हुआ, पर वह गया नहीं अपितु मैकबेथ के राज्य-सिंहासनारूढ़ होने के उत्सव में सम्मि-लित हुआ।

राजतिलक वाले भोज में बैंको को भी बड़े आदर से बुलाया गया। भोज के दिन मैकबेथ ने चतुरता से पूछा कि आप सायंकाल घोड़े की सवारी की सैर से कब तक लौटेंगे जिसमें उसी के अनुसार भोज का प्रबंध किया जाय। बैंको ने सरलता से उत्तर दिया कि मैं एक-दो घंटा रात गए लौटूँगा। बातचीत में मैकबेथ ने यह भी जान लिया कि बैंको का लड़का भी सैर के लिये साथ जायगा।

अब मैकबेथ का धड़का खुल चुका था। अपने हाथों तीन हत्याएँ कर चुकने के कारण षड्यंत्र की रचना में भी उसे अब किसी के साहाय्य की आवश्यकता न थी। उसने दो हत्याकारियों को पिता-पुत्र की हत्या के लिये नियुक्त कर दिया। फलतः बैंको तो मार डाला गया, परंतु उसका पुत्र बचकर भाग निकला।

इधर भोज आरंभ हुआ जिसमें आदर-भाव से बैंको का आसन रिक्त रक्खा गया। पर जब राजा मैकबेथ भोज में सम्मिलित होने आया तब उसे उस रिक्त आसन पर बैंको का प्रेत क्षत-विक्षत शरीर लिए बैठा दिखाई पड़ा। इस प्रेत को दूसरा कोई न देख सका। इस असाधारण दृश्य को देखकर मैकबेथ पागल-सा बड़बड़ाने लगा। भोज

में विघ्न हो गया। उसकी स्त्री ने बात बनाई कि घबराने की कोई बात नहीं। उसे इस रोग का दौरा प्रायः होता है। यदि इस समय उससे कोई बात-चीत की जायगी तो यह प्रकोप और बढ़ेगा। इतना कहकर उसने उपस्थित लोगों को तुरंत बिदा कर दिया। पर उसके कथन से किसी को संतोष न हुआ और संदेह बढ़ता ही गया।

राजा मैकबेथ का आत्मा भी इन पापों से दिन-दिन अधिकाधिक पतित होता जा रहा था। उसने जंगल में जाकर चुड़ैलों का आह्वान किया और यह निश्चय कर लिया कि पूरे परिणामों को जाने बिना इस बार वह उन्हें जाने न देगा। चुड़ैलों ने अपना पैशाचिक यज्ञ आरंभ किया और एक कड़ाह में जादू-टोने वाली बहुत सी घृणित वस्तुएँ पकाने लगीं। कड़ाह में से बैंको के पश्चात् होनेवाली राज-पीढ़ियों के चित्र निकलने लगे। उन चित्रों में से किसी किसी के हाथ में तीन तीन राज-दंड थे। यह देखकर मैकबेथ की व्याकुलता का कुछ ठिकाना न रहा। परंतु द्विभाषी चुड़ैलों ने उसे आश्वासन देते हुए कहा कि घबराओ नहीं, तुम्हारा दुर्ग तभी पराजित हो सकता है जब वन का वन सजीव होकर चढ़ाई करे और तुम ऐसे ही व्यक्ति-विशेष के हाथों मारे जा सकते हो जो किसी माता की योनि से उत्पन्न न हुआ हो।

मैकबेथ का अत्याचार और विलासिता बढ़ती ही गई, यहाँ तक कि वह आसुरी संपत्तियों की मानो एक मूर्ति बन गया। सारे देश की नाक में दम हो गया। उसका आत्मा पापों के भार से दबकर जैसे बिलकुल घबरा गया। परंतु लेडी मैकबेथ के आत्मा में पश्चात्ताप का आरंभ हुआ। हम पहले ही कह चुके हैं कि वह बड़े दृढ़ स्वभाव की स्त्री थी। अतः उसने पश्चात्ताप के भावों को भीतर ही भीतर दबा देना चाहा। इसका परिणाम बहुत बुरा हुआ। उसे ऐसा रोग हो गया जिसमें रात को वह निद्रित अवस्था में हाथ में लैंप लिए खुली आँखों इधर-उधर फिरती रहती थी और हाथ मलते हुए

बड़बड़ाती रहती थी कि संपूर्ण समुद्रों का जल भी इन हाथों का रक्त धोने के लिये पर्याप्त नहीं है, इत्यादि इत्यादि ।

डंकन के लड़के मैकडफ ने इँगलैंड के राजा की शरण ली थी। अब उसने स्काटलैंड में असंतोष देखकर उसी राजा की सेना की सहायता से राजा मैकबेथ के दुर्ग पर चढ़ाई कर दी। सेना को छिपाए रखने के लिए यह प्रबंध किया गया था कि प्रत्येक सैनिक घने पत्तों की एक डाल काटकर उसी की ओट में चलता था। दुर्गवालों को ऐसा प्रतीत हुआ मानो वन ने स्वयं चढ़ाई कर दी। अंततोगत्वा लड़ाई हुई। बहुत से लोग हताहत हुए। कुछ मैकबेथ को छोड़कर दूसरी ओर जा मिले। उसी समय मैकबेथ की स्त्री के मरने की सूचना मिली। अंत में मैकबेथ और मैकडफ युद्ध में आमने-सामने आए। मैकबेथ ने बड़े अहंकार से कहा कि मुझे कोई भय नहीं, क्योंकि मैं ऐसे ही व्यक्ति द्वारा मारा जा सकता हूँ जो माता की योनि से पैदा न हुआ हो। मैकडफ ने उत्तर दिया कि दुष्ट ! मैं वैसा ही व्यक्ति हूँ, क्योंकि मैं माता का पेट चीरकर निकाला गया था। मैकबेथ लड़ते हुए मारा गया ; परंतु मरने से पहले उसने यह मान लिया कि आसुरी शक्तिया हमें तनिक तनिक सी बातों में फुसलाकर हमसे बड़े बड़े पाप करा लेती हैं। उसने सांसारिक परिस्थितियों का नैराश्यपूर्ण चित्रण करते हुए कहा कि 'संसार मानो एक पागल द्वारा सुनाई गई कथा है जिसमें कोई तथ्य नहीं।'

संक्षेप में यही कथा है। पर दोनों कवियों की कलाओं की तुलना का पूरा आनंद लेने के लिये यह आवश्यक है कि हम मूल रूप में शेक्सपियर का नाटक अथवा कम से कम उसका कोई सुंदर अनुवाद अवश्य पढ़ें।

ख—नाटक-कला

ब्रेडले महोदय का कथन है कि 'मैकबेथ' सर्वसाधारण को इसलिये प्रिय है कि उसमें यवन-नाटककार सेनेका की सरलता के साथ

बड़ी ही उच्च कोटि का ओज-गुण भी वर्तमान है। परिस्थितियों और व्यक्तियों का विरोधाभास स्फोक्लीजवाले विरोधाभास जैसा सुंदर है। कहीं-कहीं तो छोटे-छोटे शब्दों तथा संकेतों में भी इस विरोधाभास का आनंद है। उदाहरणार्थ किसी ने पूछा कि राजा कब वापस जायँगे तो उत्तर मिला कि 'उनका विचार तो' कल जाने का है। जब हम हत्या वाली घटना देख लेते हैं तो हमें उपर्युक्त शब्दों का विरोधाभास प्रत्यक्ष हो जाता है और हम समझने लगते हैं कि वे शब्द मानो 'मेरे मन कछु और है कर्ता के मन और' वाले सिद्धांत के सूचक थे।

तुलसीदासजी की सरलता और साथ ही कला की सूक्ष्मता से तो हम भली भाँति परिचित हो ही चुके हैं। सच है, उनकी कला ही ऐसी है कि एक अपढ़ भी उसमें मग्न हो जाता है और बड़े-से-बड़े काव्य-मर्मज्ञ तथा दार्शनिक भी उसमें अवगाहन करते हैं। राजा दशरथ के सरल प्रेम और कैकेयी की कुटिलता एवं वक्रता में चरित्रों का विरोधाभास बड़ी ही सुंदरता से दिखाया गया है। हमारे हृदय पर उसका बहुत स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। कविवर शेक्सपियर की कला में राजा डंकन की सरलता और लेडी मैकबेथ की कटुता का विरोधाभास भी सराहनीय है। लेडी मैकबेथ का अपने आगा-पीछा करते हुए पति की भर्त्सना कर उसे राजा की हत्या के लिये कटिबद्ध करना अवश्य प्रशंसनीय है। पर उससे भी अधिक प्रशंसनीय है तुलसीदासजी की कला, जिसमें कैकेयी ने सरल-चित्त महाराज को अपने हाव-भाव में फँसाकर और फिर कटाक्ष द्वारा उनसे अपने परम प्रिय पुत्र का वियोग करा ही दिया। शेक्सपियर की कला में तो कटार के एक ही आघात से काम हो गया था, परंतु यहाँ राम को राज्य-त्याग के साथ चौदह वर्ष के वनवास का कठिन दंड भी दिया गया। पाठकगण ध्यान दें कि यह राम का गुण था कि उन्होंने योग को तप में परिवर्तित कर लिया, अन्यथा कैकेयी ने कष्ट देने में भरसक कुछ उठा नहीं रक्खा था। इससे भी कहीं अधिक

हृदय-विदारक बात यह है कि कैकेयी ने महाराज को वह काम करने पर वाध्य किया जिससे उनकी मृत्यु घुल-घुलकर, तड़प-तड़प कर हुई। इस प्रसंग में तो करुण-रस का स्रोत उमड़ आया है। परंतु हम इस अंश की विशेप व्याख्या 'किंग लियर' नामक नाटक से तुलना करते समय करेंगे। कौशल्या और कैकेयी तथा कैकेयी और भरत का चरित्र संबंधी विरोध भी अत्यंत स्पष्ट एवं कलापूर्ण है। फिर सुमित्रा का चरित्र तो अयोध्या के समुद्र-मंथन में मंदराचल पर्वत की भाँति स्थिर एवं दृढ़ है। इससे यह न समझना चाहिए कि उसके हृदय में भाव नहीं और वह केवल पत्थर की मूर्ति सी है। तुलसीदासजी ने बड़े सुंदर संकेतों द्वारा थोड़े ही शब्दों में यह बात भी स्पष्ट कर दी है।

अयोध्याकांड से बढ़कर परिस्थितियों का विरोधाभास तो अन्यत्र मिलना असंभव ही है। कवि ने जिस सुंदरता से अयोध्या नगर का आनंदमय चित्र इस कांड के आरंभ में अंकित किया है, वह नाटकीय चित्र-पट चित्रणकला तथा बोलपट कला की जान है। धीरे धीरे हमारे सामने सारा बना-सजा नगर आ जाता है। नगर में आनंद-कोलाहल का यह हाल है कि कान-पड़ी बात सुनाई नहीं देती और प्रत्येक व्यक्ति इस अभिलाषा के आनंद में मग्न है कि—

सेवक हम स्वामी सिय नाहू, होउ नात यह ओर निबाहू।

परंतु उसी समय तनिक दूसरी ओर राजगृह के भीतर की कलह देखिए। मंथरा किस प्रकार कैकेयी को कुटिलता के निमित्त तैयार कर रही है, इसका पूरा चित्र तो आप 'ओथेलो' से तुलना करते समय देख ही चुके हैं। रानी के कोप-भवन-गमन के प्रसंग में इस विरोधाभास की ओर संकेत करते हुए कवि स्वयं लिखता है—

अस अभिलाष नगर सब काहू। कैकय सुता हृदय अति दाहू॥

फिर राजा और कैकेयी की अवस्थाओं का विरोध भी देखिए—

साँझ समय सानंद नृप, गयउ कैकई गेह।
गवन निठुरता निकट किय, जनु धरि देह सनेह ॥

यह सारा प्रसंग ही सुंदर है, पर विस्तार-भय से यहाँ नहीं दिया जा रहा है। राजा ने जिस व्यग्रता एवं विलाप में रात बिताई उसका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा। परंतु संक्षेप में अवस्था यह है कि राजा विलाप करता और पृथिवी पर लोटता हुआ तड़प रहा है और क्रोध से भरी हुई कैकेयी पास बैठी है! यह चित्र तो तड़के राजगृह के भीतर का है। दूसरी ओर नगर की दशा देखिए। विरोधाभास को उभारते हुए कवि स्वयं लिखता है—

बिलपत नृपहिं भयउ भिनसारा, बीना बेनु संख धुनि द्वारा।
पढ़हिं भाट गुन गावहिं गायक, सुनत नृपहिं जनु लागहिं सायक।

परिस्थितियों के विरोध का इससे भी चटकीला चित्र नीचे देखिए। विशेषता यह है कि यहाँ विरोधाभास एक ही जगह है। कौशल्या इस आनंद में मग्न है कि राम युवराज होने जा रहे हैं। राम इस आनंद में हैं कि राज्य की झंझटों से छूटकर उन्हें सत्यव्रत-पालन और स्वतंत्र वन-जीवन का अवसर मिल रहा है। पर इन दोनों प्रकार के आनंदों में जो विरोध है, उसका वर्णन शब्दों में करना अशक्य है। पाठक स्वयं उसका अनुमान कर सकते हैं। रामचंद्र जी बन-गमन की आज्ञा माँगने के हेतु कौशल्या के पास जा रहे हैं। कवि लिखता है—

..............................गए मातु पहँ राम गुसाईं।
मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ, मिटा सोच जनि राखइ राऊ।

नव गयंदु रघुबीर मनु राजु अलान समान।
छूटि जानि बन गवनु सुनि उर आनँद अधिकान।

रघुकुल तिलक जोरि दोउ हाथा, मुदित मातु पद नायउ माथा।

राम का हर्ष उस जितेन्द्रिय पुरुष का हर्ष है जिसे अपने व्रत-पालन और तप का अवसर मिलता है। परंतु हम जानते हैं कि इस प्रसन्नता की ओट में कितनी करुणाजनक घटनाएँ हैं। सरल-स्वभाव रानी कौशल्या समझती है कि यह हर्ष इस कारण है कि राम का राजतिलक होनेवाला है, अतः उसके हर्ष की सीमा नहीं रहती। धन्य है तुलसीदासजी की कला कि एक शब्द भी राम के मुँह से नहीं कहलाया और कौशल्या की हर्षपूर्ण वक्तृता आरंभ कर दी, नहीं तो सारा रहस्य खुल जाता और हमें इस विरोधाभास का आनंद न मिलता कि राम के हर्ष का यथार्थ कारण और है पर रानी ने समझा कुछ और ही है। हम अपनी 'विश्व-साहित्य में रामचरितमानस नं० १—हास्यरस' नामक पुस्तक में विस्तार से लिख चुके हैं कि दुःखांत नाटक के बीच सुखद घटनाएँ किस प्रकार आती हैं, साथ ही उसमें यह भी दिखा चुके हैं कि कविवर शेक्सपियर के आलोचकों ने उन घटनाओं के रहस्य के प्रकटीकरण में क्यों और क्या भूल की है। यदि वह सारी व्याख्या पाठकगण एक बार देख जायँ तो वे इस राम-कौशल्या-मिलन के रहस्य को पूर्णतः समझ सकेंगे। संकेत रूप से हम उन्हें यह बता देना चाहते हैं कि ऐसी घटनाएँ बहुधा करुण-रस को और उभार देती हैं। शेक्सपियर की कला में ऐसे विरोधाभास का उदाहरण नहीं है जैसा हम यहाँ देख रहे हैं और जिसकी व्याख्या ऊपर हुई है। देखिए, दोनों मुख्य पात्र यद्यपि प्रसन्न हैं, तथापि कौन दर्शक या पाठक ऐसा है जो इस प्रसंग को बिना आँसुओं के पढ़ सके? परंतु हाँ, आँसू होते हैं ऐसे जो आँखों से बाहर नहीं निकलते। इसी प्रकार की असामान्य करुणापूर्ण परिस्थिति के लिये कविवर वर्ड्स्वर्थ ने एक स्थल पर लिखा है कि 'वह इतना गहरा है कि आँसुओं द्वारा प्रगट नहीं होता।' अस्तु, कौशल्या का चित्र देखिए—

दीन्ह असीस लाइ उर लीन्ही। भूषन बसन निछावर कीन्ही॥

कैसा सुंदर नाटकीय विरोधाभास है !

बार बार मुख चूमति माता । नयन नेह जल पुलकित गाता ॥

आह, यह नेह का जल तनिक देर में और ही जल हो जायगा ।

गोद राखि पुनि हृदय लगाए । स्रवत प्रेम रस पयद सुहाए ॥

मातृ-प्रेम के उमंग का यह जीता-जागता चित्र नाटकीय विरोधाभास को कितना स्पष्ट करता है !

प्रेम प्रमोद न कछु कहि जाई । रंक धनद पदवी जिमि पाई ।
सादर सुंदर बदन निहारी । बोली मधुर बचन महतारी ॥
कहहु तात जननी बलिहारी । कबहिं लगन मुद मंगलकारी ॥
सुकृत सील सुख सींव सुहाई । जन्म लाभ कै अवध अघाई ॥

जेहिं चाहति नरनारि सब अति आरत यहि भाँति ।
जिमि चाहत चातक तृषित बृष्टि सरद ऋतु स्वाति ।

तात जाहु बलि बेगि नहाहू । जो मन भाव मधुर कछु खाहू ॥
पितु समीप तब जायहु भैया । भइ बड़ि बार जाइ बलि मैया ॥

मातृ-प्रेम की प्रगति और हर्ष-प्रस्ताव के प्रवाह में इतना अधिक वेग है कि राम को बोलने का अवसर ही न मिला । परंतु, आह ! एक ओर यह सब हो रहा है और दूसरी ओर सारे नगर में कुहराम मचा हुआ है ।

राम पर इस दृश्य का क्या प्रभाव पड़ा सो राम ही जानें । परंतु वे माता के हृदय को एकदम तोड़ना नहीं चाहते और इसीलिये राज्याभिषेक वाले उसी शाब्दिक प्रबंध को लेकर वे किस कोमलता से कहते हैं—

पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू । जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू ॥

इसके बाद मंत्री-पुत्र ने सारी परिस्थिति की व्याख्या की और कौशल्या का कल्पित हर्ष-प्रासाद एकदम ध्वस्त हो गया । कवि लिखता है—

सहमि सूखि सुनि सीतल बानी। जिमि जवास पर पावस पानी ।।

उपमा कितनी सुंदर एवं मार्मिक पर कितनी सरल है। हमने तो केवल विरोधाभास के संकेत मात्र दिए हैं, परंतु सारे प्रसंग शब्दशः पढ़ने योग्य हैं। प्रसन्नता का दोनों ओर घटित होनेवाला विरोधाभास तो साहित्य-जगत् की एक अनोखी वस्तु है। हमें कला के प्रत्येक अंग के केवल कुछ ही उदाहरण देने हैं अतः अन्य परिस्थितियों तथा पात्रों का विरोधाभास हम विस्तार से नहीं देते। पाठकगण स्वयं ही विचार लेंगे।

ग—अंधकार और बुराई का संबंध

कविवर शेक्सपियर के सभी आलोचकों ने यह बात कही है कि उसके दुःखांत नाटकों की घटनाएँ, जिनका संबंध बहुधा मानवीय जीवन के अंधकार से है, रात्रि में ही हुई हैं। अयोध्याकांड में भी सारे षड्यंत्र की तैयारी और रचना रात्रि में ही दिखाई गई है। शोक, विपत्ति तथा आसुरी गुणों का संबंध भी कुछ रात्रि एवं अंधकार से ही माना गया है। जब दिन का विभाग युग के संबंध से होता है तो रात्रि को तमोगुणवाले कलियुग से ही संबद्ध किया जाता है। मुख्य घटनाओं का तो कहना ही क्या, सुमंत जब लौटे हैं तब लज्जा के कारण उन्होंने दिन नगर से बाहर ही बिताया और रात होने पर ही नगर के भीतर प्रवेश किया है। वैदिक प्रार्थना भी यही है कि 'भगवन्! हमें अंधकार से प्रकाश में लाइए।' (तमसो मा ज्योतिर्गमय)।

घ—मानवी जीवन और आधिदैविक एवं आसुरी शक्तियाँ

कविवर शेक्सपियर के 'ओथेलो' और 'किंग लियर' नामक नाटकों में तो किसी अमानुषिक शक्ति का वर्णन नहीं है; हाँ, 'हैमलेट' में हैमलेट के प्रेत द्वारा वैसी शक्तियों की ओर संकेत अवश्य है। परंतु वहाँ भी केवल

धुँधली सी सूचना देने के अतिरिक्त हैमलेट के प्रेत ने कोई विशेष कार्य नहीं किया। आध्यात्मिक दैवी सत्ता के संबंध में भी हमारा अनुभव वहाँ बहुत धुँधला रह जाता है, क्योंकि कवि केवल इतना ही संकेत कर सका है कि कोई ऐसी आध्यात्मिक दैवी शक्ति है जो हमारे बिगड़े हुए कामों में से भी संसार-संचालन के निमित्त कुछ-न-कुछ उपकरण निकाल ही लेती है। 'देयर इज सम डिविनिटी दैट शेप्स अवर एंड्स' का 'सम' (=कोई) शब्द यह स्पष्ट बता रहा है कि उस सत्ता के अस्तित्व का निश्चित ज्ञान हमें नहीं है। हाँ, मैकबेथ में अवश्य जादूगरनियों (विचेज) का समावेश इस रूप में किया गया है कि संसार-संचालन का संबंध आसुरी शक्तियों से हो जाय। पर वहाँ भी दैवी शक्ति का पता नहीं लगता। मैंने उन जादूगरनियों को 'चुड़ैल' कहा है क्योंकि उनका चित्रण आसुरी शक्तियों की प्रतिनिधि के रूप में ही हुआ है। पर मैं ब्रैडले महोदय से इस विषय में सहमत हूँ कि उनमें आसुरी शक्तियों का विकास किसी बहुत बड़ी सीमा तक नहीं हुआ।

ब्रैडले महोदय की सम्मति में किसी आत्मा का पूर्ण पतन दिखाना ही दुःखांत नाटकीय कला का ध्येय है। दैवी शक्तियों के धुँधलेपन को वे इसी दृष्टि से देखते हैं। डा० मिलर का भी कथन है कि दुःखांत-नाटक में तो हमें केवल चेतावनी मिलती है, हमारे आत्मिक संघर्ष के निमित्त उत्साह तो कहीं और ही ढूँढनी पड़ेगा। यह कथन बहुत कुछ सच भी है और इसीलिये हम कविवर शेक्सपियर को अधिक दोष नहीं देते। फिर भी सोचने की बात यह है कि यदि शेक्सपियर कला के इस कृत्रिम विभाजन के फेर में न पड़ा होता तो स्यात् उसके दुःखांत नाटकों का इतना निराशाजनक प्रभाव पाश्चात्य जगत् पर न पड़ता। फिर दूसरा प्रश्न यह भी रह जाता है कि तब हमारे आत्मिक संघर्ष में उतना ही स्पष्ट उत्साह भी तो कहीं मिलना चाहिए जितना स्पष्ट बुराई का चित्रण दुःखांत नाटकों में मिलता है। यदि बुराई के प्रतीक यागो या मैकबेथ

का चित्रण विस्तार के साथ एक जगह किया गया है तो उसी विस्तार तथा पूर्णता के साथ अन्यत्र भलाई के प्रतीक का चित्र भी होना चाहिए। परंतु इसका आशाजनक उत्तर शेक्सपियर की कला में नहीं मिलता।

डा० मिलर ठीक लिखते हैं कि हमारे आत्मिक संघर्ष में या तो कहीं बाहर से सहायता मिलनी चाहिए या हमारी ही आत्मा इतनी सबल होनी चाहिए कि वह बुराई पर विजय पा ले नहीं तो वैसे संघर्ष का अंत नैराश्यपूर्ण ही होता है। तुलसीदासजी की कला संकुचित नहीं है और इसी कारण अयोध्याकांड में करुणरस का आधिक्य होते हुए भी नैराश्य का बाहुल्य नहीं है। वहाँ आत्मा की अधोगति का चित्रण है, परंतु उसके पूर्ण विनाश का भयानक दृश्य नहीं है। डा० मिलर बड़े गर्व से लिखते हैं कि शेक्सपियर की रचनाओं में बुराई का चित्रण उसकी आरंभिक अवस्था से लेकर घोरतम अवस्था तक—जिसमें वह हमारे आत्मिक तथा सामाजिक स्वास्थ्य पर विजय पा लेती है और फलतः हमारा विनाश हो जाता है—बड़ी मार्मिकता से अंकित किया गया है। उदाहरणार्थ 'मैकबेथ' में मैकबेथ की राज्यैषणा चुड़ैलों की भविष्यवाणी के संकेतों से उभारी गई है और अपनी स्त्री की सहानुभूति और कटाक्षों द्वारा वह इस प्रकार उत्तेजित किया गया है कि उसके हिचकते हुए हाथों ही राजा डंकन की हत्या कराई गई। परंतु इस हत्या के बाद मैकबेथ के आत्मा का पतन ही होता है और संसार की समस्त बुराइयाँ उसमें आ जाती हैं। कवि ने उसकी बाल-हत्या और व्यभिचार तक का उल्लेख किया है। हम भी इस काव्यमयी रोग-विवेचना की प्रशंसा करते हैं, परंतु हम आगे दिखाएँगे कि तुलसीदासजी की कला में ऐसी रोग-विवेचना भी वर्तमान है और साथ ही उसकी चिकित्सा भी।

महाकवि तुलसीदास ने कैकेयी की राज्यैषणा और कौशल्या के प्रति उसके सौतियाडाह का बहुत सुंदर चित्रण किया है। वहाँ भी मंथरा-द्वारा बुराई आई है और कैकेयी के स्वाभिमान, और

अलग-अलग रहने के स्वभाव के कारण उस बुराई को टिकने का सहारा मिल गया। कैकेयी में मस्तिष्क की प्रधानता के कारण ही परीक्षात्मक प्रेम था, स्वाभाविक प्रेम नहीं। बस, मंथरा को अवसर मिल गया। महाराज दशरथ की कमजोरी ने सहायता दी और अयोध्या की सारी करुणाजनक परिस्थिति हमारे सामने घोर आत्मिक रोग की भाँति उपस्थित हो गई। हम कई बार बुराई के फैलने की व्याख्या कर चुके हैं, अतः यहाँ इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त है। हाँ, चिकित्सा के संबंध में तनिक विस्तार से लिखना होगा। परंतु इसके पूर्व इतना कह देना आवश्यक है कि स्वाभाविक और विचारित भावों का अंतर शेक्सपियर ने भी लक्ष्य किया है। उदाहरणार्थ मैकबेथ की राज-भक्ति विचारित (कैलक्युलेटेड) थी और इसीलिये वहाँ बुराई को अव-सर मिल गया। परंतु बैंको की राजभक्ति स्वाभाविक (इंस्टिंक्टिव) थी, इसीलिये वह बुराई से बच गया। ठीक यही बात कैकेयी के परीक्षात्मक प्रेम के निमित्त भी कही जा सकती है। यदि कैकेयी का प्रेम स्वाभाविक होता तो मंथरा के षड्यंत्र को सफल होने का अवसर कदापि न मिलता। यह चिंतित प्रेम घर के भीतर हुआ, और गड़बड़ी मची।

ब्रैडले महोदय ने लिखा है कि साधारणतः ओथेलो और लियर में और विशेषतः मैकबेथ में बुराई पत्थर जैसी कड़ी और बरफ जैसी ठंढी अवस्था में नहीं है। उदाहरणार्थ उन्होंने यह बताया है कि लेडी मैकबेथ ने डंकन को केवल इसीलिये नहीं मारा कि उसकी आकृति उसके पिता से मिलती-जुलती थी। हमें तो उसकी निद्राचारिता और बड़बड़ाने में उसकी अंतरात्मा का पश्चाताप भी लक्षित होता है। परंतु आह, उस पश्चाताप को अधिक स्पष्ट होने के निमित्त कोई सहायता न मिली। वहाँ आत्मिक रोग की चिकित्सा के लिये भौतिक चिकित्सक बुलाया गया। अब कैकेयी को देखिए। उसका हृदय भी बहुत दृढ़ है सही, पर पत्थर का नहीं है। राजा की मृत्यु पर उसे शोक अवश्य हुआ और यद्यपि उसे भरत को

राज्य मिलने की आशा से इतना हर्ष है कि वह पुत्र-स्वागतार्थ आरती लेकर दौड़ती है, फिर भी राजा की मृत्यु का वृत्तांत कहते हुए उसकी आँखों से दो बूँद आँसू गिर ही जाते हैं। वह कहती है—

कछुक काज विधि बीच बिगारेउ, भूपति सुरपति-पुर पगु धारेउ।

आह अभी बुराई का इतना प्रभाव शेष है कि राजा की मृत्यु को 'कछुक काज' बिगड़ना ही कहा जाता है और राजा को मानो सुरपुर जाने का अवकाश मिलना बताया जाता है। फिर इसका दायित्व भी विधाता के सिर मढ़ दिया जाता है। ब्रैडले के शब्दों को उधार ले लें तो हम कहेंगे कि कैकेयी में बुराई है पर शैतानियत नहीं। उस बुराई का रूप भयानक अवश्य है परंतु इस भयानकता में कुछ उच्चता भी है। तुलसीदासजी की कला ने इन्हीं गुप्त भलाइयों में चिकित्सा की संभावना देखी है तथा भरत को एक आत्म-चिकित्सक के रूप में चित्रित किया है। भरत पर दृष्टि पड़ते ही कैकेयी ने दोष को किसी न किसी रूप में स्वीकार कर लिया। डा० मिलर ने कहा है कि यदि लेडी मैकबेथ ने 'दूसरा मार्ग ग्रहण किया होता' तो मैकबेथ के आत्मा का उतना पतन न होता। यहाँ मिलर महोदय ने आध्यात्मिक चिकित्सा की कुंजी ठीक पकड़ी है। रोगी यदि कुपथ्य माँगे तो चिकित्सक का यह धर्म नहीं है कि वही वस्तु दे दे। यह सिद्धांत स्वयं भगवान् ने नारद को भली-भाँति समझाया है और इसीलिये भरत ने अपनी माता की हाँ में हाँ नहीं मिलाई, प्रत्युत 'दूसरा ही मार्ग ग्रहण किया'। हैमलेट ने भी अपनी माता की हाँ में हाँ नहीं मिलाई, अपितु जैसा हम पहले कह चुके हैं, भरत की ही तरह उसने कटु-कटाक्षों का प्रयोग किया है। परंतु अंतर यह है कि हैमलेट की माता का आत्मा दुर्बल था अतः उसकी समझ में न आया कि बुराई का त्याग किस प्रकार करे। पर कैकेयी के आत्मा में बल था अतः उसकी आँख भरत की चेतावनियों से खुल गई। उसने

भरत के कटु कटाक्षों का उत्तर नहीं दिया और न किसी प्रकार की हठ की, प्रत्युत जब भरत राम को मनाने चित्रकूट चले तो वह भी चुपचाप संग हो ली । इस प्रकार भरत के साहाय्य से उसकी आत्मिक चिकित्सा का आरंभ हो गया । अब ज्यों-ज्यों कैकेयी की आत्मिक चिकित्सा होगी तथा अयोध्या के सामाजिक वातावरण में फैले हुए विष का नाश होगा त्यों-त्यों हमें अनुभव होगा कि भरत महाराज दशरथ के कथनानुसार कुल-दीप तो थे ही, वे आर्य सभ्यता के भी दीपक कहलाने योग्य थे । कैकेयी का भरत के पीछे हो लेना इस बात का द्योतक है कि उसे बुराई का अनुभव होना आरंभ हो गया है और इसीलिये हठ करने की अपेक्षा उसने अपने को भरत रूपी चिकित्सक के पूर्णतः अधीन कर दिया है ।

भरत की व्याख्या में गुरु वशिष्ठ ने कहा है—

बिस्व भरन पोषण कर जोई । ताकर नाम भरत अस होई ।

विचार करने की बात है कि पं० जवाहरलाल नेहरू जैसे आधुनिक नेता भी यह कहते हैं कि संसार में पालन-पोषण के लिये आवश्यक सामग्री की कमी नहीं, पर उसका विभाजन स्वार्थी पूँजीवादियों के अधीन है, इसीलिये गड़बड़ है । मानो एक प्रकार से वे यह मानते हैं कि दूसरे का अंश अन्याय से अपने अधीन कर रखना संसार के दुःखों का मूल कारण है । इसीलिये वैदिक ऋषियों ने कहा है 'मा गृधः', जिसका रूपांतर बाइबिल की 'लोभ न करो' (कवेट नाट) वाली कहावत है । इसीलिये भरत रूपी विश्वपोषण-सत्ता में इतना त्याग पाया जाता है । विचार करने पर पता चलेगा कि राजैषणा और सौतियाडाह इसी लोभ के परिणाम हैं और इन्हीं दोषों के परिहारार्थ भरतजी का अवतार हुआ । अस्तु ।

कैकेयी की चिकित्सा में बदनामी के कड़ुए घूँटों ने बड़ी सहायता दी क्योंकि मार्ग में ऋषियों के आश्रमों के अतिरिक्त शेष सभी स्थानों में उसे

अपनी बुराई ही सुनाई पड़ी। परंतु उसके आत्म-बल की बात यहाँ भी भूल न जानी चाहिए, क्योंकि ऐसी ही बदनामी का प्रभाव मैकबेथ पर ठीक इसका उलटा पड़ा था। वह बेहया हो गया और निर्दयता के साथ दुराचार आदि अवगुण उसमें और बढ़ गए। अंत में पश्चात्ताप का प्रभाव रानी कैकेयी में बहुत ही स्पष्ट हो गया जिसकी सहायता से कैकेयी के आत्मा का पुनरुद्धार हुआ। चित्रकूट में महाराज जनक के आगमन का वृत्त जानकर कैकेयी को बड़ी ग्लानि हुई। मैकबेथ के पश्चात्ताप का चित्रण इतना स्पष्ट नहीं है। उसकी स्त्री में भी वह केवल निद्रित अवस्था की बड़बड़ाहट तक ही सीमित है। मैकबेथ ने इतना अवश्य अनुभव किया कि दुष्ट शक्तियों ने उसे बहका दिया है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। मिलर महोदय का यह कथन बिलकुल ठीक है कि पश्चात्ताप की पहली सीढ़ी तब बनती जब मैकबेथ और लेडी मैकबेथ अन्याय से पाए हुए राज्य को त्याग देते। हैमलेट के चाचा ने यह बात स्पष्ट शब्दों में कही थी पर वह उसे कार्यान्वित न कर सका। मेरी समझ में इस व्याख्या से आधुनिक विचार-मर्मज्ञों पर भी स्पष्ट हो जायगा कि भरत ने अयोध्या के राज्य को अपने लिये विष-तुल्य क्यों कहा। अस्तु, यहाँ हमें कैकेयी के आत्मा की महानता भी स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती है। उसमें राजैष्णा और सौतियाडाह का परित्याग करने की शक्ति वर्तमान है, क्योंकि पश्चात्ताप होने पर वह भरत के किसी भी प्रस्ताव का विरोध नहीं करती। परंतु एक मार्मिक बात अभी बची रहती है। पश्चात्ताप में सोच और संकोच का होना आवश्यक है जिससे हृदय-कमल मुरझाया सा रहता है और आत्मा के आनंद का पूर्ण विकास नहीं होता। इसीलिये तो इस अंश की चिकित्सा के हेतु स्वयं सच्चिदानंद राम की आवश्यकता थी। कवि ने स्वयं लिखा है कि राम ने चित्रकूट में कैकेयी के प्रति ऐसा व्यवहार किया कि लौटते समय उसका सब सोच-संकोच मिट गया। परंतु स्मरण रहे कि अब भी चिकित्सा का फल नकारात्मक ही है जिसम

अयोध्या में रहकर १४ वर्ष तक 'सनेम' जीवनरूपी तप का भी अवकाश मिले। इसीलिये तो लंका से लौटकर कैकेयी को आनंदित करने के उद्देश्य से भगवान राम पहले उसी के प्रासाद में गए और उसे आश्वासन दिया। मानो व्यावहारिक रूप में वह यह व्यक्त कर रहे हैं कि यह सारी कीर्ति तेरे ही वरदानों का फल है।

यह तो हुई एक आत्मा के पतन तथा उद्धार की बात। परंतु मुख्य प्रश्न तो यह है कि संसार-संचालन संबंधी कार्य से अमानुषी शक्तियों का क्या संबंध है। मिलर महोदय लिखते हैं कि शेक्सपियर के दुःखांत नाटकों से यह प्रतीत होता है कि संसार की व्यवस्था में कुछ ऐसा तत्व विद्यमान है कि यदि बुराई को तनिक भी जगह दी गई तो दुःख एवं शोक स्वतः फैलता है, किसी बाह्य शक्ति के बीच में पड़ने की आवश्यकता नहीं रहती। डा० मिलर हमें क्षमा करें क्योंकि उनके इस सिद्धांत के अंतिम अंश से केवल हम ही नहीं, ब्रैडले जैसे आलोचक भी असहमत हैं। उनका कथन है कि 'प्रकृति में कोई ऐसी वस्तु कार्य कर रही है जिसे मानुषिक पाप तथा अमानुषिक द्वेष से सहानुभूति है।' हम आगे दिखाएँगे कि ये दोनों सिद्धांत एकदेशीय हैं और वास्तविक बात यह है कि प्रकृति जड़ है तथा जीव की चेतनता उसे जिस प्रयोग में लाती है, वैसी ही वह भी बन जाती है, इत्यादि। परंतु यहाँ हमें केवल इतना कहना है कि यदि भलाई के लिये किसी बाह्य शक्ति की सहायता नहीं ली गई तो फिर बुराई की सहायता के लिये चुड़ैलों इत्यादि के रूप में अमानुषिक द्वेष काम करता हुआ क्यों दिखाया जाता है? इसीलिये मैं ओथेलो और 'किंग लियर' को उतना बुरा नहीं समझता जितना 'मैकबेथ' को, क्योंकि इसमें अमानुषी द्वेष तो आरंभ से ही काम करता हुआ दिखाई देता है, परंतु कोई वैसी शक्ति भलाई की सहायता करती हुई नहीं दिखाई देती। मैकडफ की जीत हुई अवश्य, पर किसी अमानुषी शक्ति की सहायता से नहीं। इसलिये दुःखांत नाटकों का प्रभाव पाश्चात्य जगत्

पर नैराश्यात्मक ही पड़ा है। आज भी आसुरी शक्ति पर भरोसा करने के कारण विनाशक यंत्रों और सेनाओं की बाढ़ चारों ओर दिखाई देती है, परंतु ईश्वर का सच्चे हृदय से विश्वास करनेवाला बिरला ही कोई मिलता है। अब तुलसीदासजी का सिद्धांत देखिए। वह दैवी आदि-सत्ता को कल्याणकारी ही मानते हैं और इसीलिये उन्होंने 'राम' शब्द की व्याख्या 'सकल लोक सुखधाम' और 'अखिल लोक विश्राम' द्वारा की है। अब प्रश्न यह रह जाता है कि फिर बुराई आई कहाँ से? तुलसीदासजी का सिद्धांत है कि यह आत्म-अहंकार के बढ़ जाने का ही फल है, मानो बुराई का कोई अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। स्व० ठाकुर महोदय ने भी अपनी 'साधन' नामक पुस्तक में कुछ ऐसे ही विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि बुराई को भी अपनी सफलता के हेतु भलाई का ही कुछ न कुछ आश्रय लेना पड़ता है; जैसे डाकुओं का समूह औरों को भले ही लूटे, पर आपस में मैत्री का ही व्यवहार करता है। तुलसीदासजी की कला में रावण और मेघनाद इत्यादि को आसुरी तपों और यज्ञों के परिणाम-स्वरूप ऐसी अमानुषी-आसुरी शक्तियाँ मिली थीं जिनसे देवता भी काँपते थे। तब संसार के शक्ति-संतुलन को ठीक करने के लिये दैवी आदि सत्ता रामरूप में प्रगट हुई। तुलसीदासजी ने यह पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है कि रावण में बुराई केवल उसके आत्मा पर अहंकार के आवरण के रूप में ही थी, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् उसके आत्मा का तेज राम ही में लीन हो गया। यह ठीक है कि तनिक तनिक सी बातों पर वह आदि-सत्ता प्रकट नहीं होती, परंतु यदि वह कभी प्रकट ही न हो और संसार-संचालन में काम करती हुई दिखाई ही न पड़े तो फिर उसे माने ही कौन, और उसपर भरोसा ही कैसे हो? फिर यह बात भी तो है कि उस आदि-सत्ता का अनंत तत्व ही क्या, यदि वह भलाई के लिये छोटे से छोटे जीव की सहायता भी न करे? सर मुहम्मद इकबाल ने भी लिखा है—

कभी ऐ हकीकते मुंतजर नजर आ लिबासे मजाज में।
कि हजारों सजदे तड़प रहे हैं मेरी जबीने नयाज में ॥

अर्थात् ओ प्रतीक्षित आदि सत्ता! कभी तो भौतिक आवरण में हमारे दृष्टिगोचर हो, क्योंकि हमारे मत्थे में सहस्रों प्रणाम तेरे चरणों में अर्पित होने के लिये तड़प रहे हैं।

जैसा हम कई बार कह चुके हैं, अयोध्याकांड में तो बुराई केवल होमियोपैथिक दवा के रूप में सरस्वती द्वारा आई है। उसने पात्रों की बुराइयों को कुछ कुछ उभार कर बाहर निकाल फेंका, जिससे उनके आत्मिक स्वास्थ्य का संशोधन हो गया और उधर श्रुति के इस नियम का पालन भी हो गया कि--

कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस कीन्ह सो तस फल चाखा।

इस दृष्टिकोण से राजा दशरथ की मृत्यु एक शाप का परिणाम ही थी; पर दूसरे दृष्टिकोण से वह उन्हीं के वरदान माँगने का फल था, क्योंकि उन्होंने भगवद्भक्ति इस रूप में माँगी थी कि जब भगवान उनके पुत्र रूप में प्रकट हों तो उनके प्रति ऐसा मोह हो, कि मृत्यु भी वियोग में ही हो जाय--चाहे संसार कुछ भी कहे। मानो वह दर्द को भी दवा मानते थे। राम तो 'परमारथ रूप' अलिप्त थे ही, भरत की चिंता भी एक राम प्रेमी की ही चिंता है और अधिकांश में तो वह ऐसे आत्मिक चिकित्सक की चिंता सी है जो अपने चारों ओर किसी रोग को बढ़ते देख चिंतित होता है और उसके निवारण का भरसक प्रयत्न करता है। यम और नियम ही व्यक्तिगत तथा सामाजिक आत्मिक स्वास्थ्य के मूलाधार हैं और इसीलिये भरत ने अपने जीवन में केवल उनका प्रयोग ही नहीं किया अपितु उन्हें अयोध्या में फिर से स्थापित भी किया।

अधिक कवियों ने इस एक सिद्धांत का अवश्य पालन किया है कि हमारा आत्मा एक सीमा तक स्वतंत्र है इसलिये आमानुषी शक्तियाँ

आसुरी तथा दैवी काम को हमारी ही सम्मति के अनुसार कर सकती हैं। उदाहरणार्थ, जहाँ आसुरी संपत्ति कम से कम अप्रकट रूप में रहती है वहीं आसुरी माया चल सकती है। देखिए न, मैकबेथ पर चुड़ैलों का प्रभाव पड़ा पर बैंको पर नहीं। सरस्वती ने मंथरा की मति अवश्य फेर दी, पर जब भरत की मति फेरने को कहा गया तो उन्होंने यही कहा कि मैं असमर्थ हूँ। चित्रकूट में दैवी माया वशिष्ठ और जनक आदि को मोहित नहीं कर सकी। स्व० ठाकुर महोदय ने हमारे इस स्वतंत्रता-तत्व का बड़ी सुंदर काव्यमयी भाषा में वर्णन किया है। उनका कहना है कि भगवान सर्वशक्तिमान राजा रूप अवश्य हैं परंतु वे मर्यादा का इतना पालन करते हैं कि हमारे हृदय-द्वार पर प्रतीक्षा करते रहते हैं। पर यदि हम अपना हृदय-द्वार खोलकर स्वागत न करें तो वे बलपूर्वक भीतर आने की चेष्टा नहीं करते। उभय कवियों की कला में एक और तत्व भी स्पष्ट लक्षित होता है कि जब हमारा आत्मा तामसिक संस्कारों से कलुषित हो जाता है तो हमपर बहुधा अमानुषी चेतावनियों का भी कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। देखिए न, बैंको के प्रेत की चेतावनी निष्फल हो गई। इस चेतावनी की आलोचना करते हुए डा० मिलर ठीक कहते हैं कि जब मनुष्यों ने मूसा आदि पैगंबरों की बात न मानी तो यदि कोई व्यक्ति क़ब्र से उठकर आए और चेतावनी दे, तो भी वे क्या मानेंगे? इस दृष्टिकोण से हमारे जड़ीभूत आत्मा के लिये कड़ी ठोकर या मृत्यु के अतिरिक्त और कोई चिकित्सा ही शेष नहीं रहती। सच है, रावण ने तो अपने मस्तिष्क के विधि-लिखित अंक भी पढ़ लिए थे, फिर भी उसकी आँखें न खुलीं और उसने विधाता को ही वृद्ध समझ कर झूठा मान लिया। परंतु तुलसीदासजी के कथनानुसार रावण को अपने तामसिक आत्मा के जीर्ण रोग का ज्ञान था अतः उसने भगवान के हाथों अपनी मृत्युरूपी चिकित्सा का प्रबंध उनसे हठपूर्वक लड़ाई ठानकर स्वयं कर लिया। इन समानताओं के अंतर्गत वह

अंतर भी है जिसे हम कई बार बता चुके हैं, अर्थात् शेक्सपियर की कला में कवि के अप्रकट रहने के कारण हम भूलभुलैए में पड़ जाते हैं। आपने ऊपर अभी देखा है कि 'मैकबेथ' नाटक से मिलर एक सिद्धांत निकालते हैं और ब्रैडले उसके बिलकुल विपरीत। यह बात तुलसी-दास जी की कला में नहीं है, क्योंकि कवि स्वयं हमारा पथ-प्रदर्शक है। 'मैकबेथ' पढ़ने के बाद अधिकांश मनुष्यों के कानों में मैकबेथ की यह बात गूँजती रह जाती है कि संसार एक पागल की कही हुई कहानी है, और वे यह नहीं सोचते कि यह बात कवि ने ऐसे तामसिक अंध मनुष्य से कहलाई है जिसपर हमें विश्वास न करना चाहिए। क्योंकि अगर वह बात सच होती तो मैकडफ के रूप में धर्म की विजय न होती। पर भूल इस कारण होती है कि कवि ने स्वयं यह व्याख्या नहीं की। अयोध्याकांड में भी पहले यह अवश्य भासित होता है कि—

और करै अपराध कोउ, और पाव फल भोग।

परंतु ज्यों-यों रहस्योद्घाटन होता है त्यों-त्यों हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि—

को काहू को सुख दुख दाता। निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता॥

और चित्रकूट पहुँच कर तो हम शांति के उस शिखर पर पहुँच जाते हैं जहाँ दुःख तप रूप में परिवर्तित हो जाता है और अयोध्या का तप एवं त्याग संसार के भावी कल्याण का कुछ न कुछ आभास दे ही देता है।

ङ—चरित्रों की तुलना

अब हम अयोध्याकांड के चरित्रों की कुछ तुलना 'मैकबेथ' के चरित्रों से करेंगे। राजा दशरथ की सरलता और भरोसे की आदत डंकन से बहुत मिलती है। दोनों कवियों ने इन अंशों को बड़ी सुंदरता

से उभारा है और इसीलिये हमारी करुणा की सीमा नहीं रहती जब हम यह देखते हैं कि उनकी मृत्यु ऐसे ही व्यक्तियों द्वारा होती है जिनपर उन्हें सर्वाधिक भरोसा था। जैसी प्रसन्नता के साथ डंकन मैकबेथ के घर गया था वैसी ही प्रसन्नता के साथ दशरथ भी कैकेयी के कक्ष में जाते हैं। तुलसीदासजी लिखते हैं—

साँझ समय सानंद नृप गयउ कैकेई गेह।

और फिर स्वयं आलोचना करते हुए ऐसी सुंदरता से विरोधाभास का समावेश करते हैं कि हमें आगामी करुण परिस्थितियों का आभास हो जाय—

गवन निठुरता निकट किय जनु धरि देह सनेह।

महाराज दशरथ की व्याकुलता और विलाप का जैसा चित्रण तुलसीदासजी ने किया है उसकी कोई समता डंकन से नहीं हो सकती जिसकी मृत्यु कटार की एक ही चोट से हो गई। इसीलिये हम उसकी तुलना लियर की मृत्यु से करेंगे। इसका मूल कारण यही है कि 'मैकबेथ' में भयानक रस की बहुलता है, करुणरस उतना नहीं है।

लेडी मैकबेथ और मैकबेथ की तुलना कैकेई और मंथरा से करने के पूर्व यह बता देना आवश्यक है कि उनकी अलग-अलग तुलना नहीं हो सकती। अतः उन्हें एक-एक युग्म मान कर ही तुलना की जायगी क्योंकि इन युग्मों के पात्र प्रायः एक दूसरे के पूरक हैं। उदाहरणार्थ हत्या के पूर्व दृढ़ता की मूर्ति मैकबेथ है पर हत्या के पश्चात् मैकबेथ स्वयं पाप में दृढ़ हो जाता है और कुछ समय के बाद लेडी मैकबेथ रंगमंच से हट जाती है। पुनः जब वह आती भी है तो स्वप्न में घूमती और इस प्रकार बड़बड़ाती हुई कि हमें उसका पश्चात्ताप दृष्टिगोचर होता है और हमारी करुणा भी कुछ कुछ जागृत हो उठती है। पर वहाँ भी पाप की भयानकता अधिक है। इसी प्रकार कोपगृह में जाने के पहले मुख्य अभिनेत्री

मंथरा है और तदुपरांत कैकेयी स्वयं चतुरता और कठोरता की मूर्ति बन जाती है। मंथरा रंग-मंच से हट जाती है और यदि आती भी है तो कुछ ही देर के लिये उस समय जब शत्रुघ्न द्वारा उसे दंड मिलता है। उस समय उसके प्रति करुणा के साथ हमें घृणा भी होती है।

उभय कवियों ने बड़ी सुंदरता से यह दिखाया है कि राजैष्णा की मादकता में हम कैसा बुरा से बुरा पाप कर डालते हैं। उन्होंने अपने अपने युग्मों के पारस्परिक साहाय्य एवं संघर्ष का चित्रण भी बहुत अच्छा किया है, परंतु नाटकीय दृष्टि से राजैष्णा के निमित्त मंथरा की सहायता में अधिक निःस्वार्थ भाव है और जब वह यह कहती है कि—

कोउ नृप होइ हमहि का हानी। चेरी छोड़ि न होउब रानी।

तो उसका कथन बिलकुल झूठा नहीं जान पड़ता। आह, यही बात थी जिसने कैकेयी पर भी अपना प्रभाव डाला। यहाँ स्व० कविवर ठाकुर की वह उक्ति भी चरितार्थ होती है कि बुराई को भी अपनी सफलता के लिये भलाई की कुछ सहायता लेनी ही पड़ती है। यदि इतनी भी निःस्वार्थता मंथरा में न दिखाई पड़ती तो कैकेयी उसके फेर में स्यात् न पड़ती। लेडी मैकबेथ के आलोचक भी इस बात पर जोर देते हैं कि उसने जो कुछ किया अपने पति के लिये ही किया, और बहुतेरे तो उसकी पतिपरायणता की प्रशंसा भी कैर डालते हैं। परंतु भारतवर्ष के नैतिक वातावरण में हमें तो यह बात निस्सार सी ही जान पड़ती है। हम तो तारा और मंदोदरी की पति-भक्ति को अधिक प्रशंसनीय समझते हैं जिन्होंने पति से मुँह नहीं मोड़ा परंतु उन्हें चेतावनियाँ देने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी। कैकेयी ने मंथरा से कहा था कि यदि भरत राजा हुए तो वह 'चखपूतरि आली' बनाई जायगी। अतएव इस षड्यंत्र में मंथरा का किंचित् भी स्वार्थ न था, ऐसा समझना ठीक न होगा। वस्तुतः एक चेरी की ऐष्णा इससे अधिक और क्या होती?

परिणाम की चिंता न कर बुरे संकल्प के प्रति दृढ़ता यद्यपि उभय युग्मों में पाई जाती है, तथापि कैकेयी की दृढ़ता बहुत बढ़ी-चढ़ी है जैसा कि नीचे की कुछ व्याख्या से ज्ञात होगा। जब ब्रैडले महोदय लेडी मैकबेथ की दृढ़ता को अमानुषिक कहते हैं तो हमें महाराज दशरथ की उक्ति का स्मरण हो आता है। उन्होंने भी कैकेयी के संबंध में यही कहा है कि मेरा काल तुझे पिशाच होकर लगा है। मैकबेथ में फिर भी एक तीसरे व्यक्ति की हत्या का प्रश्न उठा पर कैकेयी के सामने तो स्वयं उसका पति तड़पता और विलाप करता था। कठोरता इतनी प्रबल है कि तड़पते हुए पति के निमित्त भी कटु वाक्य ही निकले हैं। उदाहरणार्थ—

हमहिं न बहुत प्रपंच सुहाहीं।
जनि अबला इव करुणा करहू।
दुइ कि होहिं इक संग भुवालू।
हँसब ठठाइ फुलाउब गालू॥

लेडी मैकबेथ के व्यंगों की तुलना यदि मंथरा के व्यंगों से की जाय तो असंगत न होगा, क्योंकि मंथरा के व्यंगों से ही प्रभावित होकर कैकेयी में वह दृढ़ता आई जिसके कारण तड़पते हुए पति के प्रति भी उसका हृदय नहीं पसीजा। दूसरी ओर लेडी मैकबेथ के व्यंग-वाक्यों ने अंततः मैकबेथ के हाथों डंकन की हत्या करा ही दी और फिर उसे पापाचरण में ऐसा दृढ़ बना दिया कि करुणा की कहीं गुंजाइश ही न रही। यहाँ तक तो हुई कुसंकल्प की दृढ़ता की बात, अब तनिक शुभ संकल्प की दृढ़ता भी देखिए।

महाराज दशरथ का संकल्प भी कम दृढ़ नहीं। एक बार वचन देकर उन्होंने उसे फिर लौटाया नहीं, यद्यपि उन्हें सत्य की वेदी पर राम-त्याग रूपी बलिदान करना पड़ा और प्रेम की वेदी पर अपने प्राणों का भी। जो लोग राजा के विलाप और तड़पन के समय कहे हुए शब्दों

पर कटु कटाक्ष करते हैं वे उनका चरित्र समझने में अवश्य भूल करते हैं। आह, राजा की तड़प इसी कारण है कि वे अपने सत्संकल्प को वापस नहीं ले सकते, अन्यथा इसी पर निपटारा हो जाता कि राम-वनवासवाला वरदान नहीं दिया जा सकता। हाँ, सत्य और स्नेह के संघर्ष में उनकी जो करुणाजनक अवस्था है वह एक सन्निपाती मनुष्य की सी है। पर सोचिए तो सही कि उन्होंने सुमंत से चार दिन जंगल में घुमाकर लौट आने को कहा और सूर्य भगवान से मूक प्रार्थना भी की कि राम-वियोगवाला प्रभात ही न हो। अंत में यह भी कहा कि मुझे वहाँ पहुँचा दो जहाँ राम वन में हैं, पर यह कभी न कहा कि राम को वन से लौटा लाओ। इससे स्पष्ट है कि रोग ने उन्हें व्याकुल भले ही कर दिया हो पर उसने सत्य पर विजय नहीं पाई। इस दृष्टि से परिस्थिति का आलोचन भगवान राम के मुख से चित्रकूट में स्पष्ट करा दिया गया कि पिता ने सत्य के कारण मुझे छोड़ा, तो मेरे प्रेम के कारण अपना शरीर ही त्याग दिया!

मैकबेथ और कैकेयी में एक और समानता है। दोनों में उन व्यक्तियों के प्रति प्रेम था जिनकी मृत्यु का कारण उन्हें बनना पड़ा। तीसरी समानता यह भी है कि दोनों स्वभावतः दयालु प्रकृति वाले थे। लेडी मैकबेथ ने इसी दयालुता को कायरता कहा है। मंथरा भी यह भली भाँति जानती थी कि कैकेयी में राम के प्रति प्रेम है और वह यह भी समझती थी कि कैकेयी कुल-रीति के कारण राम को भरत पर प्रधानता देगी और इसीलिये उसने राजैष्णा के साथ सौतियाडाह को भी उत्तेजित किया। इसीलिये तुलसीदासजी की कला में वह बात बन पड़ी है जिसके कारण कैकेयी की तुलना एक ओर ओथेलो से और दूसरी ओर मैकबेथ तथा लेडी मैकबेथ से हो सकी।

उभय कवियों ने अपने अपने युग्मों में से एक को विचारेच्छु (कैलक्युलेटिंग) और व्यवहार-कुशल रखा है और दूसरे को भाव तथा

कल्पना-प्रधान (इमोशनल ऐंड इमैजिनेटिव)। हाँ, इतना अंतर अवश्य है कि कैकेयी बिलकुल विचारशून्य न थी। इसीलिये मंथरा को थोड़ी कठिनाई पड़ी। परंतु कैकेयी में भाव और कल्पना की ही प्रधानता थी। अतः इन्हीं दोनों को मंथरा ने उत्तेजित किया और इसीलिये उसने भविष्य का भयानक चित्र कैकेयी के सामने बड़ी चतुरता से रक्खा। उदाहरणार्थ—

भामिनि भयउ दूध की माखी।

भरत वंदि गृह सेइहैं, लखन राम कर नेव।

ब्रैडले ने लिखा है कि यागो तथा एडमंड में विचार-प्रवणता इतनी प्रधान थी कि उनके लिये मनुष्य केवल साधक या बाधक यंत्रों के ही समान थे। यही बात मंथरा के संबंध में भी कही जा सकती है। जब उसने एक बार षड्यंत्र की रचना कर ली तो फिर उसे राम के दंड तथा राजा और कौशल्या के दुःख का कुछ भी ध्यान न रहा, क्योंकि भरत की राज्य-प्राप्ति के मार्ग में जो भी कंटक हों उन सबको निकाल डालना उसे इष्ट था। व्यवहार-कुशलता का तो कहना ही क्या। हम पहले ही विस्तार से लिख चुके हैं और यहाँ केवल स्मरण दिलाना चाहते हैं कि यह चेतावनी कि जब तक राजा दशरथ राम की शपथ न लें तब तक उनका विश्वास न करना, और यह भी कह देना कि आज रात बीती और सब कुछ गड़बड़ हुआ, इत्यादि, इसी व्यवहार-कुशलता के उदाहरण हैं। इस कुभाव का ऐसा प्रभाव पड़ा कि कैकेयी में भी वे सभी गुण उत्पन्न हो गए। एक बार राजा को अपने वश में पाकर वह हँसती और हाव-भाव भी करती है। इसी को कवि ने उस प्रसंग में अलंकार-धारण की उपमा देते हुए कहा है कि मानो किरातिन फंदा तैयार कर रही है। विलक्षण चतुराई है। इसी व्यवहार-कुशलता का एक उदाहरण और देखिए। जब राम, लक्ष्मण और सीता विदा माँगने के हेतु राजा

के पास गए तो पारस्परिक प्रेम के कारण आज्ञा-प्राप्ति का क्रम आगे चलता ही न था। व्यवहार-कुशल कैकेयी तत्काल कार्य आरंभ कर देती है। कवि लिखता है—

मुनि पट भूषण आज न आनी। आगे धरि बोली मृदुबानी ॥
नृपहि प्राण प्रिय तुम रघुबीरा। सील सनेह न छाँहहिं भीरा ॥
सुकृति सुयश परलोक नसाऊ। तुमहिं जान वन कहहिं न राऊ ॥
असि विचारि सोइ करहु जो भावा।.........

एक बार संकल्प के दृढ़ हो जाने के बाद कैकेयी को भी दशरथ, राम, कौशल्या आदि साधक या बाधक यंत्र के समान ही लगते हैं, यहाँ तक कि राजा की मृत्यु के पश्चात् भी उसे साधारण शोक तक होता हुआ प्रतीत नहीं होता। जब राजा के संबंध में भरत ने पूछा तो उस समय जो आँसू कैकेयी की आँखों में आए, उनकी व्याख्या करते हुए कवि ने लिखा है—

सुनि सुत बचन सनेहमय, कपट नीर भरि नैन।
भरत श्रवण मन शूल सम, पापिनि बोली बैन ॥

मानों वह आँसू भी कपट के आँसू थे। यहाँ मैं प्रिय पाठकों से इतना कहे बिना नहीं रह सकता कि मैं कवि की इतनी कठोर आलोचना से सहमत नहीं हूँ, क्योंकि यदि राजा की मृत्यु से कैकेयी बिलकुल प्रभावित ही न हुई होती तो इतनी जल्दी भरत के प्रस्तावों के साथ मूक सहानुभूति भी उत्पन्न न हुई होती। हाँ, कवि का चित्र अवश्य ठीक है कि केवल आँखों में आँसू भरकर बातें करना आरंभ किया। बातें ऐसी थीं जिनमें अपनी प्रशंसा और विधाता पर लांछन आदि था। इतने से ही हम उसे 'कपट' नहीं कह सकते। हाँ, यह अवश्य कहेंगे कि उसका शोक उचित से कहीं कम था और वह भी अहंकार और कल्पित हर्ष से

लिप्त। इसी अवगुण का रूपांतर हमें तब मिलता है जब राजा के वास्तविक शोक की व्याख्या कैकेयी इन शब्दों में करती है—

मोहिं न बहुत प्रपंच सुहाहीं।

मानों संसार उसे एक यंत्र सा जान पड़ता है और वह चाहती है कि मनुष्य मात्र उसी के स्वार्थ-गणना के अनुपात से तौल में रत्ती-रत्ती ठीक काम करते दिखाई पड़ें और सहृदयता, भावुकता तथा कल्पना संसार से एकदम विदा हो जायँ। दशरथ हों या राम, सब उसकी उँगली के इशारे पर नाचें। इसी अवगुण को शेक्सपियर के आलोचकों ने लेडी मैकबेथ की चरित-व्याख्या करते हुए अक्षरानुकूलता (लिटरलनेस) कहा है। पर स्मरण रहे कि यह बात उभय चरित्रों में केवल बाह्य रूप में ही है, अन्यथा न तो कैकेयी यह कहती कि—

दिन प्रति देखहुँ रात कुसपने।

और न लेडी मैकबेथ में स्वप्नावस्था में घूमने और बड़बड़ानेवाली बात ही होती। यह अवगुण यागो और मंथरा में अवश्य ही अधिक मिलता है। शेक्सपियर की रचना में लेडी मैकबेथ के पश्चात्ताप का स्वप्नावस्थावाला दृश्य एक अनुपम वस्तु है। जी० बी० हैरिसन ने उसकी व्याख्या करते हुए ठीक ही कहा है कि वहाँ हमें अति पीड़ित आत्मा की गहरी वेदना का चित्र दिखाई पड़ता है। महाराज दशरथ के शोकपूर्ण विलाप में यही वेदना वियोग-दुःख-मिश्रित होकर बड़े करुणा-जनक रूप में दिखाई देती है। लेडी मैकबेथ में वह केवल स्वप्नावस्था तक ही परिमित है, इसीलिये उसके आत्मा का उद्धार नहीं हुआ। पर दशरथजी में शोक एवं पश्चात्ताप जाग्रतावस्था में है इसीलिये वे उनके आत्मा के सुधार के कारण बने।

जहाँ एक ओर तुलसीदासजी ने कैकेयी के प्रति राजा दशरथ के प्रेम को 'काम-कौतुक' कहा है और मानो इस प्रकार मायारूपी नारी का

प्रभाव चित्रित किया है, वहाँ दूसरी ओर महाराज के प्रति प्रेम तथा सत्यप्रियता की व्याख्या भी की है। इसीलिये चित्र एकपक्षीय नहीं, अपितु उसमें भलाई और बुराई दोनों हैं।

एक अंश की तुलना के हेतु हमें अयोध्याकांड से बाहर जाना पड़ेगा। लेडी मैकबेथ के निमित्त कहा जाता है कि उसमें अहंकार इतना अधिक था कि उसने स्पष्ट पश्चात्ताप कभी नहीं किया। और मैकबेथ के संबंध में भी यह कहा जाता है कि उसने अपनी हार कभी नहीं मानी। कुछ समानता तो अयोध्याकांड में भी है, क्योंकि कैकेयी के पश्चात्ताप ने शाब्दिक रूप कहीं धारण नहीं किया पर उसके हृदय की ग्लानि तथा उसका क्रियात्मक पश्चात्ताप शब्दों से कहीं अधिक स्पष्ट है। फिर मंथरा ने तो कभी यह अनुभव ही नहीं किया कि उसने क्या बिगाड़ा। जिस समय शत्रुघ्नजी ने उसे ताड़ना दी उस समय भी उसने यही कहा कि—

आह दई मैं काह बिगारा।

परंतु वस्तुतः मैकबेथ की आसुरी संपत्ति की तुलना की यथोचित सामग्री लंका-कांड में मिलेगी, जहाँ मरते-मरते भी रावण ने कहा है कि—

कहाँ राम रण हतौं प्रचारी।

शेक्सपियर के आलोचक इसीलिये तो कहते हैं कि यागो, मैकबेथ, गानरिल और रिचर्ड के चरित केवल मानुषिक ही नहीं, बल्कि उनमें दानवता है। हमारी समझ में तो यही कारण है कि अयोध्याकांड में पात्रों का सुधार हो गया और लंकाकांड तथा शेक्सपियर कृत दुःखांत नाटकों में अधिकतर विनाश ही हुआ।

यह प्रश्न अवश्य उठ सकता है कि तुलसीदासजी ने आसुरी संपत्ति का इतना विवेचनामय तथा विस्तारपूर्ण वर्णन क्यों नहीं किया जितना

दैवी संपत्ति का। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि वे त्रेता युग का वर्णन कर रहे हैं जिसमें दैवी संपत्ति ही प्रधान है। पर उनका मुख्य उत्तर दूसरा ही है जिसका उल्लेख उन्होंने लंकाकांड के आरंभ में अपने भक्ति-रस के दृष्टिकोण से किया है और हमें स्पष्ट बता दिया है कि उन्होंने जान-बूझकर राक्षसों की कथा को 'संक्षेप' में कहा है। ठीक भी है। बुराई की बहुत व्याख्या करना अच्छा नहीं। हाँ, उतनी व्याख्या अवश्य होनी चाहिए कि डा० मिलर के शब्दों में उससे हमें चेतावनी मिल जाय। सो इतने के लिये तो तुलसीदासजी ने भरपूर सामग्री एकत्र कर दी है।

च—परिणाम

मिलर महोदय लिखते हैं कि 'जान पड़ता है अब शेक्सपियर को कुछ कुछ संसार-संचालन के सिद्धांतों की भूलभुलैया और संसार के उद्देश्य का हल मिल सा गया है। और यह हल उसे उस समय मिला जब वह संसार की असर्यादित वासनाओं, भयानक स्वार्थ और विस्तृत विनाश पर विचार कर रहा था जिसमें कार्डेलिया का प्रेम और बलिदान ही कुछ सुधार कर सका।' हमें तो इसमें कलियुग की व्याख्या अवश्य मिलती है, परंतु सृष्टि-रचना का सिद्धांत यदि यही है तो उसकी संचालन-सत्ता को 'गॉड' (शिव = गुड) कदापि नहीं कहा जा सकता। और फिर 'जान पड़ता है' से स्पष्ट है कि मिलर महोदय को भी स्वयं विश्वास नहीं कि इतना भी ठीक है या नहीं।

यह सच है कि अयोध्याकांड के प्रारंभ में हमें यही ज्ञात होता है कि—

> और करैं अपराध कोउ और पाव फल भोग।

और अयोध्या की दशा भी ऐसी भयानक प्रतीत होती है कि—

घोर जंतु सम पुर नर नारी।
डरपहिं एकहिं एक निहारी ।।

परंतु थोड़ी ही देर बाद करुण और भयानक रसों की रगड़ से हमारा आत्मा सुधरने लगता है और हमें यह दिखाई पड़ने लगता है कि प्रत्येक व्यक्ति 'निजकृत कर्म' ही भोगता है। उसके बाद भरत और राम के त्याग एवं तप, सीता और लक्ष्मण की स्वामिभक्ति, कौशल्या का मातृ-प्रेम, प्रजा की राज-भक्ति, वशिष्ठ, जनक और सुमंत की नैतिक बुद्धिमानी से बुराई पर भलाई की विजय ही होती है और हमें प्रतीत होता है कि सृष्टि-रचना का मूल सिद्धांत कल्याणकारी सत्य (सत्यं शिवं) है। हाँ, करुणरस-प्रधान प्रसंग के कारण आनंदमय 'सुंदरम्' तत्व तनिक दूर है। परंतु अयोध्या के यम-नियम-मय चौदह वर्षों के वियोगरूपी तप में शांति अवश्य आ गई है। मंथरा ताड़ना से और कैकेयी पश्चात्ताप से सुधर चुकी, मानो राम-राज्य के आंतरिक संचालन का प्रबंध हो गया और बस अब यही विलंब है कि राक्षस रूपी उसके बाहरी शत्रुओं का नाश हो और तब राम-राज्य की स्थापना संपूर्ण रूप में हो जाय और वह आनंदमय 'सुंदरम्' तत्व भी हमें ज्ञात होने लगे। मेरी यह आलोचना भी एकदेशीय है। तुलसीदासजी के विशाल हृदय में रावण और कुंभकर्ण भी शिव के ही गण हैं, जिन्हें शापवश राक्षस रूप मिला है। वे किसी समय विष्णु के द्वारपाल थे अतः रामावतार का एक उद्देश्य उनका उद्धार भी था। इसीलिये जब रावण का तामसी शरीर छूटा और वह शाप से मुक्त हुआ तो उसका तेज प्रत्यक्ष ही राम में लीन होता दिखाई पड़ा। धन्य हैं राम जो 'अखिल लोक सुखधाम' और 'सकल लोक विश्राम' हैं।

जब हम रामचरितमानस समाप्त करते हैं तो डा० मिलराँ की भति द्विविधा और संदेह हमें नहीं रहता, प्रत्युत--

निज प्रभुमय देखहुँ जगत का सन करहुँ बिरोध ।

मानो द्वेष केवल परिमित वृत्ति है और संसार का मूल सिद्धांत केवल प्रेम ही है। प्रेम का ऊषाकालीन दृश्य तो हमें अयोध्याकांड के अंत में ही दृष्टिगोचर होने लगता है।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५	१४	बातों	नाटकों
५०	१८	गई बीती है	गई बीती नहीं है
६७	२३	बाल	बाह्य
८६	२३	कैकेयी	कौशिल्याजी
८७	८	कद्र	केंद्र
११२	१५	पति	द्युति
१८५	२०	छूटि	धूटि
१८७	८	कहीं	नहीं
१९२	८	राक्षस	राजस
१९४	१४	करगे	करेंगे
२११	९	मंथरा में	मंथरा से
,,	१२	प्रम	प्रेम
२१५	९	राज्ञी	रानी
२२०	२२	कैकेई	मंथरा
२४१	२१	मादको	मोदकों
२५५	२	मिलर	मिल्टन
२५६	७	थे वे तब	थे तब
२६१	२५	योग	भोग (दंड)
२७२	अंतिम	जिसम	जिसमें
२७५	१७	भी	ही

श्री रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रंथमाला

की

पुस्तकें.

१—रामविलासपोद्दार

जीवनरेखा और स्मृतियाँ, पृष्ठ सं० ३२०

मूल्य २।), सभा से अप्राप्य।

२—संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग

लेखक—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

इस ग्रंथ मे काव्यशास्त्र के सुप्रसिद्ध रीति ग्रंथों एवं उनके प्रणेताओं के परिचय तथा काल निर्णय के संबंध मे ऐतिहासिक निरूपण किया गया है। पृष्ठ सं० २२४ मूल्य १।), सजिल्द।

३—संस्कृत साहित्य का इतिहास, द्वितीय भाग।

लेखक—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार।

इस ग्रंथ मे काव्य-ग्रंथो के विषय, काव्य के प्रयोजन, काव्य के हेतु एवं काव्य के लक्षण आदि पर विभिन्न आचार्यों के मतो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और काव्य के पंच सिद्धांत—रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि का स्पष्टीकरण तथा इनके पाँचो संप्रदायो का आलोचनात्मक विवेचन कर उनका रहस्योद्घाटन किया गया है। पृष्ठ सं० २१४, मूल्य १।)

४—अमर जीवन की ओर

अनुवादक—शिवप्रसादसिंह विश्वेन

इस ग्रंथ-रत्न में प्रकृति से स्फूर्ति प्राप्तकर अपने जीवन को उन्नत तथा महान् बनाने का मार्ग दिखलाया गया है। आधुनिक युग के कृत्रिम तथा स्वार्थपूर्ण वातावरण को हटाने में पुस्तक अत्यंत उपादेय सिद्ध हुई है। पृष्ठ सं० १२० के लगभग, सजिल्द, दाम १।)

५—विश्व-साहित्य में रामचरितमानस—(पहला भाग)

लेखक—श्री राजबहादुर लमगोड़ा, एम० ए०, एल० एल० बी०

पुस्तक आपके हाथ में है। विद्वान् लेखक ने इसमें विभिन्न लेखों के अंतर्गत विश्वसाहित्य में श्रेष्ठतम समझे जानेवाले शेक्सपियर के नाटकों से गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस की विशद रूप से तुलना करके उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। इस पहले भाग में शेक्सपियर के हैमलेट, ओथेलो तथा मैकबेथ से मानस की तुलना हुई है। शेक्स-पियर कृत अन्य विशिष्ट रचनाओं से उसकी तुलना इस पुस्तक के दूसरे भाग में होगी। पहले भाग की पृष्ठ संख्या लगभग ३००, मूल्य १॥)